भारतीय दर्शन का इतिहास

(Bhartiya Darshan ka Itihas)

भाग–५

लेखक

डॉ० एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

सुश्री पी० मिश्रा



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रथम अनुदित संस्करण १९७८

मूल्य १०.००

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-३०२००४

मुद्रक
शर्मा ब्रदर्स इलक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर

प्रस्तावना

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अब तक हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के लगभग १५० पाठ्य और सन्दर्भ ग्रन्थ प्रस्तुत कर चुकी है। अधिकांश में समीक्षकों ने इन ग्रन्थों की पर्याप्त प्रशंसा की है। इससे हमारा कृतार्थ अनुभव करना स्वाभाविक ही है यद्यपि हम अपनी उन त्रुटियों के सम्बन्ध में भी, जो हमारे प्रयत्नों के बावजूद रह गयी हैं, अवगत हैं।

दासगुप्ता का भारतीय दर्शन का इतिहास एक ऐसा सन्दर्भ है जो वर्षों पुराना होने पर भी आज तक बराबर अद्वितीय बना हुआ है। इसके पश्चात भारतीय दर्शन के इतिहास पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, उनमें कुछ बहुत अच्छे भी हैं किन्तु पाण्डित्य की जो महिमा हमें इस ग्रन्थ में देखने को मिलती है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। भारतीय दर्शन के स्रोत ग्रन्थ के रूप में इसका महत्त्व आज तक अद्वितीय बना हुआ है।

भारतीय दर्शन एक अत्यधिक विशिष्ट अनुभव गम्भीर और विचार परिप्लुत दर्शन है। दुर्भाग्यवश विगत पाँच छः शताब्दियों से इसकी धारा निरंतर क्षीण होती चली गयी है। यद्यपि यह धारा लुप्त कभी भी नहीं हुई, किन्तु अंग्रेजी राज्य में हमारे अभिजात वर्गों के आंग्लोन्मुखी हो जाने के कारण इसका विकास प्रायः अवरुद्ध हो गया। इस वर्ग के लिए भारतीय दर्शन इतिहास का विषय हो गया। किन्तु तब भी, इतिहास अब एक मात्र कड़ी था जो कम से कम इस वर्ग के लिए वर्तमान को अतीत से जोड़े रख रहा था। यह स्थिति आज भी समाप्त नहीं हुई है। इसलिए ऐसे ग्रन्थ का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

हिन्दी के राष्ट्र भाषा हो जाने के पश्चात् ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद नितांत आवश्यक था। यद्यपि अपेक्षित यह है कि हिन्दी में इससे भी उच्च कोटि का एक मौलिक इतिहास-ग्रन्थ लिखा जाय जो इस ग्रन्थ के अनुकरणीय पाण्डित्य के साथ हमारी भारतीय दर्शन विषयक विकसित अन्तर्दृष्टि को समन्वित करे।

खेतसिंह राठौड़
शिक्षा मन्त्री राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

शिवनाथसिंह
निदेशक

विषय-सूची



अध्याय–३४

दक्षिणी शैव मत का साहित्य

	पृष्ठ
१ दक्षिणी शैव मत का साहित्य तथा इतिहास	१
२ आगम साहित्य तथा उसका दार्शनिक स्वरूप	१६
३ शिव ज्ञान बोध–लेखक मेयकण्डेव	२३
४ मातंग परमेश्वर तन्त्र	२७
५ पौष्करागम	२८
६ वातुलागम	३६
७ वातुल तन्त्रम	३७

अध्याय–३५

वीर शैव मत

१ वीर शैव मत का इतिहास तथा साहित्य	४०
२ मायिदेव का अनुभव सूत्र	५७

अध्याय–३६

श्रीकंठ का दर्शन

१ श्रीकंठ की ब्रह्मसूत्र पर टीका तथा उस पर अप्पयदीक्षित की उपटीका में श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित शैवमत का दर्शन परिचय	६२
२ ब्रह्मन् का स्वरूप	७३
३ नैतिक उत्तरदायित्व तथा ईश्वर का अनुग्रह	८०

अध्याय–३७

पुराणो मे शव दशन

१	शिव महापुराण मे शैव दशन	९१
२	शिव महापुराण की वायवीय सहिता म शव दशन	१००

अध्याय–३८

शव दशन के कुछ महत्त्वपूण ग्र थ

१	पाशुपत सूत्रा का सिद्धा त	१२२
२	तिरवाचक मे माणिक्कवाचकर के शव विचार	१४०
३	माणिक्कवाचकर तथा शव सिद्धा त	१४५
४	भोज तथा उसके टीकाकारो के अनुसार शव दशन	१५०
५	वीर शव मत के मूलाधार श्रीकर भाष्य म श्रीपति पडित के वेदा त सिद्धान्त	१६३

अध्याय ३४

दक्षिणी शैव मत का साहित्य

दक्षिणी शैव मत का साहित्य तथा इतिहास

संस्कृत के दर्शन साहित्य में शैव मत का सर्वप्रथम उल्लेख हम शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) के ब्रह्मसूत्र २ २ ३७ पर एक भाष्य में मिलता है। इस सूत्र पर अपनी टीका में शंकर ने "सिद्धान्त" नामक ग्रंथों के मतों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये भगवान् महेश्वर द्वारा लिखे गये थे। श्रुति की शिक्षाओं की विलक्षणता यह है कि उन्होंने ईश्वर को संसार का निमित्त कारण ही माना है। शंकर ने इसमें तथा अन्य स्थानों में इस विचारधारा के समर्थकों को ईश्वर कारणीन कहा है। विभिन्न सिद्धान्त-सम्प्रदायों के अनुसार यदि शिव अथवा ईश्वर संसार के निमित्त तथा उपादान कारण दोनों ही समझे जाते तब उपर्युक्त सूत्र की प्रस्तावना का कोई अर्थ ही नहीं होता क्योंकि शंकर के मतानुसार भी ईश्वर संसार का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर का संकेत यहां पाशुपत प्रणाली के लिए है जो पांच पदार्थों जैसे, कारण कार्य, योग, विधि तथा दुखान्त का निरूपण करता है।[१] उनके अनुसार इस प्रणाली का भी यह मत है कि पशुपति (ईश्वर) संसार का निमित्त कारण है। इस मतानुसार नैयायिक तथा वैशेषिक भी ईश्वर के लिए कारणता का उसी प्रकार का सम्बन्ध बताते हैं तथा उसी प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं जैसे कि कारण का कार्य से अनुमान।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०) शंकर के भाष्य पर अपनी टीका में कहते हैं कि महेश्वर में शैव पाशुपत कारुणिक सिद्धान्तिक तथा कापालिक सम्मिलित हैं। चौदहवीं शताब्दी के माधव ने शैवों का वर्णन नकुलीश पाशुपत के रूप में किया है जो अन्य स्थानों में लाकुलीश पाशुपत अथवा लकुलीश पाशुपत वर्णित है तथा उनकी व्याख्या प्रस्तुत रचना के अन्य भागों में की जा चुकी है। माधव ने शैव दर्शन का भी वर्णन किया है जिसमें उन्होंने शैवागम तथा उसके समान साहित्य में प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों को निर्धारित किया है। इसके अतिरिक्त उनका एक प्रकरण प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर भी है जो कि सामान्यतः काश्मीर शैव मत कहलाता है। इस प्रणाली का निरूपण प्रस्तुत भाग में भी किया जायगा। वाचस्पति कारुणिक सिद्धान्तों तथा कापालिकों का

---

[१] इस प्रणाली की रूपरेखा पहले ही अन्य भाग में पाशुपत शास्त्र के अन्तर्गत आ चुकी है।

उल्लेख करते है। रामानुज ब्रह्मसूत्र २ २ ३७ पर अपने भाष्य म कापालिक तथा कालमुख के नाम का वणन वेद विरोधी (चरित्र) शव पथी के रूप म करते हैं। कि तु कठिन प्रयत्नो के उपरा त भी, मैं ऐसा कोई प्रकाशित अथवा अप्रकाशित मूल ग्र थ खोजने म असमथ रहा हूँ जिसमे उनकी विचार प्रणालियो के विशेष लक्षणो का वणन है। कापालिक के विषय म कुछ उल्लेख हमे साहित्य मे, जैसे भवभूति (ई० ७०० ८००) के मालती माधव तथा पुराण म भी मिलत हैं। शकर के सम कालीन तथा जीवनी लेखक आन दगिरि शवो के विभिन्न पथो के साथ साथ उनके शरीर पर विभिन्न चिह्न तथा लक्षणो एव परस्पर विभिन्नता लाने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख करते हैं। उ होने कापालिको के दो सम्प्रदायो का भी उल्लेख किया है एक ब्राह्मणीय तथा दूसरा अब्राह्मणीय। अथववेद म हम व्रात्यो के विषय मे भी सुनत हैं जो रुद्र के भक्त थे। स्पष्ट है कि व्रात्य जाति नियम तथा आचार नही मानते थे। कि तु इसके अतिरिक्त, अथववेद के व्रात्य माननीय समझे जाते थे। कि तु कापालिक चाहे वे ब्राह्मणीय हो अथवा अब्राह्मणीय मद्यपान तथा कामवासना की भयकर क्रियाओ म लिप्त रहते थे एव अशुद्ध रीति से जीवन व्यतीत करते थ। वे सहारकर्ता भैरव के पुजारी थे जिसने ससार की रचना की और पालन किया इस मा यता के अतिरिक्त उनका कोई विशेष दशन था यह सदेहात्मक है। वे कम मे विश्वास नही करत थे। उनके विचारानुसार गौण देवता भी हैं जो भैरव की इच्छा नुसार ससार की सृष्टि तथा पालन म विभिन्न काय करते हैं। शूद्र कापालिक जाति प्रथा म भी विश्वास नही करते थे तथा यह सब कापालिक अपनी धार्मिक क्रियाओ के अग के रूप मे मास खाते तथा नरमु ड म मद्यपान करते थे। सर आर० जी० भण्डारकर शिव महापुराण के आधार पर यह मानते हैं कि कालमुख तथा महाव्रतधर एक ही थे। कि तु प्रस्तुत लेखक को ऐसा कोई लेख शिव पुराण म नही मिल सका है तथा भण्डारकर कोई निश्चित उद्धरण नही बताते जिससे यह एकता (कालमुख और महाव्रतधर एक है) सिद्ध होती हो। महाव्रत अर्थात महान प्रतिज्ञा म नरमु ड मे भोजन किया जाता है तथा शरीर पर मानव तथा अ य शवो की भस्म मली जाती है जिसे रामानुज ने कालमुखो के लिए विशेषित किया है। भण्डारकर ने जगधर की मालती माधव पर टीका का भी उल्लेख किया है जिसम कापालिक व्रत महाव्रत कहा गया है। भण्डारकर आगे यह भी इगित करते हैं कि नासिक के पास कापालेश्वर के म दिर मे रहने वाले योगी महाव्रती कहलाते हैं।[1] जो भी हो हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि कापालिको तथा कालमुखो के काई विशिष्ट दाशनिक विचार थे जिनकी अलग से व्याख्या की जा सके। विशेष प्रकार क अनुष्ठान करते समय उनक

[1] सर आर० जी० भण्डारकर कृत 'वष्णव मत शव मत तथा गौण धार्मिक प्रणालिया (१९१३) पृ० १२८।

पथा के सदस्य अपने को घायल कर लेते थे तथा मद्य, स्त्री व मांस में,यहा तक कि नर मास में भी, अपनी लिप्सा के कारण ये अन्य शैवो से पृथक किए जा सकते थे। किसी प्रकार यह क्रियायें तान्त्रिक पद्धति की पूजा म मिल गई। इस प्रकार की पूजा के कुछ अंश तान्त्रिक पद्धति की पूजा के अनुयायियो म आज भी मिलते हैं। इस प्रकार तान्त्रिक दीक्षा वैदिक दीक्षा से भिन्न है।

धर्म तथा नीतिशास्त्र के विश्वकोश मे शैव मत पर फ्रेजर अपने लेख म लिखते हैं कि दक्षिण भारत के कुछ प्रसिद्ध मन्दिरो म आदिवासी पुजारियो से समझौते के लिए (जिनके प्राचीन देवस्थान स्थानीय भावको के संरक्षण मे ब्राह्मण पुजारियो ने अधिकृत कर लिए थे) पुरातन रक्त क्रियाओ तथा उन्मत्त प्रमादों मे पुनरुत्थान की अनुमति प्रतिवर्ष दी जाती है। इन भावको ने अपने अनुग्रह तथा कृपादृष्टि के बदले म क्षत्रियो की प्रतिष्ठा मिथ्या वंशावली के साथ हड़प ली थी। फ्रेजर इसी लेख म आगे कुछ दृष्टान्त देते हैं जिनम अब्राह्मण तथा अछूतो ने शिव की पूजा की और नर-बलि दी। एक स्थान जिसका उन्होने वर्णन किया है "श्री शैल" है इस कापालिक केन्द्र का भवभूति ने भी उल्लेख किया है। बौद्धो ने इन अछूत पुजारियो को मन्दिरो से बहिष्कृत कर दिया, तदुपरान्त ब्राह्मणो ने बौद्धो को बहिष्कृत किया। शकर के समय म कापालिको ने उज्जैन म एक प्रबल केन्द्र विकसित कर लिया था। वास्तव में हम नही जानते कि ब्राह्मणो तथा अब्राह्मणो द्वारा की गई दक्षिण भारतीय रक्त क्रियाओं के पथ को कापालिको अथवा कालमुखो से देखा जा सकता है या नही। किन्तु यह सभव है कि वे एक ही लोग थे, क्योंकि भवभूति द्वारा वर्णित श्री शैल, जो कापालिको के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप म वर्णित है उसे हम, जैसा कि फ्रेजर ने लिखा है स्थल माहात्म्य के लेखो से रक्त क्रियाओ के केन्द्र के रूप मे भी जानते हैं। ब्रह्म सूत्र २ २ ३७ में रामानुज के कथनानुसार कापालिक तथा कालमुख वेद विरोधी थे। आनन्द गिरि के अनुसार शकर ने भी कापालिको से कोई तर्क वितर्क नही किया क्योकि कापालिको के विचार स्वीकृत रूप से वेद विरोधी थे। उन्होने तो उनको दण्डित करवाया तथा कोड़े लगवाए। फिर भी कापालिको ने अपना प्राचीन रूप बनाए रखा तथा उनमे से कुछ बगाल तक मे रहते थे जैसाकि प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है। शैव मत म शरीर पर भस्म मलने की प्रथा संभवत बहुत प्राचीन है क्योंकि यह प्रथा पाशुपत सूत्र तथा कौण्डिन्य के भाष्य मे वर्णित है।

वाचस्पति द्वारा वर्णित कारुणी सिद्धान्त का माधव (१४ वी शताब्दी) ने अपने सर्व दर्शन-संग्रह मे उल्लेख नही किया है तथा किन्ही शैवागमो म भी हम इसका उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु जैसाकि अन्य भाग म उल्लेख किया गया है शिव महापुराण की वायवीय सहिता मे शैव दर्शन के वर्णन से उन तर्कों की रचना करना हमारे लिए कठिन नही है जिन्होने शैव मत के एक विशेष सम्प्रदाय को बनाने म योग

दिया हो। प्रत्येक आगम म करुणा का सिद्धा त सदा एक ही अर्थ में नही मिलता है, न वायवीय सहिता मे, जो सभवत आगमो पर आधारित है। साधारणत करुणा की भावना का अर्थ केवल दया के विस्तार से होता है या किसी विपद्ग्रस्त पर अनुग्रह से। किन्तु शैवागम म एक स्पष्ट विचारधारा है जहा करुणा की व्याख्या सब जीवो को अनुभव क्षेत्र प्रदान करने वाले दैवी सृजनात्मक प्रेरणा के रूप म की गई है, जिसम वे सुखो का आनन्द ले सकें तथा उसी प्रकार दु खानुभव कर सकें। ईश्वर की करुणा ससार को हमारे लिए उसी प्रकार अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार हमे उसका अनुभव करना चाहिए। इसलिए सामान्य अर्थ मे, करुणा अनुग्रह का काय नहीं है वरन् यह कर्म के आधार पर हमे उचित कामनाओ को प्राप्त करने की ओर एक प्रेरणा है। ससार की सृजनात्मक क्रिया हमारे शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुरूप होती है जिनके अनुसार भिन्न प्रकार के अनुभव हमारे लिए अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ म करुणा की तुलना योग दशन के उस विचार से की जा सकती है जो स्वीकार करता है कि ईश्वर का नित्य सकल्प सृष्टि विकास (परिणाम क्रम नियम) के क्रम म ससार की रक्षा के लिए तथा मनुष्यो के व्यक्तिगत कर्मों के अनुरूप उनके अनुभव के लिये आधार के रूप म काय करता है। पुन यह उन रामानुज वष्णवो के करुणा के सिद्धान्त से भिन्न है जिन्होने महालक्ष्मी का प्रत्यय उपस्थित किया एव जो पापियो की ओर से मध्यस्थता करती है तथा नारायण को भक्तो के श्रेय के लिए उनकी करुणा प्रदान करने हेतु विवश करती है।

माना जाता है कि शिव' शब्द अनियमित रूप से मूल वश कान्तन से निकला है। इसका यह अर्थ होगा कि शिव सदव अपने भक्तो की कामनाओ की पूर्ति करते हैं। महाभारत तथा अन्य पुराणों म शिव का पक्ष कृपालु भगवान के रूप म बहुत भली प्रकार चित्रित किया गया है जिसम वह सदैव उन वरदानो को देने के लिए तत्पर रहते हैं जिनके लिए उनसे प्राथना की जाय। शिव का यह पक्ष उस पक्ष से भिन्न है जिसम शिव, रुद्र अथवा दाव या सहार के देवता हैं।

हमने देखा कि कापालिको तथा कालमुखो के विषय मे हम लगभग कुछ भी महत्वपूर्ण बात नही जानते हैं। दक्षिण में शवमत के अन्य सिद्धान्त पाशुपत में हैं जो शैव सिद्धान्त आगमो तथा वष्णवो से प्राप्त किए हुए हैं। नवी व दसवीं शताब्दी मे काश्मीर मे विकसित शव मत के अन्य सम्प्रदायो का विवरण अलग भाग म किया जायेगा। कौडिन्य के पचाथ भाष्य' के साथ पाशुपत सूत्र प्रथम बार १६४० म त्रिवेन्द्रम म प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन अनन्त कृष्ण शास्त्री ने किया था। कौडिन्य का यह भाष्य सभवत राशीकर भाष्य ही है जिसका माधव ने सव दशन सग्रह' मे नकुलीप पाशुपत दशन की अपनी व्याख्या म उल्लेख किया है। कौडिन्य के भाष्य मे प्राप्त कुछ पक्तियो की समानता प्रस्तुत लेखक ने उन पक्तियो से मानी है

जिनको माधव ने अपनी नकुलीप-पाशुपत प्रणाली की व्याख्या में राशीकर की ठहराया है। नकुलीप पाशुपत प्रणाली के स्थापक हैं। आफ्रेक्ट ने पाशुपत सूत्र[1] का कैटेलागस कटलागरम में वर्णन किया है। वायवीय संहिता २.२४-१६६ भी पाशुपत शास्त्र का वर्णन पचाथ विद्या के रूप में करती है।[2] भण्डारकर ने जयपुर राज्य के सीकर प्रदेश में स्थित हर्षनाथ के एक मन्दिर के शिलालेख की ओर इंगित किया है जिसमें विश्व रूप नामक व्यक्ति का वर्णन पचाथ लाकुला नाय के शिक्षक के रूप में किया है। शिलालेख का काल वि० सं० १०१३ (६५७ ई०) है। इससे भण्डारकर यह अनुमान लगाते हैं कि पाशुपत प्रणाली लकुलिन नामक मानव लेखक को ठहराई गई थी तथा उनकी रचनायें पचाथ कहलाती थी। यह अनुमान न्यायपूर्ण नहीं है। हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि दसवीं शताब्दी के मध्य में लकुलीप के सिद्धान्त विश्वरूप नामक शिक्षक द्वारा सिखाए जा रहे थे जिसकी जयपुर में यथेष्ठ प्रसिद्धि थी। लकुलीष की शिक्षाओं ने ऐसा अधिकृत स्थान प्राप्त कर लिया था कि वे आम्नाय कहलाते थे, जिनका प्रयोग वेदों के लिए होता है।

त्रिवेन्द्रम ग्रन्थमाला में प्रकाशित पाशुपत सूत्र में कौंडिन्य द्वारा उद्धृत प्रथम सूत्र है—अथात पशुपते पाशुपत योगविधिम् व्याख्यास्याम। यहां पर 'योग विधि' पाशुपत अथवा शिव के लिए प्रयुक्त की गई है। सूत संहिता ४.४३.१७ में हम नकुल नामक एक स्थान के विषय में सुनते हैं तथा वहां पर शिव को नकुलीप कहा जाता है। पाशुपत शास्त्र के सम्पादक ने अठारह शिक्षकों के नाम का उल्लेख किया है जिनका आरम्भ नकुलीप[3] से है। यह नाम इस प्रकार हैं—(१) नकुलीप (२) कौशिक (३) गार्ग्य (४) मैत्रेय (५) कौरूष (६) ईशान (७) पर गार्ग्य (८) कपिलाण्ड (९) मनुष्यक (१०) कुशीक (११) अत्रि (१२) पिंगलाक्ष (१३) पुष्पक (१४) बृहदाय (१५) अगस्ति (१६) सन्तान (१७) कौडिन्य अथवा राशीकर (१८) विद्या गुरु। प्रस्तुत लेखक पाशुपत सूत्र के सम्पादक के इस विचार से सहमत है कि भाष्यकार कौडिन्य चौथी से छठी शताब्दी में किसी समय वर्तमान थे। भाष्य का आकार

---

[1] भण्डारकर ने अपने पाशुपत के अध्याय में इसका उल्लेख किया है। पृ० १२१ एन०।

[2] वेंकटेश्वर प्रकाशन द्वारा मुद्रित शिव महापुराण संस्करण में प्रस्तुत लेखक को ऐसा कोई पद्य नहीं मिल सका क्योंकि २.२४ में केवल ४२ छंद हैं।

[3] यह नाम राजशेखर के 'षड्दर्शन समुच्चय' से लिए गए हैं जिसकी रचना १४वीं शताब्दी के मध्य में हुई थी। लगभग यही नाम कुछ अन्तर सहित गुणरत्न के 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में भी पाए जाते हैं।

यथेष्ठ प्राचीन है तथा कौंडिन्य के भाष्य में परवर्ती किसी विचारधारा के विषय में संकेत नहीं हैं। हमने पहले ही देखा है कि शिव महापुराण के अनुसार अठाईस योगाचार्य थे और प्रत्येक के चार शिष्य थे। इस प्रकार ११२ योगाचार्य थे। इन अठाईस योगाचार्यों में से अत्यधिक मुख्य लोकाक्षी जगीशव्य, ऋषभ, भृगु, अत्रि तथा गौतम थे। अंतिम तथा अठाईसवें आचार्य लकुलीश थे, जिनका जन्म स्थान कायावतरण तीर्थ था। ११२ योगाचार्यों में से सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल आसुरि, पंचशिख पराशर, गर्ग, भार्गव अंगिर, शुक वशिष्ट बृहस्पति, कुणि, वामदेव, श्वेतकेतु देवल, शालिहोत्र, अग्निवेश अक्षपाद कणाद कुमार तथा रुरु अत्यधिक मुख्य हैं।[1]

श्री दलाल 'गणकारिका' की अपनी भूमिका में कहते हैं कि लाकुलीश पाशुपत दर्शन का नामकरण लकुलीश से हुआ जिन्होंने इस पद्धति का आरम्भ किया। लकुलीश का अर्थ है "दंड धारियों के भगवान"। दाहिने हाथ में डमरु तथा बाएं हाथ में त्रिशूल लिए हुए लकुलीश बहुधा भगवान शिव का अवतार माने जाते हैं। अवतार का स्थान भृगु क्षेत्र में कायारोहण है जो बड़ौदा राज्य के डभोई तालुके का एक नगर कारवण है। कारवण माहात्म्य में यह कहा गया है कि उलकापुरी गाव में एक ब्राह्मण पुत्र लकुलीश के रूप में प्रकट हुआ तथा भगवान लकुलीश की पूजा व उनकी मूर्ति को रेशमी वस्त्र से बांधने का महत्व तथा विधियां समझाई। यह रचना चार भागों में विभाजित है प्रथम वायु पुराण में से है तथा शेष तीन शिव महापुराण में से हैं। रचना

---

[1] देखिए शिव महापुराण वायवीय संहिता २ ६ तथा कूर्म पुराण १ ५३ भी। वायु पुराण के तेइसवें अध्याय में अठाइस योगाचार्यों में से प्रत्येक के चार शिष्यों के नाम वर्णित हैं। विशुद्ध मुनि ने अपनी रचना आत्म समर्पण में लकुलीश के नाम का उल्लेख भी किया है। 'पाशुपत सूत्र की भूमिका' का पृष्ठ तीन एम भी देखिये।

शिव महापुराण में दी गई अठाईस शिक्षकों की सूची, सदव अन्य विद्वानों द्वारा संग्रहित सूची अथवा विशुद्ध मुनि के आत्म समर्पण में पाई गई सूची से समानता नहीं रखती है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से कुछ नाम नितान्त कल्पित हैं तथा उनके नाम अधिक प्रयोग में नहीं आते क्योंकि उनकी रचनायें प्राप्त नहीं हैं। विशुद्ध मुनि ने पाशुपत शास्त्र के संयम अथवा यम के मुख्य तत्वों का संक्षिप्त वर्णन किया है जो लगभग वैसा ही है जैसा पतंजलि कृत योगशास्त्र के यम अथवा संयम के नियम। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि योगशास्त्र में ईश्वर का प्रत्यय उसी प्रकार का है जैसा पशुपति का पाशुपत सूत्र तथा भाष्य में है।

के प्रारंभ में महेश्वर के प्रति वन्दना है जिन्होंने लकुट पाणीश के रूप में अवतार लिया। इसमें शिव तथा पार्वती के मध्य एक वार्तालाप है जिसमें पार्वती शिव से रेशमी वस्त्र बांधने का महत्व पूछती हैं। शिव तब कलि तथा द्वापर-युग के मध्य में अत्रि मुनि के परिवार में विश्वराज नामक ब्राह्मण के रूप में अपने अवतार की कथा वर्णित करते हैं। उनकी माता सुदर्शन थी। कारवण माहात्म्य में शिव के अवतार इस बालक के विषय में कुछ विलक्षण कल्पित गल्प वर्णित हैं किन्तु उनका प्रत्याख्यान करना ही उचित है।

हमने पहले ही अग्नि के नाम का उल्लेख पाशुपत सम्प्रदाय के मुख्य शिक्षकों में किया है। किन्तु शिवको क उपर्युक्त वर्णन के अनुसार नकुलीश को इस प्रणाली का प्रथम संस्थापक मानना चाहिए। हमने यह भी देखा है कि पंचार्थ लाकुलाम्नाय के मत का, जो पाशुपत सूत्र में प्रतिपादित मत के समान ही होगा दसवीं शताब्दी के मध्य तक एक शिक्षक था। यह कहना कठिन है कि पशुपति का प्रत्यय कितने समय पूर्व विकसित हुआ होगा। मोहनजोदडो की खुदाइयों से हम एक ऐसी लघु मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें शिव सांड पर बैठे बनाए गए हैं, जिन्हें सर्प तथा अन्य पशु घेरे हुए हैं। यह मूर्ति पूर्व वैदिक काल में पाए गए पशुओं के भगवान अथवा पशुपति के प्रत्यय की कला में अभिव्यक्ति है। शिव का प्रत्यय वेदों में पाया जा सकता है तथा उपनिषदों मुख्यत श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी पाया जा सकता है। यही विचार महाभारत तथा अन्य कई पुराणों में भी पाया जा सकता है। शिव के धार्मिक पक्ष को जो शिव के प्रत्यय की विभिन्न पौराणिक कथाओं में परिभाषा करता है यहां पर छोड़ देना होगा क्योंकि प्रस्तुत रचना की रुचि निश्चित रूप से दार्शनिक विचार तथा शिव के अनुयायियों के नैतिक तथा सामाजिक विचारों तक सीमित है।[1]

किन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि आठवीं शताब्दी के बहुत पूर्व ही शैव दर्शन तथा शिव पूजा, समस्त प्रायद्वीप में बहुत दूर दूर तक विस्तृत हो चुकी थी। उत्तर में अविरामम म नेपाल (पशुपतिनाथ) म, काश्मीर म प्रभास म, काठियावाड म (सोमनाथ का मन्दिर), बनारस में (विश्वनाथ का मन्दिर), कलकत्ते में नकुलीश्वर का मन्दिर तथा सुदूर दक्षिण भारत में रामेश्वर के मन्दिर म हमारे पास शिव के प्रत्यधिक पवित्र मन्दिर हैं। शिव पूजा के अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थानों म से ये केवल कुछ ही हैं। वास्तव में भारत के प्रत्येक भाग में शिव पूजा प्रचलित है तथा अनेक नगरों में शिव के मन्दिर में हम या तो अवशेषों के रूप में अथवा पूजा के यथार्थ स्थानों के

[1] जो भगवान शिव के विभिन्न पक्षों के विकास के अध्ययन में रुचि रखते हैं वे भंडारकर कृत वैष्णवमत तथा शैवमत देख सकते हैं तथा धर्म एवं नीति शास्त्र के विश्व कोष में फ्रेजर का शैव मत पर लेख भी देख सकते हैं।

रूप म मिलते है। साधारणत शिव की पूजा लिंग सम्बन्धी प्रतीक के रूप मे की जाती है तथा प्रत्येक जाति के पुरुष तथा स्त्रिया भी प्रतीक का स्पर्श कर सकते हैं। शव प्रकार की दीक्षा तथा तान्त्रिक प्रकार की दीक्षा को वदिक प्रकार की दीक्षा से भिन्न करना है जो केवल तीन उच्च जातिया के लिए प्रारक्षित है। परन्तु क्योंकि प्रस्तुत रचना का उद्देश्य शवमत तथा तान्त्रिक मत की विवेचना करना है प्रत जहा तक समव होगा कमकाण्डा तथा पूजा की विधियो से सम्बन्धित समस्त सदर्भों को छोड़ दिया जायगा।

चौदहवी शताब्दी के मध्य के जैन लेखक राजशेखर अपनी 'षड् दशन समुच्चय' मे शव दशन के नाम का वणन करते हैं तथा इसे एक योग मत कहते हैं।[1] वह शव वैरागिया का अपने हाथा मे त्रिशूल लिए हुए तथा कौपीन धारण किए हुए रूप में वणन करते हैं। (प्रौढ कौपीनपरिधायित)। उनके पास शरीर ढकने के लिए कम्बल भी थे जटायें थी तथा उनके शरीर पर भस्म मली रहती थी। वे मेवा खाते, तुम्बक का बतन रखते तथा साधारणत वना मे रहते थ। कुछ के स्त्रिया थी जबकि अन्य एका त जीवन व्यतीत करते थे। राजशेखर पुन कहत हैं कि शवो मे शिव के अठारह अवतार स्वीकार किए हैं जो महाप्रभु ससार की सृष्टि तथा सहार करता है। हमने पहले ही षडदशन समुच्चय मे प्राप्त शिक्षको के नामो का उल्लेख किया है। इन शिक्षको की विशेष रूप से श्रद्धा की जाती थी तथा इनमे से अक्षपाद ने तकशास्त्र की प्रणाली प्रतिपादित की जिसमे उन्होने प्रमाणा प्रत्यक्षीकरण अनुमान सामान्यु मान तथा शब्द प्रमाण की विवेचना की तथा गौतम अथवा अक्षपाद के न्यायसूत्र म प्राप्त सोलह पदार्थों का भी वणन किया। राजशेखर ने जयन्त, उग्यन तथा भासवज्ञ के नामा का उल्लेख किया है। इस प्रकार राजशेखर के अनुसार नयायिक शव माने जाते थे। ऐसा प्रतीत नही होता है कि राजशेखर ने न्याय प्रणाली का कोई विशेष अध्ययन किया था वरन् उन्होने अपने कथनो का समय की परम्परा पर आधारित किया।[2] वह वशेषिको को भी पाशुपत मानते हैं। वशेषिक मतानुयायी नयायिको के समान ही वस्त्र धारण करते थे तथा उनके अनुरूप ही उनकी मान्यताएँ थी। परन्तु उनसे भिन्न वे यह मानते थे कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण हैं तथा अन्य प्रमाण इनके अन्तगत आ जाते हैं। वह उन छ पदार्थों का भी वणन करते हैं जो हमे वशेषिक सूत्र म मिलते हैं। राजशेखर नयायिका को योग कहते हैं। वैशेषिक तथा न्याय लगभग एक ही प्रकार के हैं तथा दोनो ही दुख की समाप्ति को अन्तिम मोक्ष मानते हैं। हरिभद्र सूरि कृत षडदशन-समुच्चय क टीकाकार गुणरत्न राजशेखर

---

[1] अथ योगमतम् ब्रूम शैवम् इति अपरा भिधम्।
—राजशेखर कृत षड दशन समुच्चय पृ० ८ (द्वितीय प्रकाशन, बनारस)।

[2] श्रुतानुसारत प्रोक्तम् नयायिक मतम् मया—तत्रव पृ० १०।

के समान जैन लेखक थे तथा पूर्ण संभावना है कि वे उनके बाद के समकालीन थे। नैयायिकों अथवा योगों के विषय में उनके बहुत से वर्णन राजशेखर की रचना से लिए हुए प्रतीत होते हैं अथवा यह भी हो सकता है कि राजशेखर ने यह वर्णन गुणरत्न से लिए हों क्योंकि अनेक स्थानों पर वर्णन समान हैं। गुणरत्न कहते हैं कि शैव चार प्रकार के थे जैसे शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख।[1] इनके अतिरिक्त गुणरत्न तथा राजशेखर उनके विषय में कहते हैं जिन्होंने शिव की सेवा का व्रत ले लिया है तथा वे भरत तथा भक्त कहलाते हैं। किसी भी जाति के मनुष्य शिव के भरतों अथवा भक्तों के वर्ग में सम्मिलित हो सकते हैं। नैयायिक सदैव शिव के भक्त माने जाते थे तथा वे शैव कहलाते थे। वैशेषिक दर्शन पाशुपत कहलाता था।[2] हरिभद्र यह भी कहते हैं कि वैशेषिकों ने नैयायिकों के ही देवताओं को स्वीकार किया।[3]

कापालिकों तथा कालमुखों के अतिरिक्त, जिनके विषय में उनकी धार्मिक क्रियाओं तथा अवैदिक व्यवहार के विरुद्ध परम्परागत आरोपों के अतिरिक्त हम बहुत कम जानते हैं हमारे पास शैव आगमों में वर्णित पाशुपत प्रणाली का मूल ग्रंथ तथा शैव दर्शन है। हमारे पास वायवीय संहिता में वर्णित पाशुपत शास्त्र, अप्पय दीक्षित द्वारा संपादित श्रीकंठ का शैव दर्शन तथा श्रीकुमार एवं अघोर शिवाचार्य द्वारा विवेचना

---

[1] शैवं पाशुपतं चैव महाव्रतधरस्तथा
तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदा इति तपस्विनाम्।
हरिभद्र की षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका पृ० ५१ (सौ भी का संस्करण, कलकत्ता १९०५)।

अतः गुणरत्न के अनुसार महाव्रतधर तथा कालमुख पूर्णतया भिन्न हैं। गुणरत्न ने कापालिक का उल्लेख नहीं किया है। शैवों के यह चार वर्ग आरम्भ में ब्राह्मण थे तथा उनके पास यज्ञोपवीत था। उनका अंतर मुख्यतः भिन्न प्रकार की धार्मिक क्रियाओं तथा आचार के कारण था —

आधार भस्म कौपीन जटा यज्ञोपवीतिनः
स्व स्वाचारादि भेदेन चतुर्धा स्युस् तपस्विनः।

रामानुज ने कापालिकों तथा कालमुखों के नाम का वर्णन वेदों के क्षेत्र से बाहर (वेद बाह्य) किया है। आनन्द गिरी की शंकर विजय में भी कापालिकों को वेदों के क्षेत्र से बाहर दर्शित किया है। परन्तु वहां कापालिकों का वर्णन नहीं है।

[2] देखिए गुणरत्न की टीका पृ० ५१।

[3] देवता विषयो भेदानास्ति नैयायिकैः समम वैशेषिकानाम् तत्वे तु—विद्यते सौ निदर्श्यते।

—हरिभद्र कृत षड्दर्शन समुच्चय पृ० २६६।

किया हुआ धार के राजा भोज द्वारा प्रतिपादित उनके 'तत्व प्रकाश' म शव दशन भी है। हमारे पास वीर शैव मत भी है जो बाद के काल म विकसित हुए तथा उसकी विवेचना श्रीपति पंडित द्वारा ब्रह्मसूत्र की एक टीका म है जिन्ह साधारणत चौदहवीं शताब्दी का माना जाता है।[1] श्रीपति पंडित पाशुपत, रामानुज तथा एकोराम एव वीर शैव धम के पाच आचार्यों के भी परवर्ती थे। श्रीपति माधवाचाय के भी परवर्ती थे। परतु यह आश्चयजनक है कि माधव वीर-शवमत अथवा श्रीपति पंडित के विषय म कुछ भी जानते प्रतीत नहीं होते हैं। वह अवश्य ही बारहवीं शताब्दी के बसव के उत्तरकालीन थ जो वीर शवमत के सस्थापक माने जाते हैं। जसा कि हयवदनराव इंगित करते हैं कि श्रीपति श्रीकंठ के परवर्ती थे, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा है।[2] हमने पृथक भाग म श्रीकंठ के दशन की विवेचना की है। श्रीकंठ ग्यारहवीं शताब्दी म किसी समय वतमान थे तथा रामानुज के अल्प समकालीन हो सकते हैं। श्रीकंठ ब्रह्मसूत्र ३ ३ २७ ३० की अपनी विवचना म रामानुज तथा निम्बार्क के विचारों की आलोचना करते हैं। शिलालखीय आधार पर हयवदनराव का विचार है कि श्रीकंठ ११२२ ई० म वतमान थ।[3]

संस्कृत रचना शिव ज्ञान बोध के तमिल अनुवाद के अत्यधिक प्रसिद्ध लखक मेयक देव दक्षिण अरकाट प्रदेश में निकट तिरुवेनेयल्लुर के थे। चोल राजा राज राज तृतीय (१२१६ ४८ ई०) के सोलहवें वष का एक शिलालेख है जिसम मेयकण्ड द्वारा स्थापित मूर्ति का भूमिदान के विषय म लिखा है। यह पर जाति मुनि के शिष्य मेयकण्ड देव का समय लगभग तेरहवी शताब्दी के मध्य म निर्धारित करता है। लम्बे तक के पश्चात् हयवदनराव इस विचार पर पहुंचते हैं कि यदि इससे कुछ पूव नहीं तो १३५ ई० में लगभग मेयकण्ड देव वास्तव म वतमान थे।[4] शिलालेखों से यह निश्चित किया गया है कि ब्रह्मसूत्र के टीकाकार श्रीकंठ लगभग १२७० में वतमान थे। यह सवथा सभव है कि मेयकण्ड तथा श्रीकंठ समकालीन थे। मेयकण्ड तथा श्रीकंठ का दाशनिक अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है अत दोनों व्यक्तियों को एक नहीं समझा जा सकता।[5] श्रीकंठ का विचार है कि ससार भगवान की चिच्छक्ति का रूपान्तर है। यह भौतिक ससार की सृष्टि के लिए कुछ नहीं कहता है न आणवमल के

---

[1] सी० हयवदनराव कृत श्रीकर भाष्य, भाग १ पृ० ३१।

[2] वही पृ० ३६।

[3] वही, पृ० ४१।

[4] वही, पृ० ४८।

[5] वही पृ० ४६। श्रीकंठ तथा मेयकण्ड देव की प्रणालियों की विवेचना प्रस्तुत रचना में पृथक भागों म की गई है।

विषय में कहता है तथा प्रत्यक्ष ही जीवन मुक्ति के पक्ष में नहीं है। पुनः श्रीकंठ श्रुति के आधार पर अपनी प्रणाली को स्थापित करते प्रतीत होते हैं, किन्तु मेयकंड देव अपनी प्रणाली को अनुमान पर आधारित करने का प्रयत्न करते हैं तथा भिन्नता के अनेक दूसरे विषय भी हैं जो हमारी मेयकंड देव की व्याख्या से सुगमता से समझ में आ जायेंगे। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीकंठ का मेयकंड देव से कोई सम्बन्ध था।

श्रीपति ने हरदत्त का बहुत सम्मानपूर्वक शब्दों में उद्धृत किया है। हयवदनराव ने "भविष्योत्तर-पुराण" में दिए हुए हरदत्त के जीवन वृत्तान्त की ओर तथा उनके टीकाकार शिवलिंगभूपति के लेखों का उल्लेख किया है, जो हरदत्त का कलिकाल ३६७९ अर्थात् लगभग ८७९ ई० में निर्धारित करते हैं, किन्तु शिव रहस्य-दीपिका में हरदत्त का समय कलिकाल का लगभग ३००० दिया है। प्रोफेसर शेषगिरी शास्त्री ने प्रथम तिथि को अधिक उपयुक्त स्वीकार किया है तथा सर्वदर्शन-संग्रह में उद्धृत हरदत्त को तथा हरिहर-तारतम्य एवं चतुर्वेद-तात्पर्य-संग्रह के लेखक को एक ही माना है। जैसा कि हमने अन्य स्थान पर वर्णन किया है हरदत्त गणकारिका के लेखक थे। पूर्ण संभावना है कि श्री दलाल ने अपनी गणकारिका की भूमिका में इन दोनों में भ्रान्ति की हो जिसमें वे कहते हैं कि भासर्वज्ञ गणकारिका के लेखक थे। वास्तव में हरदत्त ने केवल कारिका ही लिखी तथा न्याय लेखक भासर्वज्ञ ने इस पर "रत्न टीका" नामक टीका लिखी।[1] श्रीपति ने सिद्धान्त शिरोमणि से उद्धृत किया है जो रेवणाराध्य द्वारा लिखित एक वीर शैव रचना है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि यद्यपि वीर शैव मत की स्थापना कम से कम इतने पूर्व जितना बसव (११५७-६७) काल में हुई थी, तथापि चौदहवीं शताब्दी में माधव को वीर शैव के विषय में कुछ भी ज्ञात न था। फिर भी यह सन्देहात्मक है कि क्या वास्तव में बसव भारत में शैव मत के संस्थापक थे? कन्नड़ में 'बसव के वचन' नामक कुछ कथन हमारे पास हैं किन्तु उनके नाम का उल्लेख कदाचित् ही वीर शैव धर्म के लेखों के शिक्षक के रूप में हम पाते हैं। बसव-पुराण नामक रचना में बसव का एक अर्ध-पौराणिक वर्णन है। उसमें यह कहा गया है कि वीर शैव मत के विस्तार के लिए शिव ने नन्दी से संसार में अवतार लेने को कहा। बसव ही यह अवतार थे। वे बागेवाड़ी के निवासी थे। जहाँ से वे कल्याण गए जहाँ बिज्जल अथवा बिज्जन राज्य करते थे (११५७-६७ ई०)। उनके मामा बलदेव मंत्री थे।

---

[1] गणकारिका की पुष्पिका निम्नांकित है—

आचार्य भासर्वज्ञ विरचितायाम् गणकारिकायाम् रत्न टीका परिसमाप्ता।

इससे यह भ्रम हुआ कि गणकारिका भासर्वज्ञ की रचना है, जिन्होंने केवल टीका लिखी। इन हरदत्त को काशिकावृत्ति पर पद मंजरी तथा आपस्तम्ब सूत्र के टीकाकार से भी भिन्न करना है।

किया हुआ धार के राजा भोज द्वारा प्रतिपादित उनके 'तत्व प्रकाश' मे शैव दर्शन भी है। हमारे पास वीर शैव मत भी है जो बाद के काल म विकसित हुए तथा उसकी विवेचना श्रीपति पडित द्वारा ब्रह्मसूत्र की एक टीका मे है जिन्ह साधारणत चौदहवी शताब्दी का माना जाता है।[१] श्रीपति, पडित पाशुपत रामानुज तथा एकोराम एव वीर शैव धर्म के पाच आचार्यों के भी परवर्ती थे। श्रीपति माधवाचार्य के भी परवर्ती थे। परन्तु यह आश्चर्यजनक है कि माधव वीर-शैवमत अथवा श्रीपति पडित के विषय म कुछ भी जानते प्रतीत नही होते हैं। वह अवश्य ही बारहवी शताब्दी के बसव के उत्तरकालीन थे जो वीर शैवमत के संस्थापक माने जाते हैं। जैसा कि हयवदनराव इगित करते हैं कि श्रीपति श्रीकठ के परवर्ती थे, जिन्होने ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा है।[२] हमने पृथक भाग म श्रीकठ के दर्शन की विवेचना की है। श्रीकठ ग्यारहवी शताब्दी म किसी समय वर्तमान थे तथा रामानुज के अल्प समकालीन हो सकते हैं। श्रीकठ ब्रह्मसूत्र ३ ३ २७ ३० की अपनी विवेचना म रामानुज तथा निम्बार्क के विचारो की आलोचना करते हैं। शिलालेखीय आधार पर हयवदनराव का विचार है कि श्रीकठ ११२२ ई० म वर्तमान थे।[३]

सस्कृत रचना शिव ज्ञान बोध के तमिल अनुवाद के अत्यधिक प्रसिद्ध लेखक मेयक देव दक्षिण अरकाट प्रदेश के निकट तिरुवन्नेयल्लुर के थे। चोल राजा राज राज तृतीय (१२१६ ४८ ई०) के सोलहवें वर्ष का एक शिलालेख है जिसम मेयकड द्वारा स्थापित मूर्ति का भूमिदान के विषय मे लिखा है। यह परजोति मुनि के शिष्य मेयकड देव का समय लगभग तेरहवी शताब्दी के मध्य म निर्धारित करता है। लम्बे तर्क के पश्चात् हयवदनराय इस विचार पर पहुचते हैं कि यदि इससे कुछ पूर्व नही तो १२३५ ई० के लगभग मेयकड देव वास्तव म वर्तमान थे।[४] शिलालेखो से यह निश्चित किया गया है कि ब्रह्मसूत्र के टीकाकार श्रीकठ लगभग १२७० मे वर्तमान थे। यह सर्वथा सभव है कि मेयकड तथा श्रीकठ समकालीन थे। मेयकड तथा श्रीकठ का दार्शनिक अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है अत दोनो व्यक्तियो को एक नही समझा जा सकता।[५] श्रीकठ का विचार है कि ससार भगवान की चिच्छक्ति का रूपान्तर है। यह भौतिक ससार की सृष्टि के लिए कुछ नही कहता है न आणवमल के

---

१ सी० हयवदनराव कृत श्रीकर भाष्य भाग १ पृ० ३१।

२ वही पृ० ३६।

३ वही पृ० ४१।

४ वही, पृ० ४८।

५ वही पृ० ४६। श्रीकठ तथा मेयकड देव की प्रणालियो की विवेचना प्रस्तुत रचना म पृथक भागो मे की गई है।

विषय म कहता है तथा प्रत्यक्ष ही जीवन मुक्ति के पक्ष म नही है। पुन श्रीकंठ श्रुति के आधार पर अपनी प्रणाली का स्थापित करते प्रतीत होते है, किन्तु मेयकंड देव अपनी प्रणाली को अनुमान पर आधारित करन का प्रयत्न करते हैं तथा भिन्नता के अनेक दूसरे विषय भी है जो हमारी मेयकंड देव की व्याख्या से सुगमता से समझ मे आ जायेंगे। ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीकंठ का मेयकंड देव से कोई सम्बन्ध था।

श्रीपति ने हरदत्त को बहुत सम्मानपूवक शब्दा म उद्धृत किया है। हयवदनराव न "भविष्योत्तर-पुराण" मे दिए हुए हरदत्त के जीवन वत्तान्त की ओर तथा उनके टीकाकार शिवलिंगभूपति के लेखा का उल्लेख किया है, जो हरदत्त को कलिकाल ३६७६ अर्थात् लगभग ८७६ ई० म निर्धारित करते है किन्तु शिव रहस्य दीपिका मे हरदत्त का समय कलिकाल का लगभग ३००० दिया है। प्रोफेसर नेपगिरी शास्त्री ने प्रथम तिथि को अधिक उपयुक्त स्वीकार किया है तथा सवदर्शन-सग्रह मे उद्धृत हरदत्त को तथा हरिहर-तारतम्य एव चतुर्वेद-तात्पय-सग्रह के लेखक का एक ही माना है। जैसा कि हमने अन्य स्थान पर वणन किया है हरदत्त गणकारिका के लेखक थे। पूण सभावना है कि श्री दलाल न अपनी गणकारिका की भूमिका मे इन दोना म भ्रान्ति की हो जिसमे वे कहते है कि भासवज्ञ गणकारिका के लेखक थे। वास्तव म हरदत्त ने केवल कारिका ही लिखी तथा न्याय लेखक भासवज्ञ ने इस पर "रत्न टीका" नामक टीका लिखी।[1] श्रीपति न सिद्धान्त शिखामणि से उद्धृत किया है जो रेवणाय द्वारा लिखित एक वीर शैव रचना है।

यह देखकर आश्चय होता है कि यद्यपि वीर शव मत की स्थापना कम से कम इतने पूव जितना बसव (११५७ ६७) काल म हुई थी, तथापि चौदहवी शताब्दी म माधव को वीर शव के विषय म कुछ भी ज्ञात न था। फिर भी यह सन्देहात्मक है कि क्या वास्तव म बसव भारत म शव मत क सस्थापक थे? कन्नड मे "बसव के वचन नामक कुछ वचन हमारे पास हैं किन्तु उनके नाम का उल्लेख कदाचित् ही वीर शव धम के लेखा के शिक्षक के रूप म हम पाते है। बसव-पुराण नामक रचना मे बसव का एव अध पौराणिक वणन है। उसमे यह कहा गया है कि वीर शैव मत के विस्तार के लिए शिव न नन्दी से ससार म अवतार लेने का कहा। बसव ही यह अवतार थ। वे बागेवाडा के निवासी थ। जहाँ से वे कल्याण गए, जहाँ विज्जल अथवा विज्जन राज्य करते थ (११५७ ६७ ई०)। उनके मामा बलदेव मत्री थे।

---

[1] गणकारिका की पुष्पिका निम्नांकित है–

आचाय भासवज्ञ विरचितायाम् गणकारिकायाम् रत्न टीका परिसमाप्ता।

इससे यह भ्रम हुआ कि गणकारिका भासवज्ञ की रचना है जिन्होंने केवल टीका लिखी। इन हरदत्त को काशिकावृत्ति पर पद मजरी तथा आपस्तम्ब सूत्र के टीकाकार स भी भिन्न करना है।

उनकी मृत्यु के पश्चात् वे स्वय उस पद पर उन्नत कर दिए गए। बसव की भगिनी का राजा से विवाह कर दिया गया था। कोश उनके अधिकार म था तथा उन्होने लिंगायत पुरोहितो तथा जगम नामक भिखारियो के पोषण तथा मनोरजन पर बहुत अधिक द्रव्य व्यय किया। जब राजा को इसका ज्ञान हुआ तब वह क्रोधित हुए तथा उनको दडित करने के लिए सेना भेजी। बसव ने एक लघु सेना एकत्रित की तथा इन सैनिको को पराजित कर दिया। राजा उनको वापस कल्याण म ले आए तथा प्रत्यक्ष रूप से उनम परस्पर सधि हो गई। किन्तु बाद मे बसव ने राजा की हत्या करवा दी। इससे बसव एक नए मत के सस्थापक की अपेक्षा एक कपटी राजनीतिज्ञ के रूप म अधिक चित्रित होते हैं।

पाशुपत साहित्य की हमारी व्याख्या पर वापस आने पर हम देखते हैं कि वैष्णवो तथा एकतत्ववादी शकर अनुयायियो के बीच हमारे पास एकेश्वरवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती हुई एक विचारधारा है। यह विचार भिन्न रूपो म व्यक्त हुआ है जिसम कभी कभी ईश्वर को परे किन्तु विश्व का धारण करते हुए स्थापित किया है कभी यह माना है कि ईश्वर ससार स परे हैं तथा इसकी सृष्टि अपनी शक्ति के द्रव्य से की है अन्य स्थानो म यह माना है कि ईश्वर तथा शक्ति एक ही तथा समान हैं। कभी यह माना है कि ससार की सृष्टि ईश्वर ने अपनी दया अथवा अनुग्रह से की है तथा उसका अनुग्रह एक आ तरिक गतिशील शक्ति है जो सृष्टि के क्रम तथा पालन का अनुसरण करती है। इस प्रकार अनुग्रह के सिद्धात तथा कर्म के सिद्धात म एक सधि हो गई है। किन्तु अन्य ऐसा सोचते हैं कि हम आवश्यक रूप से कर्मों के फलो को प्राप्त करने का अधिकार नहीं है परन्तु ईश्वर ने जो कुछ हम प्रदान किया है उससे अपने को सतुष्ट करना होगा। पाशुपत इस विचार की पुष्टि करते हैं तथा यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि नयायिक जो कर्म का सिद्धात स्वीकार करता है यह सोचता है कि हम केवल उन्ही उपभोगो तथा अनुभवो के योग्य है जिन्ह ईश्वर ने प्रदान किया है। यह तथ्य कि न्याय तथा पाशुपत दोनो ही यह सोचते हैं कि ईश्वर की सिद्धि अनुमान द्वारा की जा सकती है तथा ईश्वर का अनुग्रह अन्त म हमारे सम्पूर्ण अनुभवो के लिए उत्तरदायी है हम स्वाभाविक रूप से न्याय वशेषिक विचार तथा पाशुपत को सम्बद्ध करने की ओर प्रेरित करता है। यह परम्परा राजशेखर तथा हरिभद्र के साथ गुणरत्न के दोनो षडदर्शन समुच्चय मे सुरक्षित है तथा दसवी व ग्यारहवी शताब्दी तक की बहुत सी न्याय रचनाओ के मागलिक पद्य इस परिकल्पना का समर्थन करते हैं कि न्याय वशेषिक पाशुपतो का ही एक सम्प्रदाय था जिसने तर्क शास्त्र तथा तत्व विज्ञान की पद्धति के विकास का अधिक महत्व दिया है। पाशुपत प्रणाली ने साधारणत जाति विभाजन को स्वीकार किया है तथा केवल उच्च जातियो के व्यक्ति ही आध्यात्मिक मोक्ष की प्राप्ति का दावा कर सकते थे, तथापि हम देखते हैं कि जैसे जैसे समय व्यतीत हुआ सभी जातियो के पुरुष ईश्वर के भक्त अथवा सेवक बन सकते

थे तथा शैव कहला सकते थे। वैष्णवों में भी हम इसी प्रकार क्रमिक विस्तार तथा जाति प्रथा का अपक्रम पाते हैं। शैव तथा वैष्णव दोनों ही मतों में ईश्वर के प्रति भक्ति निष्ठा का प्रमाण मानी जाने लगी।

हमने पहले ही कारवण माहात्म्य के इस कथन की ओर उल्लेख किया है कि किस प्रकार भगवान ने अत्रि के वंशज के रूप में अवतार लिया। कहा जाता है कि वह पैदल उज्जैन गए तथा ब्रह्मावर्त से आए हुए कुशिक नामक ब्राह्मण को शिक्षित किया। यह शिक्षायें पंचार्थ नाम के वर्तमान सूत्रों के रूप में थी, जिसका मुख्य सार पहले ही वर्णित किया गया है। साधारणत ऐसा विश्वास है कि पांच अध्यायों में विभाजित (पंचार्थ) मौलिक सूत्रों की रचना प्रथम अथवा द्वितीय ई० में किसी समय हुई थी। कौंडिन्य के भाष्य तथा राशीकर भाष्य संभवत एक ही थे। कौंडिन्य ने अपने समकालीन किसी लेखक के नाम का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सांख्य योग की ओर संकेत किया है किन्तु वेदान्त अथवा उपनिषदों की ओर नहीं। अत यह ध्यान देना रोचक है कि इस प्रणाली ने उपनिषदों के प्रमाण अथवा उनके आश्रय की आकांक्षा नहीं की है। सूत्रों का प्रमाण इस कल्पना पर आधारित है कि वे स्वयं पशुपति द्वारा रचित थे। कौंडिन्य की रचनाओं में अनेक उद्धरण हैं किंतु उनके उद्गमों की पहचान संभव नहीं है। कौंडिन्य के भाष्य की लेखन पद्धति हमें वैयाकरण पतंजलि के लेखों का स्मरण दिलाती है जो संभवत लगभग १५० ई० पू० में वर्तमान थे। साधारणत यह विश्वास किया जाता है कि कौंडिन्य ४०० ६०० के मध्य में वर्तमान थे। यद्यपि मैं नहीं समझ पाता कि क्या वह एक या दो शताब्दी पूर्व के भी नहीं माने जा सकते। गणकारिका का काल वस्तुत अनिश्चित है, किन्तु भासर्वज्ञ ने इस पर रत्नटीका नामक टीका लिखी थी। वे दसवीं शताब्दी के मध्य में वर्तमान प्रतीत होते हैं। यह ध्यान देना रोचक है कि कारवण माहात्म्य में सोमनाथ का मन्दिर अत्यधिक महत्वपूर्ण पाशुपत केन्द्रों में से एक के रूप में वर्णित है।

नकुलीश पाशुपत प्रणाली शैव प्रणाली तथा काश्मीर की प्रत्यभिज्ञा प्रणाली की व्याख्या हम चौदहवीं शताब्दी के माधव की सर्व दर्शन-संग्रह में मिलती है। नकुलीश पाशुपत प्रणाली पाशुपत सूत्र तथा कौंडिन्य के भाष्य पर (जिसे राशीकर भाष्य भी कहा गया है) आधारित है। शैव माधव लगभग दस शैव रचनाओं का वर्णन करते हैं जो अनेक अन्य रचनाओं के साथ प्रस्तुत लेखक को पूर्ण अथवा आंशिक हस्त लेखों के रूप में प्राप्त हैं।[1] शंकर ने ब्रह्मसूत्र २ २ ३७ पर अपने भाष्य में माहेश्वरों के

---

[1] जिन रचनाओं का माधव ने अपने 'सर्व दर्शन संग्रह' में वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं—मृगेन्द्रागम पौष्करागम भोज की तत्व प्रकाश, सोम शंभु का भाष्य, अघोर शिवाचार्य की तत्व प्रकाश पर टीका कालोत्तरागम् रामकंठ की कालोत्तरागम पर टीका किरणागम सौरभेयागम तथा ज्ञान रत्नावली।

साथ ग्रन्थ दूसरा के विषय म कहा है जो ईश्वर का निमित्त कारण मानते थे किन्तु उपादान कारण नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने माहेश्वरो की प्रतिशाखाओ को विभिन्न किया है परन्तु वाचस्पति माहेश्वरो की चार प्रतिशाखाओ के विषय म कहते है। किन्तु माधव शैव प्रणाली की दो प्रकारो की व्याख्या दो भिन्न खडो म नकुलीश पाशुपत तथा शैव के रूप मे करते हैं। शकर के भाष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि व केवल "पाशुपत-सूत्र" के पश्चात से ही परिचित थे किन्तु आनन्दगिरि ने अपनी 'शकर विजय' म शैव पथ के छ भिन्न प्रकारो की ओर सकेत किया है जसे कि शैव रौद्र, उग्र, भट्ट जगम तथा पाशुपत। ये भिन्न पथ अपने शरीर पर भिन्न प्रकार के चिह्न धारण करते, तथा भिन्न कर्मकाण्डो द्वारा अपने को परस्पर पृथक् करते थे, किन्तु पूर्ण सम्भावना है कि उनका बहुत सा विशेष धार्मिक साहित्य बहुत पहले ही खो गया है। पाशुपतो का एक साहित्य है तथा वह पथ अब भी जीवित है, किन्तु शकर विजय मे पाए गए पाशुपतो के बाह्य चिह्न उन चिह्नो से पूर्णतया भिन्न है जो गुणरत्न की टीका म मिलते हैं। गुणरत्न (चौदहवी शताब्दी) पाशुपतो को काणाद मानते है। उन्होने नैयायिको को भी जो योग भी कहलाते हैं उसी प्रकार का शैवी माना है जसे कि काणाद तथा काणाद के समान ही व्यवहार करते हुए एव उसी प्रकार के चिह्न धारण करते हुए माना है। आनन्दगिरी द्वारा शवपथो के वर्णन से उन शैव पथो के सिद्धान्तो के विषय म बहुत कम समझा जा सकता है। यही कहा जा सकता है कि उनम से कुछ शैव यह विश्वास करते थे कि ईश्वर उपादान कारण के अतिरिक्त निमित्त कारण भी है। शकर ने ब्रह्मसूत्र २ २ ३७ पर अपनी टीका मे इस प्रकार शव मत का खडन किया है। पाशुपत तथा शैवागम के अनुयायी दोनो ही ईश्वर को निमित्त मानते थ जबकि शकर ईश्वर को निमित्त तथा उपादान कारण दोनो ही मानते थे। 'शकर विजय' म हम शव मत की कुछ प्रणालियो की ओर भी सकेत पाते हैं जिनके सदस्य अपने शरीर पर पाषाण लिंग पूजन सम्बन्धी चिह्न धारण करते थे। उन्होने ऐसे सिद्धान्त को माना जो वीर शवो के पटस्थल सिद्धान्त के समान था। यद्यपि हम देखते है कि वीर शव प्रणाली की विधिवत् रचना आनन्दगिरी के कम से कम ५०० वर्ष पश्चात् हुई थी। हमने देखा है कि वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'भामती' म चार प्रकार के शवो के विषय म लिखा है। चौदहवी शताब्दी के माधव न प्रत्यभिज्ञा प्रणाली को, जो साधारणत शवो की काश्मीर प्रणाली कहलाती है पृथक् व्याख्या के अतिरिक्त शवो के केवल दो पथो का नकुलीश पाशुपत तथा आगमो के शवो के रूप म वर्णन किया है।

माना जाता है कि शवागम अथवा सिद्धान्त मौलिक रूप म, महेश्वर द्वारा सम्भवत सस्कृत म लिखे गए थ। परन्तु शैव धर्मोत्तर म यह कहा गया है कि ये

संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय भाषा मे लिखे गए थे।"[1] यह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि आगम संस्कृत तथा कुछ द्रविड भाषाओं (जैसे तमिल, तेलगु कन्नड) दोनो म प्राप्त है। तथा यह इस प्रतिवाद का भी स्पष्ट करता है कि आगम अथवा सिद्धान्त मौलिक रूप से संस्कृत म लिखे गए थे अथवा द्रविड भाषा म? सौभाग्य से प्रस्तुत लेखक सम्पूर्ण आगमो का अथवा आगमो के आंशिक भागो का संकलन कर सका है। बहुत स हस्तलेख नष्ट होने की अवस्था म हैं तथा उनम से कुछ पूर्ण रूप से खो गए हैं, संस्कृत हस्तलेख जिस पर हमारा यह प्रयत्न आधारित है ट्रिवेन्द्रम, अड्यार तथा मैसूर के वृहत् हस्तलेख पुस्तकालयो म प्राप्त हैं। यह आश्चर्य है कि बनारस मे जो शैव का प्रमुख अवस्थान है, बहुत ही कम महत्वपूर्ण हस्तलेख हैं। महत्वपूर्ण 'सिद्धान्त तथा' आगम यथष्ट संख्या मे हैं तथा उनमे से अत्यधिक हस्तलेख दक्षिण भारत मे हैं।[2] अनेक दृष्टान्तो म ऐसी ही रचनायें पूर्ण द्रविड भाषा म मिल सकती हैं, किन्तु प्रेरणा तथा विचार लगभग सदव ही संस्कृत से लिए गए हैं। अत द्रविड सभ्यता का सार, कम से कम जहा तक दर्शन का सम्बन्ध है लगभग पूर्ण रूप से संस्कृत से लिया गया है।

---

[1] संस्कृतै प्राकृतैर वाक्यैर यश्च शिष्यानुरूपत
देशभाषाद्युपायैश्च च बोधयेत् स गुरु स्मृत ।

शिव ज्ञान सिद्धि म उद्धरित शिव धर्मोत्तर (हस्तलेख संख्या ३७२६ ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, मैसूर।

[2] कुछ आगम इस प्रकार हैं—कामिक योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, अंशुमान, सुप्रभेद विजय निश्वास, स्वायम्भुव, वीर रौरव मकुट विमल, चन्द्र ज्ञान बिम्ब ललित सन्तान सर्वोक्त पारमेश्वर किरण वातुल, शिव ज्ञान बोध, अनल प्रोदगीत।

शिव ज्ञान सिद्धि मे हम अन्य आगमो तथा तन्त्रो से विस्तृत उद्धरण पाते है जो सिद्धान्तो की दार्शनिक तथा धार्मिक स्थिति स्पष्ट करते हैं। जिन रचनाओ से उद्धरण लिए गए हैं व इस प्रकार हैं—हिम संहिता, भित विश्व शिव धर्मोत्तर (पुराण), पौष्कर शिव तन्त्र, सव सतोपयास पारा, रत्न जय निवास मृगन्द्र, ज्ञान-कारिका, नाद कारिका, कालोत्तर विश्व-सारोत्तर, वायव्य मातग, शुद्ध, सर्व ज्ञानोत्तर, सिद्धान्त रहस्य ज्ञान रत्नावली मेरुतन्त्र, स्वच्छन्द तथा देवी-कालोत्तर।

उपर्युक्त बहुत से आगम संस्कृत पद्धति म लगभग ६ द्रविड भाषाओ मे लिखे गए है तमिल, तेलगु, कन्नड, अन्य तथा नन्द नगरी। आगमो पर आधारित अनेक तन्त्र संस्कृत रचनाओ म द्रविड लिपि म भी मिलते हैं। जहाँ तक पुस्तक लेखन का नाम है दार्शनिक महत्व का अथवा धार्मिक विचार धारा म कदाचित् ही ऐसा कुछ होगा जो द्रविड भाषा म प्राप्त हो तथा संस्कृत म न हो।

प्राचीन तमिल का अध्ययन यथेष्ट कठिन है तथा पोप एवं श्रामेरम के समान जिन्होंने तमिल का जीवनपर्यन्त अध्ययन किया है, उनके पास संस्कृत के अध्ययन का समय समुचित सीमा तक नहीं था। द्रविड भाषाओं से अपरिचित होने के कारण प्रस्तुत लेखक को लगभग पूर्ण रूप से संस्कृत साहित्य पर निर्भर होना पड़ा है परन्तु यह निश्चित करने की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया है कि विषय से सम्बन्धित द्रविड रचनाओं का उचित प्रतिनिधित्व संस्कृत हस्त लेखों में है।

आगमों की क्रमशः तिथियाँ निश्चित करना कठिन है। हम केवल यह सोच सकते हैं कि उपर्युक्त अनेक आगम नवीं शताब्दी तक पूर्ण हो गए थे। उनमें से कुछ शंकराचार्य के समय में वर्तमान थे जो आठवीं अथवा नवीं शताब्दी ई० में किसी समय थे। उपर्युक्त आगमों में से कुछ के नामों का उल्लेख कुछ पुराणों में भी है। पाशुपत सूत्र पर कौंडिन्य के भाष्य में अनेक अज्ञात उद्धरण हैं परन्तु उपर्युक्त आगमों के नामों का उल्लेख नहीं है। यद्यपि कुछ आगमों के नाम की ओर संकेत की आशा की जा सकती थी क्योंकि वे उसी विश्वास का भिन्न प्रकारों से विस्तार करते हैं। दूसरी ओर पाशुपत सूत्रों अथवा कौंडिन्य के भाष्य के नाम का उल्लेख आगमों ने किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि उत्तरकालीन लेखकों को कभी कभी पाशुपत का आगमी प्रणालियों से भ्रम हो गया हो उदाहरणार्थ वायवीय संहिता अथवा उत्तरकाल में अप्पय दीक्षित तथापि शंकर स्वयं केवल महेश्वरकृत सिद्धान्त के विषय में ही कहते है। वाचस्पति ने शैव मत के चार सम्प्रदायों की ओर संकेत किया है तथा माधव ने दक्षिणी शैव मत के दो सम्प्रदायों नकुलीश पाशुपत तथा शैवों की ओर संकेत किया है। इसके भी उत्तर काल में राजशेखर तथा गुणरत्न द्वारा स्थापित जैन परम्परा में हमें पाशुपत सम्प्रदाय के शिक्षकों की दीर्घ सूची मिलती है। वायवीय संहिता में हम अठाईस योगाचार्यों के नाम भी मिलते है जिनमें से प्रत्येक के चार शिष्य थे।

हमने पहले ही भाज के तत्व प्रकाश में सुरक्षित आगामी प्रणाली के सार की व्याख्या श्री कुमार तथा अघोर शिवाचार्य की टीका के साथ एक पृथक भाग में की है। माधव ने भी अपने सर्वदर्शन संग्रह में उपरोक्त आगमों तथा आगमी लेखकों में से कुछ के नाम का उल्लेख किया है।

शौमेरुस अपने 'द्र र शैव सिद्धान्त' में जिसमें उन्होंने विशेष प्रकार के शैव एक तत्ववाद का वर्णन किया है शैव मत के अनेक अन्य सम्प्रदायों के विषय में कहते हैं जिन्हें कि वह शिव ज्ञान बोध[1] की टीका में से चुनते है। शौमेरूस द्वारा व्याख्या

---

[1] वह उनको दो वर्गों में रखते है—(१) पाशुपत माव्रत वाद (सम्भवतः महाव्रत), कापालिक वाम भैरव एक्यवाद (२) ऊर्ध्व शैव अनादि शैव आदि शैव महाशैव भेद शैव, अभेद शैव अन्तर शैव गुण शैव निर्गुण शैव, अध्वन शैव योग शैव ज्ञान शैव, अणु शैव क्रिया शैव नालु पाद शैव शुद्ध शैव।

किया हुआ शव सिद्धात मत उन अनक शव विचारधाराओ म से एक है जो देश म प्रचलित था। शोमरुस का विचार पाशुपत वीर शैव तथा प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त यह मत लगभग समान ही है। ऐसा प्रतीत नही होता कि शोमरुस न आगमो के मूल ग्रथ का उपयोग किया है, तथा यह दर्शाया है कि वे किस प्रकार विषय पर आगे बढे हैं। किन्तु हमने अपने आगमी शव मत की व्याख्या म आगमो की रचनाओ का उपयोग करने का प्रयत्न किया है जो सम्पूर्ण अथवा आशिक रूप म अभी भी प्राप्त हैं। परन्तु आगमो का एक बृहत् भाग कमकाण्ड पूजा के रूप पूजा के स्थान के निर्माण तथा मन्त्रो की व्याख्या करता है। इनका कोई दाशनिक महत्व नही है, अत उनके विषय म विचार नही किया जा सकता तथा उनकी यहा उपेक्षा की गई है।

आगमी शव मत मुख्यत तमिल प्रदेश का पाशुपत गुजरात का प्रत्यभिज्ञा कश्मीर तथा भारत के उत्तरी भागो का है एव वीर शैव अधिकाशत कन्नड भाषी प्रदेशो म पाया जाता है। शोमरुस यह सकेत करते हैं कि कभी कभी यह कहा जाता है कि आगम ऐतिहासिक काल मे पूव द्रविड भाषाओ म लिखे गए थे तथा वे अपने उद्गम के लिए शिव की आकाशवाणी तथा तिनिवेल्ल प्रदेश म महेन्द्र पवत मे श्रीकठ रुद्र के रूप न दी के ऋणी हैं। बृहत् बाढ के कारण इन अट्ठाईस आगमो मे से अनेक नष्ट हो गए। शेष अब सस्कृत अनुवादो म प्राप्त है तथा द्रविड मूल रचनाओ म भी सस्कृत शब्द प्रचुर मात्रा म है। किन्तु इस मत को किसी प्रकार प्रमाणित नही किया जा सकता। शिव महापुराण की वायवीय सहिता तथा सूत-सहिता म आगमो का उल्लेख मिलता है।[1] उल्लेखो से यह प्रदर्शित होता है कि कामिक तथा अन्य आगम सस्कृत म लिखे गए थ क्योकि उनसे वेद सम्बन्धित साहित्य का निर्माण हुआ। प्रस्तुत लेखक का कामिक के अश सस्कृत उद्धरण म प्राप्त है इसी प्रकार मृगेन्द्र जो कामिक का एक भाग है सम्पूर्ण रूप म सस्कृत मे प्राप्त है। प्रस्तुत लेखक ने आगमी शैव मत क खड की सामग्री इन्ही आगमो स ली है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि स्वायम्भुवागम म एक निश्चित लेख है कि सस्कृत रचनाओ का प्राकृत तथा अन्य स्थानीय भाषाओ म अनुवाद हुआ था। अत हम यह विचारने के लिए विवश हो जाते हैं कि यह कथन कि आगम मूलत द्रविड भाषाओ म लिखे गए थे तथा तत्पश्चात्

---

[1] सूत सहिता भाग १ अध्याय २ म हम देखते हैं कि वेद धमशास्त्र पुराण महाभारत वेदाग उपवेद आगम जसे कि कामिक आदि कापाल तथा लाकुल पाशुपत साम तथा भ रवागम तथा ऐसे ही अन्य आगम, एक ही समान ऐसे वर्णित है कि वे सम्बन्धित साहित्य का निर्माण करते है। सूत-सहिता साधारणत छठी शताब्दी ई० की रचना मानी जाती है।

उनका अनुवाद संस्कृत मे हुआ था तमिल जाति का काल्पनिक देश भक्ति पूर्ण विश्वास ही प्रतीत होता है।

शामरूम ने अठाइस शवागमो के नामो का वर्णन किया है यद्यपि कहीं कहीं उनका अक्षर विन्यास अशुद्ध है।[1] वे आगे चौदह (धर्म संहिताओं में मूल लेखो) का उल्लेख करते हैं जो शैव सिद्धान्त शास्त्र की सामग्री का निर्माण करते हैं। वे तमिल में लिखे हुए हैं तथा केवल प्रस्तुत लेखक को ही उनमे अत्यन्त महत्वपूर्ण मेयकण्डदेव की शिव ज्ञान बोध के संस्कृत मूल लेखो की प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त है।[2]

मेयकण्डदेव शिव ज्ञान बोध रौरवागम से लिए हुए तार्किक स्वभाव का बारह पद्यो में संक्षिप्त सारांश है। इन बारह पद्यो की भी वार्तिक नाम की टीका है तथा अनेक अन्य उप टीकायें हैं। मेयकण्डदेव का वास्तविक नाम श्वेतवन था तथा उनके विषय मे अनेक काल्पनिक कथन हैं। एक महान् विद्वान अरुलनन्दि शिवाचार्य मेयकण्डदेव के शिष्य बन गए। मेयकण्डदेव के उत्तराधिकारी के रूप मे नम शिवाय देशिक पाचवें शिष्य थे तथा उमापति मेयकण्डदेव के तृतीय उत्तराधिकारी १३१३ ई० में वर्तमान थे। अत माना जाता है कि मेयकण्ड १३वीं शताब्दी के प्रथम तृतीय भाग में विद्यमान थे। उमापति पौष्करागम के भी लेखक थे।

शैव सिद्धान्त के सबसे प्राचीन तमिल लेखक तिरुमुलर हैं जो सम्भवत प्रथम शताब्दी ई० मे वर्तमान थे। एन पिल्ले द्वारा उनके लेखो के एक भाग का ही सिद्धान्त दीपिका मे अनुवाद किया गया है। मानिक्कवाचकर अप्पर ज्ञान सम्बन्ध तथा सुन्दर जो सम्भवत आठवीं शताब्दी में वर्तमान थे शैव सिद्धान्त के उत्तरकालीन

---

[1] कामिक, योगज चिन्त्य कारण अजित दीप्त सूक्ष्म अंशुमान सुप्रभेद विजय निश्वास स्वायम्भुव अनिल वीर रौरव मकुट, विमल चन्द्रहास मुख युग बिम्ब अथवा बिम्ब उद्गीत अथवा प्रोद्गीत ललित सिद्ध सन्तान नारसिंह, पारमेश्वर किरण तथा वातुल। प्रस्तुत लेख द्वारा इनमे से अनेक पहले ही वर्णित किए जा चुके हैं तथा इनमें से कुछ उसके संग्रह में हैं। शामरस कहते हैं कि यह नाम श्रीकंठ के भाष्य मे हैं परन्तु प्रस्तुत लेखक निश्चित है कि उसमें नहीं मिलते हैं।

[2] शामरस द्वारा उल्लिखित जो तमिल रचनाएँ शैव सिद्धान्त शास्त्र की समष्टि का निर्माण करती हैं वे इस प्रकार हैं शिव ज्ञान बोध, शिव ज्ञान सिद्धि इरुपविरुपधु तिरुवुन्तियर तिरुक्कलिरुप्पदियर उनमैविलक्क, शिव प्रकाश तिरुवरुट्पयन, विनाविन्द, पारिपन्नादई, कोडिक्कवि नेन्चु विदुतूतु, उन्मय रिविलक्क तथा सङ्कल्प निराकरण। बारह पद्यो की शिव-ज्ञान-बोध रौरवागम का सारांश मानी जाती है तथा इसकी आठ टीकाएँ हैं।

चार आचार्य हैं। तत्पश्चात् हम नम्पियाण्डार तथा सेक्किलर, शैव सिद्धान्त के दो प्रमुख लेखक मिलते हैं। इनमें से प्रथम की रचनाओं का एक संग्रह तमिल वेद के नाम से प्रचलित हुआ। सम्भवतः वह ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में वर्तमान थे।

दक्षिण के शैव मन्दिरों में अब भी तमिल वेद का उच्चारण होता है। वह ग्यारह पुस्तकों का संकलन है। प्रथम सात सूक्त के रूप में हैं। आठवीं पुस्तक तीन आचार्यों अप्पर, ज्ञान सम्बन्ध तथा सुन्दर की है नवीं में पुनः सूक्त हैं। दसवीं में भी हम तिरुमुलर के कुछ सूक्त पाते हैं। ग्यारहवीं पुस्तक के एक भाग में पौराणिक उपाख्यान हैं जो पेरिय-पुराण का मूल आधार निर्धारित करते हैं, जो तमिल सन्तों के बहुत महत्वपूर्ण तमिल उपाख्यानों का आधार है। ग्यारहवीं शताब्दी तक पुस्तक पूर्ण हो गई थी। तेरहवीं शताब्दी में शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय का शैव मत में एक सम्प्रदाय के रूप में, मेयकण्डदेव तथा उनके शिष्य अरुलनन्दि तथा उमापति के साथ उद्भव हुआ।

पोप के तिरुवाचक के अनुवाद में शामरम के शेर शैव सिद्धान्त तथा ए० एन० पिल्ले के लेखों में शैव मत का वर्णन (जितना भी तमिल मूल ग्रन्थों से संगृहीत हो सकता है) मिलता है। प्रस्तुत लेखक तमिल भाषा से अपरिचित है तथा उसने अपनी रचना सामग्री आगमों के मौलिक संस्कृत हस्तलेखों में संग्रहीत की है, जिसकी कि तमिल व्याख्या केवल एक प्रतिरूप है।

आगम साहित्य तथा उसका दार्शनिक स्वरूप

जो दार्शनिक विचार आगम साहित्य में मिलते हैं उनका संक्षिप्त सारांश शैव मत के अन्तर्गत सर्व दर्शन-संग्रह में है तथा उनकी प्रचुर विवेचना प्रस्तुत रचना के कुछ खण्डों में भी है। आगम साहित्य यथेष्ठ विस्तृत है परन्तु इसकी दार्शनिक उपलब्धि वस्तुतः गौण है। आगमों में कुछ दार्शनिक तत्व हैं परन्तु इनकी रुचि शैव पथ के धार्मिक विवरणों की ओर अधिक है। अतः हमें यथेष्ठ मात्रा में धार्मिक क्रियाओं, मन्दिरों के निर्माण के लिए शिल्प कला सम्बन्धित विधियों के विषय में विवरण एवं मन्त्र तथा शिव की प्राण लिंग प्रतिष्ठा से सम्बन्धित पूजा के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। फिर भी अधिकतर आगमों में विद्या पाद नामक पृथक भाग है जिसमें सम्प्रदाय के सामान्य दार्शनिक विचार प्रतिपादित हैं। जैसे जैसे हम एक आगम से दूसरे की ओर जाते हैं वैसे-वैसे इन मतों के वर्णन में कुछ भिन्नतायें मिलती हैं। यद्यपि इन आगमों में से अधिकतर अभी भी अप्रकाशित हैं तथापि वे भारत के विभिन्न भागों के लाखों व्यक्तियों द्वारा आचरित शैवमत के धार्मिक सार हैं। अतः एक स्वाभाविक अन्वेषण हो सकता है कि आगमों के मुख्य सिद्धान्त क्या हो सकते हैं। किन्तु यह एक ही प्रकार के सैद्धान्तिक विचारों की निरन्तर आवृत्ति दिए बिना नहीं दिया जा सकता। प्रस्तुत रचना वास्तव में मुख्यतः दर्शन के अध्ययन से

सम्बंधित है परन्तु क्योंकि शैव अथवा शाक्त विचारों का अध्ययन धार्मिक सिद्धान्तों से पृथक नहीं किया जा सकता जिससे वे अपृथक रूप से सम्बंधित हैं, अतः हम आगमों के केवल कुछ प्रतिरूप ही ले सकते हैं तथा उनमें प्राप्त विचारों के स्वरूप का निरूपण कर सकते हैं। ऐसा करने में हम पर आवृत्ति का आरोप लगाया जा सकता है किन्तु हम अत्यन्त महत्वपूर्ण आगमों में से कुछ के विषयों पर कम से कम एक द्रुत निरीक्षण करने के लिए इस आरोप का सामना करना ही होगा। आगे के विवरण से पाठक को महत्वपूर्ण आगमों में से कुछ के दार्शनिक पक्ष के साहित्यिक विषय पर निर्णय करने का अवसर मिल जायगा, जिससे शैव मत का भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं से आन्तरिक सम्बन्ध के विषय में विस्तृत दृष्टिकोण प्राप्त हो सकेगा।

सर्व दर्शन-संग्रह में मृगेन्द्रागम को बहुधा उद्धरित किया गया है। यह रचना कामिकागम की एक सहायक भाग कही गयी है जो प्राचीनतम आगमों में से एक मानी जाती है तथा जिसका उल्लेख 'सूत संहिता' में किया गया है जो सोलहवीं शता दी की रचना मानी जाती है। 'सूत संहिता' में कामिकागम का उल्लेख उसी सम्मान से किया गया है जो अत्यधिक प्राचीन मूल ग्रन्थों के युक्त हैं।

मृगेन्द्रागम[1] का आरम्भ इस तर्क में होता है कि किस प्रकार शैव पथ ने वैदिक प्रकार की पूजा का निष्प्रभाव किया। यह इंगित किया गया था कि वैदिक देवता साकार ठोस पदार्थ नहीं थे, किन्तु उनकी वास्तविकता मन्त्रों में थी जिनसे उनका स्वागत तथा पूजा होती थी एवं फलस्वरूप वैदिक पूजा शिव व शक्ति में स्थित साकार पूजा नहीं मानी जा सकती। परन्तु शिव के प्रति भक्ति पूजा की निश्चित तथा साकार विधि मानी जा सकती है। अतः वह वैदिक अभ्यासों को निष्प्रभावित कर सकता थी। रचना के द्वितीय अध्याय में शिव को समस्त अशुद्धि रहित रूप में वर्णित किया गया है। वह सर्वज्ञ है तथा सब वस्तुओं का निमित्त कारण है। उसे इसका पूर्ण ज्ञान है कि जीव किस प्रकार व्यवहार करेंगे तथा उसी के अनुसार वह सब प्राणियों का बन्धन की गाँठों में संयुक्त तथा पृथक करता है।

शैवागम सृजन पालन संहार सत्य तथा मोक्ष में आवरण की मुख्य समस्या का विवरण करता है। यह सब निमित्त कारण भगवान शिव द्वारा किया जाता है। इस दृष्टिकोण से संसार का सृजन पालन तथा संहार की योजना स्वाभाविक

---

[1] मौलिक हस्तलेख के आधार पर इस खंड को लिखने के पश्चात् प्रस्तुत लेखक को के० एम० सुब्रमनिया शास्त्री द्वारा १९२८ में प्रकाशित मृगेन्द्रागम् की विद्या तथा योगपाद की छपी पुस्तक भट्ट नारायण कंठ की 'मृगेन्द्रवृत्ति' नामक टीका तथा अघोर शिवाचार्य की 'मृगेन्द्र-वृत्ति दीपिका' नामक उपटीका के साथ प्राप्त हुई है।

ही महाप्रभु आरम्भ म करते है फिर भी वस्तुएँ प्राकृतिक गति मे अभिव्यक्त हाती है। हमारे अनुभव के ससार मे परिवतन, जीव के अवरकालीन कर्मों द्वारा स्थिर नहीं किए जाते है। परन्तु फिर भी मोक्ष प्राप्ति इस प्रकार याजित है कि उसे व्यक्तिगत प्रयत्ना के अतिरिक्त प्राप्त करना सम्भव नही है।

चेतना अनुभूति तथा स्वत क्रिया के स्वरूप की है (चैतन्यम् दृक् क्रिया-रूपम)। यह चेतना सदव आत्मा मे स्थित रहती है तथा इस चेतना के लिए प्रयुक्त पदार्थों म से कुछ का विवरण चर्या नामक अनेक धार्मिक नतिक आचारा के साथ किया गया है। वेदान्त सास्य, वैशेषिक बौद्धमत तथा जन मत का खडन करने वाली एक सक्षिप्त आलाचना भी है।

शवागम मानते हैं कि अपने शरीर तथा अन्य शरीरधारी वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से हम स्वाभाविक रूप से यह अनुमान लगाते हैं कि काई निमित्तकर्त्ता है जिसको ससार का कारण मानना पडेगा। कार्यों की भिन्नता स्वाभाविक रूप से कारण तथा उसके स्वभाव म भिन्नता का अनुमान करती है। कार्यो की सिद्धि विशेष निमित्ता द्वारा होता है। यह सब निमित्त एक आध्यात्मिक प्रकृति के हैं। वे शक्ति की प्रकृति के भी हैं। अनुमान म व्याप्ति कुछ दृष्टान्ता म साधारणत प्रत्यक्ष हाती है। परन्तु जिस दृष्टान्त म शिव का सृष्टि कर्त्ता के रूप मे निर्धारित करत हैं उसम हमारे पास वास्तविक अनुभव के कोई तथ्य नही हैं क्योकि शिव नि शरीर है। परन्तु यह माना जाता है कि शिव के शरीर की रचना कुछ मन्त्रो द्वारा रचित समझी जा सकती है। जब किसी को मोक्ष प्राप्त हाना होता है तब ईश्वर व्यक्ति की चेतना मे तमागुण के आवरण का निवारण कर देता है। जिनके तमस का निवारण हो जाता है व स्वाभाविक ही माक्ष के अन्तिम लक्ष्य के याग्य हो जाते हैं। उन्हे अपने विशेष गुणा की अभिव्यक्ति के लिए शिव की प्रतीक्षा नही करनी पडती है। हमने पहले हो देखा है कि शिव हमारी समस्त क्रियाओं का अभिव्यजक है।

समस्त बन्धना का उद्गम माहेश्वरी शक्ति' है जो सभी व्यक्तिया के उनके स्वय के आकार म विकसित तथा वृद्धि करने म सहायता दती है (सर्वानुग्राहिका)। यद्यपि अनेक दृष्टान्त एसे हा सकते है जिनम कि हम कष्ट भोगते हैं तथापि माहेश्वरी शक्ति सवलौकिक सवा के रूप की मानी जाती है। इसका स्पष्टीकरण इस विचार मे पाया जा सकता है कि प्राय कष्ट भोग करके ही हम अपना शुभ प्राप्त कर सकते है। शिव सदव हमारे शुभ के लिए शक्ति का सचालन करता रहता है यद्यपि मध्य वर्ती काल म हम दु ख ग्रस्त प्रतीत हा सकते है (धर्मिणोनुग्रहो नाम यत्तद्धमानु वतनम्)। भगवान की समस्त क्रियाएँ जीवा के हेतु हाती हैं अर्थात् उनका विवेकी बनाने के लिए तथा उनकी उन्नति के लिए जिसम अन्त म व अपने मला से मुक्त हा सकें।

भिन्न कारण शृंखलाएँ भिन्न प्रकार के कार्यों की शृंखलाएँ अभिव्यक्त करती हैं। शव मत सत्कार्यवाद स्वीकार करता है। अत समस्त कार्यों के अस्तित्व का मानता है। भिन्न प्रकार की शृंखलाओं का कार्यान्वित होना केवल उस रीति पर निर्भर है जिसमे कि कारण शृंखलाएँ अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रकार एक ही मल भिन्न प्रकार के व्यक्तियों म भिन्न आकारों मे प्रतीत होता है तथा विकास के भिन्न चरणों को सूचित करता है।

मल का पूर्ण ससार मे व्याप्त एक अपवित्र बीज माना जाता है जो ससार द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा अन्त मे नष्ट कर दिया जाता है। इन अभिव्यक्तियों द्वारा ही निमित्त कारण ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है (कर्ता नुमीयते यन जगद्धर्मेण हेतुना)। यह मल निर्जीव है क्योंकि ऐसा सिद्धान्त कार्यों के स्वभाव के अनुकूल है। मल के अनेक कारणों की अपेक्षा एक कारण की उपयुक्त कल्पना करना अधिक सुगम है। करघे की क्रिया स कपडे की रचना होती है। विविध सहायकों की क्रियाओं के अनुसार कपडे की रचना होती है। विविध सहायकों की क्रियाओं के अनुसार (द्रव्य रूप कपडा) अन्य रूपों म भी अभिव्यक्त हो सकता था क्योंकि समस्त काय वही हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति केवल सहायकों के व्यापार द्वारा ही हो सकती है। उत्पादन शक्ति के विचार की कल्पना करना कठिन है। यह कल्पना अधिक उचित है कि वस्तुएँ पहले म ही हैं तथा भिन्न प्रकार के कारणों की क्रियाओं द्वारा हमारे लिए प्रकाशित होती हैं।[1]

जीव सर्व-व्यापी हैं तथा उन्हें ईश्वर की शक्ति द्वारा अनन्त शक्ति प्राप्त है। केवल एक ही कठिनाई है कि मल के आवरण के कारण उन्हें सदव अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। शिव की क्रिया द्वारा ही यह आवरण इतने दूर हटा दिए जाते हैं कि जीव अपने को अपने अनुभवों के प्रति आकर्षित पाते हैं। ऐसा माया के क्षोभ से उत्पन्न ३६ कलाओं के साथ व्यक्तिगत चित्त के सयोग द्वारा होता है। हमने पहले ही भोज की तत्त्व प्रकाशिका के दशन की अपनी व्याख्या म इन ३६ पदार्थों के स्वरूप का विवरण किया है। इन पदार्थों द्वारा ही आवरणों को विदीर्ण करके पृथक कर दिया जाता है तथा व्यक्ति के अपने अनुभवों मे रुचि हो जाती है। कला का अर्थ किसी को भी प्रेरित करने से है। (प्रसारणम् प्रेरणाम् सा कुर्वति तमस कला)। अनुभव की समग्रता प्राप्त करने हेतु कलाओं से सयोजित होने के लिए

---

[1] मान्वय-व्यतिरेकाभ्यां रूढिना वाऽवसीयत
तद्व्यक्ति-जननम् नाम तत् कारक समाश्रयात्।
तेन तन्तु गताकार पटाकाराऽरोधकम्
वेमादिनाऽपनीयाथ पटापव्यक्ति प्रकाश्यत॥ —नवम् पटल

जीव को ईश्वर के अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, क्योंकि वह स्वयं अपने आप ऐसा करने के अयोग्य है। मनुष्य द्वारा किया गया कर्म भी प्रकृति में मिला रहता है तथा निर्यात के पदार्थ द्वारा कार्य उत्पन्न करता है।

शिव-ज्ञान-बोध

—लेखक मेयकण्डदेव

जैसाकि पहले ही इंगित किया गया है, यह रौरवागम से ली हुई १२ कारिकाओं (कभी कभी सूत्र कहलाते हैं) की एक संक्षिप्त रचना है। इसकी अनेक टीकाएँ हैं। इसका तमिल अनुवाद शिव ज्ञान सिद्धि विचारधारा की मूल रचना है। इसका स्पष्टीकरण अनेक योग्य लेखकों द्वारा हुआ है। शिव ज्ञान सिद्धि का सामान्य तर्क निम्न लिखित है—

नर मादा तथा अन्य अलिंग पदार्थों से पूर्ण संसार का एक कारण अवश्य होगा। इस कारण का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता वरन् अनुमान करना होगा। यह कल्पना की जा सकती है कि इसका सृष्टा है क्योंकि इसकी सृष्टि काल में हुई है। इसके अतिरिक्त संसार स्वयं गतिमान नहीं हो सकता अतः यह कल्पना की जा सकती है कि इसके पीछे कोई कारण होगा।

ईश्वर संसार का संहार-कर्ता है तथा वह मलों के उचित प्रक्षालनार्थ उन्हें उपयुक्त सुविधाएँ देने के लिए पुनः सृष्टि करता है। अतः स्थिति यह है कि यद्यपि उपादान कारण पहले से ही उपस्थित है तथापि संसार की सृष्टि तथा पालन के लिए एक निमित्त कारण आवश्यक है। प्रलय के समय जगदाभास मलों में लय हो जाती है। कुछ अवधि के पश्चात् शिव की निमित्तता द्वारा संसार पुनः उत्पन्न होता है। इस प्रकार, एक ओर, शिव संसार की सृष्टि करते हैं एवं दूसरी ओर इसका संहार करते हैं। यह कहा जाता है कि जिस प्रकार ग्रीष्म में सब जड़ें सूख जाती हैं तथा वर्षा में नए पौधों के रूप में उत्पन्न हो जाती हैं उसी प्रकार यद्यपि संसार नष्ट हो जाता है तथापि प्राचीन मलों के प्रभाव, प्रकृति में दब रहते हैं तथा उचित समय आने पर ईश्वर की संकल्पना शक्ति के अनुसार अपने को संसार सृष्टि के भिन्न आकारों में प्रकट करने लगते हैं। व्यक्तियों के शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुरूप सृष्टि को एक अनिश्चित क्रम लेना पड़ता है। यह सृष्टि चार तत्वों के मिश्रण से स्वतः नहीं हो सकती।

ईश्वर निमित्त कारण है जिसके द्वारा सृष्टि, पालन तथा संहार के कार्य होते हैं। मेयकण्डदेव का शैव मत शंकर के शुद्ध अद्वैतवादी सिद्धांत का पूर्ण विरोधी है। जीव को ब्रह्म का स्वरूप नहीं माना जा सकता। यह सत्य है कि उपनिषदों में जीव

तथा ब्रह्म दोनो ही स्वय प्रकाश तथा अन्तर नियन्त्रित माने गए है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जीव तथा ब्रह्म एक रूप है। निमित्त कारण एक है। पाश द्वारा बन्धे जीवो का अनन्त कारण अथवा ब्रह्मन् से एक रूप नही माना जा सकता।

एक व्यक्ति के कर्म स्वत कार्य उत्पन्न नही करते। ईश्वर के सकल्प के अनुरूप कार्य व्यक्ति से सयोजित है। कर्म स्वय निर्जीव है अत वे स्वत कार्य उत्पन्न नही कर सकते। समग्र कार्य साधन ईश्वर के कारण है, यद्यपि यह ईश्वर की अवस्था मे कोई रूपान्तर सूचित नही करता। किस प्रकार अपरिवर्तनशील मे परिवर्तन की उत्पत्ति बिना किसी प्रयत्न अथवा परिवर्तन के हो सकती है यह स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त लिया गया है। आकाश मे बहुत दूर सूर्य चमकता है तथा फिर भी उसकी ओर से बिना किसी विघ्न के पृथ्वी पर सरोवर मे कमल खिल जाता है। इसी प्रकार ईश्वर अपने स्वय प्रकाश मे स्थिर रहता है तथा प्रकट रूप मे ससार मे परिवर्तन स्वत उत्पन्न होते है। ईश्वर समस्त प्राणियो के अन्तर मे तथा उनके द्वारा जीवित एव गतिशील होता है। केवल इसी अर्थ मे ससार ईश्वर के साथ एकरूप है तथा उस पर निर्भर है।

आत्मा 'यह अथवा वह है' ऐसे कथनो का निषेध ही स्ववेदना द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। इसके द्वारा हम एक निरुपाधिक आत्मा के अस्तित्व की कल्पना कर लेते है क्योकि ऐसी आत्मा विशिष्ट नही हो सकती। यह सुगमता से देखा जा सकता है कि ऐसी आत्मा बाह्य अवयव अथवा आन्तरिक अवयव अथवा मनस मे से किसी के समान नही हो सकती।

आन्तरिक अवयवो मनस तथा इन्द्रियो से आत्मा भिन्न है परन्तु फिर भी समुद्र के समान यह सब यथार्थता का सम्मिलित दृष्टिकोण निर्माण करते हुए माने जा सकते है। लहरें तरगें फेन तथा वायु एक सम्पूर्णता का निर्माण करते हैं यद्यपि वास्तव मे वे परस्पर भिन्न है। मल जो मुख्यत माया मे निहित माने जाते हैं स्वाभाविक हो हमारे शरीर मे लिप्त रहते है जो माया की उत्पत्ति है तथा वहाँ होते हुए समग्र वस्तुओ के उचित स्वरूप तथा उचित दृष्टि को दूषित कर देते हैं। वह टीकाकार जिनका नाम अज्ञात है चुम्बक तथा लौहचूर्ण का उदाहरण बिना अपने मे परिवर्तन लाए हुए ईश्वर की ससार पर क्रिया का स्पष्टीकरण करने के लिए उपस्थित करते हैं। यह शिवशक्ति हम मे तथा हमारे माध्यम से कार्य करती है और इसी के द्वारा हम कार्य कर सकते है एव अपने कर्मों के अनुसार ही हम उनके फल प्राप्त कर सकते हैं।

शिव का ज्ञान अनुमान द्वारा उस कारण के रूप मे हो सकता है जो न दृश्य है न अदृश्य। उसका अस्तित्व केवल अनुमान द्वारा ही ज्ञात हो सकता है। अचित शिव के निकट से जाता है परन्तु उनको प्रभावित नही करता इस प्रकार शिव जगदाभास

स पूर्णत अज्ञात है। केवल जीवों का ही संसार तथा शिव दोनों का ज्ञान है।[1] जब एक सत तीन प्रकार की अशुद्धियाँ—आणव, मायिक तथा कार्मण मल से मुक्त हो जाता है, तब जगदाभास उसके नेत्रों से अदृश्य हो जाता है तथा वह शुद्ध प्रकाश से एक हो जाता है।

सुरन्ताचार्य ने अपनी "व्याख्यान कारिका" में उपरोक्त विचारों की आवृत्ति की है परन्तु वह यह मानते हैं कि शिव अपने सर्वज्ञान द्वारा समस्त संसार एवं समस्त प्राणियों के विषय का ज्ञान रखते हैं परन्तु वह उनसे प्रभावित नहीं होते।[2] एक अज्ञात लेखक की एक अन्य अपूर्ण टीका जिन्होंने मृगेन्द्र पर मृगेन्द्रवृत्ति दीपिका नामक टीका लिखी, जो कभी-कभी स्वायम्भुवागम तथा मातंग-परमेश्वर आगम की ओर संकेत करती है पशुपति पाश विचार प्रकरण नामक रचना में शिव ज्ञान बोध के मुख्य प्रकरणों का विवरण करती है।

पशु की परिभाषा अशुद्धियों में बद्ध चेतना (चिन्मात्र) के रूप में की गई है। पशु जन्म तथा पूर्व जन्म की शृंखला सहन करता है तथा आत्मन के नाम से भी जाना जाता है। यह दिक तथा काल में सर्वव्यापी है। शुद्ध चेतना ज्ञान तथा क्रिया के स्वभाव की है। आगम यह विश्वास नहीं करते कि आत्मा एक है। भिन्न प्रकार के मलों में अपने संयोजन द्वारा जो उसमें अनादिकाल से लिप्त हैं यह शुद्ध चेतना ही है जो परस्पर भिन्न प्रतीत होती है।[3]

इसके शरीर में काल से प्रारम्भ होकर स्थूल पदार्थ तक समग्र तत्त्व सम्मिलित हैं। आत्मा अनीश्वर कहलाती है क्योंकि इसका सूक्ष्म शरीर हो सकता है किन्तु स्थूल नहीं, जिससे कि यह अपनी इच्छा का उपभोग करने में असमर्थ है। आत्मा निष्क्रिय मानी जाती है। जबकि वह ज्ञान तथा त्याग द्वारा समस्त क्रिया का परिहार करता है, तब भी शरीर पूर्व संस्कार की क्रमबद्ध प्रवृत्तियों के कारण जीवित रहता है। (तिष्ठति संस्कार वशात् चक्र-भ्रमवद् धृत शरीर)। यद्यपि आत्माएँ अनेक हैं तथापि उनका सामान्य अर्थ में एक वचन में पशु कहा जाता है।

मल, पाश में सम्मिलित माना जाता है अत वह भिन्न पदार्थ नहीं है। शुद्ध आत्म चेतना मल अथवा अशुद्धि से सर्वथा भिन्न है। तब मल किस प्रकार शुद्ध चेतना

---

[1] नाचित् चित् सन्निधौ किन्तु न वित्तस्त उभे मिथ।
प्रपञ्च शिवमार वेत्ता य स आत्मा तयो पृथक्॥

[2] शिवो जानाति विश्वकम्
स्व भाग्य त्वन तु परम् नव जानाति किंचन।

[3] अनेक मलयुक्ता विज्ञान केवल उक्त। सम्मूढ इत्यनेन प्रलयेन कलादर उपसहृतत्वात् सम्यक् मूढा। पशुपति-पाश विचार प्रकरण (अड्यार पुस्तकालय हस्तलेख)।

की शुद्धता को प्रभावित कर सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार निर्मल सुवर्ण के मल से संयुक्त होने पर भी सुवर्ण की प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं पडता, उसी प्रकार शुद्ध चेतना जो हममे शिव का निर्माण करती है शुद्ध रह सकती है यद्यपि चाहे वह अनादि काल से मल से ढकी हो। अत आत्मा के रूप में शिव के स्वरूप पर मल का प्रभाव नहीं होता।

मल केवल ज्ञान द्वारा नहीं वरन् शैव मत के उचित गुरु से उचित दीक्षा द्वारा, शिव के अनुग्रह से हटाए जा सकते हैं। मल द्रव्य के स्वरूप का होने के कारण केवल ईश्वर की क्रिया द्वारा ही हटाया जा सकता है। केवल ज्ञान इसको नष्ट नहीं कर सकता। अनादि होने के कारण मल अनेक नहीं एक है। भिन्न प्रकार के कर्मों के अनुसार मलों के पृथक तथा भिन्न प्रकार के बंधन हैं। मल द्वारा रचित विभिन्न विशेष शक्तियां तथा दुर्बोधताएं भिन्न जीवों में भिन्नता लाने का कार्य करती हैं जो सब मूलत शिव है। मोक्ष का अर्थ कोई रूपान्तर नहीं वरन् विशेष मलों का हटाना है जिसके संदर्भ में भिन्न व्यक्तिपरक सत्ताएं जीवों के रूप में जन्म पुनर्जन्म के काल से होकर निकल रही हैं। जब उचित गुरु की सहायता से शैव दीक्षा ली जाती है तब शिव का कार्य इसको हटाना है।[1]

मलों में धर्म तथा अधर्म हैं तथा ये कर्म अथवा माया के कारण हो सकते हैं वे पाशों का निर्माण भी करते हैं। यह आगम मृगेन्द्रागम का उल्लेख करता है जिसके सिद्धान्त यह पाश मल आदि के स्वभाव के वर्णन में मानता है। वास्तव में पाश शिव की तिरोधान शक्ति है। पाश तीन प्रकार के हैं—(१) सहज वे मल जिनसे हम अनादि काल से संबंधित हैं तथा जो मोक्ष तक रहते हैं (२) आगंतुक अर्थात् हमारी समस्त इन्द्रियां व इन्द्रिय पदार्थ तथा (३) संसर्गिक अर्थात् वे जो सहज तथा आगंतुक मल के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं।

हमारे अनुभवों की सृष्टि तथा अभिव्यक्ति ईश्वर द्वारा प्रकाशित हमारे कर्मों के अनुसार होती है। जिस प्रकार खेत में बोए हुए बीज प्रत्येक किसान के लिए एक ही प्रकार की उपज उत्पन्न नहीं करते उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म होते हुए भी ईश्वर द्वारा अभिव्यक्त भिन्न प्रकार के फल हम प्राप्त हो सकते हैं। कर्म तथा अन्य पदार्थों को जो सभी निर्जीव हैं अत केवल ईश्वर की संकल्प शक्ति द्वारा ही भिन्न प्रकार के फल हमारे लिए अभिव्यक्त होते हैं। अत शैव विचारधारा सत्कार्यवाद सिद्धान्त को मानती है तथा ईश्वर को अभिव्यंजक अथवा हमारे समग्र अनुभवों तथा कर्मों का अभिव्यक्ता मानती है।

---

[1] एवाच पाशापनयनाद् आत्मन सर्व ज्ञत्व-सर्वकर्त्तृ वात्मक शिवत्वाभिव्यक्तिरेव मुक्ति दशायाम् न तु परिणाम-स्वरूप विनाश ।

मातंग-परमेश्वर-तंत्र

शैव शास्त्र त्रिपदार्थ तथा चतुष्पाद के रूप में नहीं वरन् षट्पदार्थ यथा चतुष्पाद के रूप में वर्णित है। सदाशिव ने इसे पहले एक करोड़ पद्यों में लिखा था तथा अनंत ने इसे एक लाख पद्यों में संक्षिप्त किया। तत्पश्चात् इसे तीन हजार पांच सौ पद्यों में और भी अधिक संक्षिप्त कर दिया गया। छः पदार्थ इस प्रकार हैं—(१) पति (२) शक्ति (३) त्रिपदार्थ (४) पशु (५) बाध तथा (६) मंत्र।

शक्ति के द्वारा ही शक्ति के अधिकारी पति का अनुमान कर सकते हैं। अनुमान में हम कभी-कभी गुण के अधिकारी से गुण का तथा कभी-कभी कार्य से कारण का अथवा कारण से कार्य का अनुमान करते हैं। कभी-कभी किसी वस्तु का अस्तित्व 'वेदों' के प्रमाण के आधार पर सत्य मान लिया जाता है। शिव के शरीर से जो मंत्रों के रूप का है बिन्दु के आधार में शक्ति नीचे की ओर उत्पन्न होती है जो बाद में संसार रूप में विकसित हो जाती है।[1] शिव बिन्दु में प्रवेश करते हैं तथा उनका सृष्टि के भिन्न प्रकारों में प्रकट करते हैं। जीवों के कर्म तथा गुण में भिन्नता होने के कारण संसार में अनेकता है, जहां जीवों का धारण-कर्ता तथा कर्मों को धारणीय वस्तु के रूप में मान सकते हैं। जीव अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं तथा उन्हें शुभ अथवा अशुभ फलों को झेलना पड़ता है। ईश्वर संसार का सृष्टि, पालन तथा संहार का नियंत्रक है। वह संसार का निमित्त कारण है तथा शक्तियाँ उपादान कारण हैं, जो संसार की समवायी कारण मानी जा सकती हैं। यह संसार माया की उत्पत्ति है। जिस प्रकार सूर्य अथवा चन्द्रमा की किरणें पुष्पों को बिना किसी विघ्न के स्वतः खिलने के लिए प्रेरित करती हैं, उसी प्रकार शिव अपने सामीप्य से संसार को अभिव्यक्त करता है।

सात सहज मलों की निम्नांकित रूप में गणना की गई है—(१) मोह (२) मद (३) राग (४) विषाद (५) शोष (६) वैचित्त्य तथा (७) हर्ष।

कलाएँ माया से उत्पादित हैं तथा माया के संयोजन से वे अपना कार्य करती हैं, *जिस प्रकार धान के बीज छिलकों के संयोजन से ही जिनमें वे बन्द रहते हैं—अंकुर उत्पन्न कर सकते हैं।*

जैसे-जैसे आत्माएँ संसार में से निकलती हैं वे कलाओं द्वारा सांसारिक वस्तुओं पर अनुरक्त हो जाती हैं यह संयोजन वासना द्वारा और भी अधिक दृढ़ हो जाता है इस प्रकार आत्माएँ समग्र उपभोगों पर अनुरक्त हो जाती हैं तथा यह राग कहलाता है। समग्र अनुरक्तियों के साथ दुःख है अतः इंद्रिय सुखों से विरक्ति सुख की अत्युत्तम प्राप्ति की ओर ले जाती हैं।

---

[1] यहाँ परम्परागत विश्वास है कि मंत्र देवता के शरीर की रचना करते हैं।

काल और नियति के रूप का विवरण उसी प्रकार का है, जिस प्रकार शैव सिद्धान्त की अन्य पुस्तकों में है।

माया ईश्वर में से इसकी सूक्ष्म शक्ति के व्यक्त रूप में निकलती है तथा वहाँ से माया प्रधान का विकास करती है, जो अपनी प्रथम अवस्था में केवल सत्ता है। तत्पश्चात् अन्य पदार्थ इसमें से विकसित होते हैं तथा पुरुष के अनुभव के लिए सामग्री की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार पुरुष तथा प्रकृति पदार्थों तथा अनुभवों के विकास में परस्पर सहायता देते हैं।

अहंकार आत्मा को इन्द्रियों में तथा उनसे संयुक्त करता है तथा उनके कार्यों के रूप में व्यापार करता है। अहंकार की तन्मात्रा में तथा उनसे नियुक्ति के विषय में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रकार अहंकार समस्त मानसिक स्थिति की एकता का प्रदर्शित करता है। अहंकार वृक्ष, पौधा आदि में भी सुप्त अवस्था में उपस्थित रहता है।

पौष्करागम

पौष्करागम में ज्ञान की परिभाषा शिव में अन्तर्निहित शक्ति के रूप में की गई है। छः वर्णित पदार्थ इस प्रकार हैं— पति कुण्डलिनी माया पशु पाश एवं कारक शक्ति के तीन कार्य, लय, भोग तथा अधिकार हैं। मनुष्यों के कर्मों द्वारा उत्पादित माया उन तत्वों की पूर्ति करती है जिनसे अनुभव के पदार्थ तथा अनुभव का निर्माण होता है। पशु वह है जो अनुभव तथा प्रतिक्रिया करता है। कला से प्रारम्भ होकर क्षिति (पृथ्वी) तक के तत्व वास्तविक सत्ताएँ हैं। लय बन्धन कहलाता है तथा पंचम तत्व माना जाता है। छठा तत्व मुक्ति भुक्ति, व्यक्ति फल क्रिया तथा दीक्षा सबके संयोग के तुल्य है। बिन्दु तथा अणु वास्तविक सत्ताएँ हैं। जब अनेक रूप सृष्टि बिन्दु में संकुचित हो जाती हैं तब वह अवस्था होती है जिसमें शिव लय कहलाते हैं। मौलिक अवस्था में सदृश परिणाम के प्रकार के कम होते रहते हैं। शिव विस्पष्ट चिन्मात्र तथा व्यापक के रूप में वर्णित है। वह स्वयं अचल रहते हैं केवल उनकी शक्तियाँ ही कार्य कर सकती हैं। जब बिन्दु में शक्तियाँ कार्य करने लगती हैं तब बिन्दु अनुभव के तत्वों के योग्य हो जाता है। बिन्दु की यह अवस्था जिसमें शिव प्रतिबिम्बित होता है सदाशिव कहलाती है। वास्तव में इस अवस्था में भी शिव में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जब शक्तियाँ क्रियाओं की अवस्था में होती हैं तब सृष्टि की अवस्था होती है तथा उसका अनुभव भोग कहलाता है।

प्रश्न उठता है कि यदि स्वयं बिन्दु सृष्टि में क्रियान्वित है तब उसका शिव से सम्बन्ध अतिशय हो जाता है। दूसरी ओर यदि बिन्दु शिव द्वारा गतिमान क्रिया के लिए चलायमान होता है, तब शिव परिवर्तनशील हो जाता है। इसका उत्तर है कि

एक कर्ता किसी पदार्थ को दो प्रकार से प्रभावित कर सकता है या तो अपनी सरल कामना द्वारा अथवा अपने व्यवस्थित प्रयत्नों द्वारा, जैसे कि कुम्हार द्वारा घड़ा बनाने के दृष्टान्त में। शिव, बिन्दु को केवल अपने सङ्कल्प द्वारा गतिशील करता है। अतः उसमें परिवर्तन नहीं होता। कुम्हार की क्रिया के दृष्टान्त में भी शिव की इच्छा के द्वारा ही कुम्हार क्रिया कर सकता है। अतः शिव जीवित सत्ताओं अथवा निर्जीव पदार्थों की समग्र क्रियाओं का एक मात्र कर्ता है।

यह कहा जा सकता है कि शिव सर्वथा निरुपाधित है, अतः वह बिना किसी परिवर्तन के एकमात्र कर्ता रह सकते हैं। अन्य परीक्षात्मक उत्तर यह है कि शिव की उपस्थिति में बिन्दु बिना किसी कारण क्षमता के कार्य आरम्भ कर देता है। (पुरुष की उपस्थिति में प्रकृति की गतिशीलता से तुलना कीजिए)।

कभी कभी बिन्दु कालातीत के रूप में वर्णित किया गया है तथा अन्य समय सृष्टि के उपादान कारण के रूप में। इस कठिनता की व्याख्या इस कल्पना पर की गई है कि बिन्दु का एक भाग कालातीत है तथा अन्य भाग संसार का उपादान कारण होने के लिए उत्तरदायी है। बिन्दु तथा शिव से सम्मिलित तीसरा तत्व ईश्वर कहलाता है। केवल अपनी उपस्थिति द्वारा ही शिव बिन्दु में हलचल उत्पन्न करता है। इस प्रकार शिव केवल निर्जीवों की घटनाओं का ही निमित्त कारण नहीं है वरन् वह मानव शरीर के समग्र कर्मों के लिए उत्तरदायी है, जो मानव इच्छा शक्ति द्वारा उत्पादित प्रतीत होती है।

ज्ञान तथा कर्म मूलतः अभिन्न हैं तथा इसी कारण जब कर्म (व्यापार) होते हैं हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि मानो हम इन कर्मों (व्यापारों) के कर्ता हैं। इस प्रकार कर्म का जो तत्व अपने को व्यक्त करता प्रतीत होता है, कर्म से कुछ अधिक है तथा वह अधिकारी क्रिया कहलाता है। क्रिया तथा जिस पर क्रिया की जाती है गुण-सङ्कल्प के फल हैं। शिव चित् शक्ति के रूप में स्थिर है, जो समग्र शक्तियों को गतिशील करता है। जिस प्रकार सूर्य दूर से कमल को बिना किसी वास्तविक बाधा के खिला देता है।

अपनी दार्शनिक स्थिति में पुनः स्पष्टीकरण के लिए शिव कहते हैं कि बिन्दु का एक भाग अनिवार्यी (कालातीत) अवस्था में है जबकि अन्य भाग सृष्टि क्रिया के लिए उत्तरदायी है। यह दूसरा तत्व अर्थात् बिन्दु का निम्न अंश माया शिव द्वारा गतिशील किया माना जाता है। बहुधा शक्तियों का वर्गीकरण भिन्न नामों के अन्तर्गत भिन्न कार्यों में सम्पादन के रूप में होता है। शक्ति तथा शक्तिमान एक ही हैं। उनके पृथक कार्यों के अनुसार केवल उनका भिन्न वर्गीकरण किया गया है।

चेतन सत्ता की क्रिया अथवा हस्तक्षेप के बिना निर्जीव संसार अक्रिय है। वह चेतन सत्ता भगवान शिव है। गाय के स्तन से दूध भी गाय की बछड़े के प्रति ममता

के कारण निकलता है। लोह चूर्ण का चुम्बक के प्रति आकर्षण का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वहां एक व्यक्ति भी है जो चुम्बक को लोहचूर्ण के समीप लाता है।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पुरुष स्वयं क्रियाशील कर्ता माने जा सकते है, क्योंकि आस्ना के अनुसार वे भी ईश्वर के सकल्प द्वारा क्रिया के लिए गतिमान होते हैं।[१]

जगदाभास असत्य अथवा प्रातिभासिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह माया नामक एक सामान्य वस्तु के द्रव्य से बना है जो बाद में भिन्न प्रकार के सत्व, रजस एव तमस नामक कार्य करते हुए अनुमान किया जाता है। माया तत्व समग्र कर्मों का कोष है। परन्तु फिर भी सब व्यक्ति अपने समग्र कर्मों के फलों का लाभ नहीं पाते हैं। उन्हे किसी अन्य सत्ता पर अपने कर्मों के उचित फलों के लिए निर्भर रहना पडता है। यहां पर ईश्वर कर्म के फलों के अन्तिम दाता के रूप मे आता है।

मल सदैव समग्र आत्माओं से सम्बन्धित है। आगम अन्य विचारधाराओं, जैसे चार्वाक तथा शंकर के एक सत्तावाद के प्रमाण मीमांसा सम्बन्धी विचारों के खडन का प्रयत्न करते हैं। आगम यह मानते हैं कि, क्योंकि आत्माएं नित्य है, नित्य अपरिवर्तनशील कारण के हेतु उनका ज्ञान भी नित्य होना चाहिए। मल के विभिन्न आवरणों से व्यक्तियों के ज्ञान में अस्पष्टता होने के कारण उनके ज्ञान मे अन्तर हो जाता है। ज्ञान का मौलिक कारण सर्व व्याप्त है तथा सब व्यक्तियों में समान है।[२]

आत्मा का साक्षात्कार अपने तथा दूसरों के प्रकाशन के रूप में होता है। यदि यह कल्पना की जाय कि आत्मा बुद्धि द्वारा प्रतिबिम्बित होती है तब बुद्धि भी चेतन आत्मा मानी जा सकती है। अत बुद्धि में चेतना के प्रतिबिम्ब की स्थिति के स्पष्टीकरण का विचार भी असफल हो जाता है। पुन चेतना का बुद्धि में यह प्रतिबिम्ब चेतन तत्व नहीं माना जा सकता। यह भी उल्लेख किया जा सकता है

---

[१] विवादाध्यासितम् विश्वम् विश्व वित् कर्तृ-पूर्वकम्
कार्यत्वाद् आवयो सिद्धम् कार्यम् कुम्भादिकम् यथा। —प्रथम पटल

[२] तच्चेह विभुधर्मत्वान न च क्वाचित्कमिष्यते
नित्यत्वमिव तेनात्मा सर्वार्थ दृक् क्रिय ।
ज्ञातृत्वमपि यद्यस्य क्वाचित्क विभुता कुत
धर्मिणो यावती व्याप्तिस्तावद् धर्मस्य च स्थिति ॥
यथा पटस्थित शौक्ल्य पट व्याप्याखिल स्थितम्
स्थित व्याप्यैव आत्मान ज्ञातृत्व अपि एवम्
न च निर्विषय ज्ञान परापेक्ष स्वरूपत ॥ —चतुर्थ पटल

कि चेतना, आत्मा के रूप म बुद्धि म प्रतिबिम्बित नहीं हो सकती है जो आध्यात्मिक मानी गई है। चेतना का बुद्धि म तथा बुद्धि का चेतना म परस्पर प्रतिबिम्ब का विचार भी अप्रत्याशित है। अत यह स्वीकार करना पडेगा कि नित्य सत्ता के रूप म आत्मा, समग्र वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण करती है तथा अपनी इच्छानुसार काय कर सकती है। यदि तत्व के गुण स्थायी अथवा अस्थायी रूप म निहित हो तब तत्व म यह निहितता यथास्थित स्थायी अथवा अस्थायी रूप मे जो भी हो होगी। अत आत्मा की चेतना को प्राणी के अस्तित्व के साथ सहअस्तित्व मानना चाहिए। आत्माएँ अणु के आकार की होती हैं अत पूण शरीर मे व्याप्त नही हो सकती। हमने पहले ही कहा ह कि आत्मा अपने प्रकाशन म अय वस्तुओ का भी प्रकाशन करती है। इस सम्बध म हम यह स्मरण रखना होगा कि अग्नि के समान सत्ता अपनी शक्ति स विभिन्न नही की जा सकती।

पुन प्रत्यक्षीकरण किए गए पदाथ केवल अज्ञान नही कहे जा सकते क्योकि कोई केवल अज्ञान के साथ व्यवहार नही कर सकता जिस प्रकार बिना घडे के कोई जल नही ला सकता। जिन वस्तुओ का हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं व वास्तविक सत्ताएँ हैं। यह अज्ञान प्रागभाव के अथ म नहीं लिया जा सकता क्योकि तब इसका अथ ज्ञान के अय उद्गम से होगा, अथवा इसका स्पष्टीकरण अयथाथ ज्ञान के रूप म किया जा सकता है। यह अशुद्ध ज्ञान आकस्मिक अथवा स्वाभाविक माना जा सकता है। यदि यह आकस्मिक अथवा स्वाभाविक है तब यह किन्ही कारणो के हेतु ही होगा, अत, इसका अशुद्ध ज्ञान नही माना जा सकता। यदि यह अशुद्ध ज्ञान केवल कदाचित् ही उदित होता है तब यह यथाथ ज्ञान का व्याघात नही कर सकता। साधारणत कोई वादी की भ्रान्ति का शख क ज्ञान का व्याघाती होने की आशा नही कर सकता है।[1] इसी कारण आत्मा जिसका अनुभव साक्षात् सव स्वतत्र रूप म होता है, केवल सीमित ज्ञान रखती हुई नही मानी जा सकती। आत्माओ द्वारा प्राप्त सीमित ज्ञान का आभास अवश्य हो उनके मल से समागम के कारण होगा। चेतना की शक्ति नित्य है अत इसके रूप म मल के समागम से बाधा नही डाली जा सकती जो धम तथा अधम से उदित अनुभव का निर्माण कर सकता है। मल सात प्रकार के माने जाते हैं तथा अपने म मद मोह आदि की उत्तेजनाएँ सम्मिलित करते हैं। यह मत आत्माओ मे स्वाभाविक माने जाते हैं। मोह का मल अनेक आकारो जैसे-पत्नी, पुत्र धन आदि के प्रति अनुरक्ति म व्यक्त होता है।

केवल आध्यात्मिक ही अनाध्यात्मिक का व्याघात कर सकता है। दो आध्यात्मिक अथवा अनाध्यात्मिक सत्ताएँ परस्पर व्याघात नही कर सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा की व्याघाती नही हो सकती।

---

[1] कि चतद यथा ज्ञानम् न सम्यग ज्ञानबाधकम् —चतुथ पटल

यदि मलों का आत्माओं से समागम अनादि माना जाय तब वे किस प्रकार आत्मा के रूप का आवरण करेंगे तथा इस आवरण का रूप क्या होगा ? यह नहीं कहा जा सकता कि इस आवरण का अर्थ जो पहले से ही प्रकाशित है उसका ढकना है क्योंकि तब प्रकाश रूप सत्ता के प्रकाशन की दुर्बोधता का अर्थ इसका नष्ट करना होगा। इसका उत्तर है कि मलों द्वारा चित शक्ति का आवरण नहीं हो सकता। मल केवल उसका कार्य रोक सकते हैं।

शक्ति की परिभाषा अव्यवहित अनुभूति तथा क्रिया के रूप में की है। यदि ऐसा है तब शक्ति ज्ञेय वस्तुओं से सम्बन्धित हैं। तब वस्तुएँ किस प्रकार शक्ति से भिन्न हो सकती हैं ? उत्तर में यह कहा गया है कि अनुभूति ज्ञान तथा क्रिया (दृक् क्रिया) अर्थात् शक्ति दृक् तथा क्रिया के रूप में संयुक्त रहती है। वे एक में अविभाज्य सम्बन्धित हैं तथा यह हमारे विचारने के लिए है कि हम उन्हें दृक् तथा क्रिया में विभाजित समझें।[1] विशेष वस्तुओं का निर्देश करने वाले सभी शब्द दूसरों के लिए हैं तथा मल वे आवरण में हैं। मल के दमन से शक्ति इन्द्रिय पदार्थों की ओर से विमुख हो जाती है। इस प्रकार मल चिच्छक्ति के विरुद्ध कार्य करता है जिसमें मल आत्मा के सर्व ज्ञाता स्वरूप का दुर्बोध कर देते हैं।

पाँचवे अध्याय में आगम भिन्न प्रकार के पाशों की व्याख्या करते हैं। यह पाश कला अविद्या राग काल तथा नियति है। यह पाँच तत्त्व माया से प्रवृत्त माने जाते हैं। चेतना स्वयं इन कलाओं द्वारा दर्शाती है। चेतना, अनुभूति ज्ञान तथा कार्य शक्ति चेतना से सम्बन्धित है। आत्मा की चेतना को कलाएँ केवल आंशिक रूप में ही प्रतिबिम्बित करती हैं। यह प्रतिबिम्ब व्यक्ति के कर्मों के अनुरूप कार्यान्वित होता है।

ज्ञान शक्ति की क्रिया तथा ज्ञेय पदार्थों के कारण समग्र अनुभव होते हैं। विशिष्ट रूप में यह ग्राहक अथवा ग्राह्य कहलाता है। चेतना से समागम के द्वारा कलाएं वस्तुओं को समझने का कार्य करती प्रतीत होती हैं। कला से विद्या आती है। कला काल तथा दिक् के रूप में अनुभव के आधार की पूर्ति करती है। तत्पश्चात् बुद्धि के अन्य तत्त्व भी विकसित होते हैं तथा हम बुद्धि का प्रत्यय निश्चित निर्णय के रूप में मिलता है। इस प्रकार भिन्न तत्त्व जैसे कि अहंकार अथवा अभिमान आदि उत्पन्न होते हैं। चेतना के अतिरिक्त, जो उन्हें उत्पन्न करती हैं वे स्वयं में चेतन नहीं होते।

अपनी वासनाओं के अनुरूप बुद्धि अपने पृथक आकारों में अभिव्यक्त होती है। उनकी पूर्ण गणना मूल ग्रन्थों में दी गई है परन्तु हम उन्हें छोड़ देंगे क्योंकि वे

---

[1] अविभागस्य भागात्तौ तद् विभाग उपाधित। —चतुर्थ पटल

दाशनिक महत्व के नही हैं। किन्तु उनमे विभिन्न सहज प्रवृत्तियो तथा भ्रांतियो का समावेश है जिनकी गणना सारय तथा अन्य स्थानो म की गई है।

कठिनाई यह है कि बुद्धि तथा अहकार एक ही क्षेत्र की पूर्ति करते प्रतीत होते हैं। तब बुद्धि की अहकार से भिन्नता किस प्रकार सम्भव होगी ? इसका उत्तर यह है कि जब कोई वस्तु निश्चित इस या उस रूप मे ज्ञात होती है तब वह बुद्धि की अवस्था है। परन्तु अहकार की अवस्था मे हम ज्ञाता के रूप मे व्यवहार करते प्रतीत होते हैं तथा हमारे दृष्टिकोण म आने वाली सभी वस्तुओ को हमारे ज्ञान के अश का नाम दे दिया जाता है। ऐसी कोई विधि नहीं है जिससे एक जीव के अभिमान का भ्रम दूसरे के अभिमान से हो सके। इस प्रकार उनका साक्षात्कार एक दूसरे से भिन्न रूप म होता है।[1]

आगम तीन प्रकार की सृष्टि तथा तीन प्रकार के अहकार से प्रवृत्त सात्विक, राजस तामस के रूप म वर्णित करता है तथा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तन्मात्र तथा मनस की उत्पत्ति का वर्णन करता है जबकि वस्तुओ का इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है तथा इस या उस रूप म उनका मूल्य आन्तरिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है, जिससे कि नाल नीले स विभिन्न किया जा सक उस आन्तरिक क्रिया को मनस कहत है।[2]

जब हम किसी जानवर का विशष गुणा सहित देखते हैं तब हम शब्द के प्रयोग का विस्तार समान गुण वाले जानवर के निर्देश के लिए कर सकते हैं। जिस आन्तरिक क्रिया द्वारा यह होता है उसे मनस कहते है।

आगम ज्ञानेन्द्रिया का, विशेष रूप से नेत्र की इन्द्रिय का विस्तृत वर्णन देता है। केवल चेतना का सामीप्य क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता। इसकी उत्पत्ति केवल चेतना का इन्द्रिया से समागम होने पर ही हो सकती है।

आगम बौद्ध धारणा की आलोचना करता है तथा मानता है कि अर्थ क्रिया-कारिता का बौद्ध सिद्धान्त तभी उचित हो सकता है जब सत्ताएँ क्षणिक न हो अपितु उनका काल स्थायी अस्तित्व हो।

गुणो के विषय म कहत हुए आगम उनका स्वतन्त्र रूप अस्वीकार कर देते हैं। केवल जबकि कुछ गुण संयुक्त अवस्था म रहते हैं तब उन्हे हम वास्तविक गुण कहते है।

---

[1] यद्यभिन्नमहङ्कृत्यार्थ्यैवदत्ताप्यह मति ।
अन्यस्यामुपजायत नात्मकत्व तत स्थितम् । —षष्ठ पटल

[2] चक्षुषा लाचितेऽर्थे तमथ बुद्धिगोचरम् ।
विदधातीह यद्विप्रास्तन्मन परिपठ्यते । —षष्ठ पटल

हमारी इन्द्रियाँ केवल कुछ प्रातिभासिक गुणों का प्रत्यक्षीकरण कर सकती हैं, परन्तु वे उनके अधिष्ठान का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकती। इसलिए किसी ऐसे अधिष्ठान का अनुमान तर्क प्रयुक्त है जो गुणों के आधार सत् कहे जा सकते हैं। मौलिक उपादान कारण जो कि या तो अविभाज्य परमाणु रूप है अथवा सूक्ष्म प्रकृति रूप इस तर्क के पश्चात् आगम अमूर्त प्रकृति के पक्ष में निर्णय करते है। परन्तु यह प्रकृति गुणों की साम्यावस्था नहीं है जैसा सांख्य मानते हैं।

इस आगम में विभिन्न इन्द्रियों के प्राप्य कारित्व तथा अप्राप्य कारित्व पर परामर्श किया गया है। वह यह भी कहता है कि मौलिक रूप से गति प्रत्येक परमाणु में नहीं होती परन्तु यह केवल जीवित परमाणुओं और आत्माओं में ही होती है। यह अन्य वस्तुओं की उपस्थिति मात्र के कारण भी नहीं हो सकती।

जब मनस चिच्छक्ति से संयोजित होता है तब यह अन्तःकरण की क्रिया द्वारा समग्र वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। प्रथम क्षण में यह ज्ञान अनिश्चित होता है तत्पश्चात् विभिन्न निश्चितताएँ इससे संयोजित हो जाती हैं। भिन्न कालों में वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण मूर्त तथा संश्लेषणात्मक होता जाता है नहीं तो विभिन्न स्मृति चिन्ह बुद्धि में उदित हो जाएँगे तथा संयुक्त कल्पना के निर्माण में बाधा देंगे जैसा मूर्त प्रत्यक्षीकरण में देखते हैं।

यह केवल अभिमान ही है जो कर्तृत्व उत्पन्न कर सकता है। अभिमान के बिना आत्मा तथा अन्य भौतिक पदार्थों में कोई अन्तर नहीं होगा। अभिमान से निश्चय की निश्चित चेतना प्रवृत्त होती है।

वस्तुओं का ज्ञान केवल बुद्धि से ही उदित नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धि का तथ्य भौतिक है। चिच्छक्ति से अपने सम्बन्ध के फलस्वरूप ही चेतना कभी कभी उदित हो सकती है। यदि मानसिक अवस्था में सदैव परिवर्तन होते रहते है तब उनका स्थिर रूप में प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता यद्यपि वे ऐसे प्रतीत हो सकते हैं जैसकि दीपक की ज्वाला जो क्षण क्षण में परिवर्तित होती रहती है किन्तु फिर भी एक ही प्रतीत होती है।

बौद्धों की अर्थ क्रिया-कारिता की ओर पुनः जाने पर आगम कहता है कि यदि अर्थ क्रिया कारिता का सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तब वस्तुओं के अस्तित्व का उचित स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। उचित विचार परिणामवाद है। यदि वस्तुएँ क्षणिक हैं तब कार्य उत्पन्न नहीं किए जा सकते क्योंकि एक वस्तु का कार्य उत्पन्न करने के लिए कम से कम दो क्षण रहना चाहिए। यदि दो क्षण पृथक सत्ताएँ हैं तब एक क्षण दूसरे का कारण नहीं हो सकता। कारण-परिवर्तन केवल अस्तित्वगत वस्तुओं सदर्भ में ही हो सकता है परन्तु उन सत्ताओं के विषय में नहीं जो क्षणिक हैं। उत्पत्ति हो सकने के लिए एक वस्तु का कम से कम दो क्षण रहना चाहिए।

जिन वस्तुओं का अस्तित्व है उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि व सदैव उत्पादक हो। काय की उत्पत्ति सहायक कारण पर निभर हो सकती है। जल पात्र धागा द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता परन्तु धागे वस्त्र का टुकड़ा उत्पादन कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि काय सदैव पहले से ही कारण म होता है।

यह भी नहीं माना जा सकता कि हमारी मानसिक अवस्थाएँ बाह्य पदार्थों म एक रूप हैं, क्योंकि तब पदार्थों के अनुरूप हमारी भावात्मक अवस्थाओं की अनेकता का स्पष्टीकरण कठिन हो जायगा। हमारे लिए यह स्पष्ट करना सभव नहीं है कि किस प्रकार एक सत्ता कितने अधिक पृथक आकारों मे परिवर्तित हो सकती है। यही माग बनता है कि कुछ बाह्य पदार्थों को स्वीकार कर लें, जिनसे हमारी इन्द्रियों का सम्पक होता है। इन पदार्थों मे तन्मात्रों के पिंड हैं। तन्मात्रा के पिंडो म तथा इनके द्वारा नए गुण उदित होते हैं जिन्हें हम भूतो का नाम देते हैं। तन्मात्रा तथा भूतो म यह भद है कि प्रथम अधिक सूक्ष्म हैं तथा द्वितीय अधिक स्थूल है। यह विचार सांख्य के विचार से कुछ भिन्न है क्योंकि यहाँ पर भूतो को एक भिन्न तत्व नहीं माना है वरन् कवल तन्मात्रा का एक पिंड माना है। आगमो ने इस विचार का, कि गुण निश्चित वस्तुगत सत्ताएँ हैं बार बार खडन किया है। इनके अनुसार गुणो का पिंड ही हमारे द्वारा स्वतत्र सत्ता माना जाता है।

तब आगम अविभाजित परमाणु के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। यह माना जाता है कि अविभाजित परमाणुओं के भाग नहीं हो सकते जिनम अन्य परमाणु सयोजित हो सकें। प्रश्न यह उठता है कि तन्मात्र अमूर्त हैं इसलिए वे स्वय समग्र आकारों का कारण नहीं हो सकते। अत आकारपूर्ण ससार हम कारण के रूप मे किसी भौतिक पदार्थ के अनुमान की ओर ले जाता है। इसका उत्तर शिव यह देते हैं कि प्रकृति को आकार से सम्पन्न तथा रहित भी माना जा सकता है।[1]

पुन शिव प्रश्नों के उत्तर म कहते हैं कि जिन वस्तुओं का आकार है उनके पास कारण के रूप मे आकार सम्पन्न सत्ताएँ अवश्य होनी चाहिए। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि परमाणु ससार के कारण हैं। उस स्थिति म कोई यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि परमाणु आकार रहित हैं। इस विषय में पुन तर्क करते हुए शिव कहते हैं कि परमाणु अनेक हैं तथा उनके अनेक भाग हैं। इस कारण व उसी प्रकार के हैं जैसेकि अन्य काय जैसे जल, पात्र आदि। इस प्रकार ससार का कारण कुछ ऐसी वस्तु को मानना होगा जो आकार रहित हो। समग्र काय अनित्य हैं अचिन्त्य हैं उनके भाग हैं एव अनेक हैं। अत शैव मानता है कि उनका कारण

---

[1] मायातु परमा मूर्त नित्यानित्यस्य कारणम्,
ऐकानेकविभागाध्या वस्तुरूपा शिवात्मिका। —षष्ठ पटल

भिन्न स्वतन्त्र एव अविभाज्य होना आवश्यक है। अत वह इस विचार को अस्वीकार कर देता है कि परमाणु ससार के उपादान कारण है।[1] स्थूल तत्व धीरे धीरे पाँच तन्मात्रा से विकसित हो जाते है।

आगम इस विचार का खडन करता है कि आकाश केवल शून्यता है। यदि यह शून्यता होता तब अभाव रूप होता। किन्तु अभाव सदव किसी भाव पदार्थ का होता है। आगम आकाश को किसी प्रकार का अभाव माने जाने की सम्भावना का खडन करता है। शब्द आकाश का एक विशेष गुण माना गया है।

आगम कहता है कि वह केवल चार प्रमाण स्वीकार करता है प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। वास्तव मे यह समग्र शकाओ रहित शुद्ध चेतना है जो प्रमाणो मे अन्तर्निहित सत्य का निर्माण करती है। शका बुद्धि के दो ध्रुवो के बीच मन की दोलायमानता से उदित होती है। स्मृति उन पदार्थों की ओर सकेत करती है जिनका पहले अनुभव हो चुका है। किसी ज्ञान का उचित प्रमाणता की अवस्था प्राप्त करने के लिए उसका स्मृतिरहित तथा शकारहित होना आवश्यक है।

शुद्ध चेतना ज्ञान म वास्तविक वैध भाग है। बुद्धि क्योकि स्वय भौतिक वस्तु है इसलिए वह ज्ञान के वैध तत्व की निर्माता नही मानी जा सकती। कलाओ के तथा उनके द्वारा शुद्ध चेतना वस्तुगत ससार के सम्पर्क मे आती है। यह प्रत्यक्षीकरण निर्विकल्प तथा सविकल्प हो सकता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण बुद्धि म जाति प्रत्यय अथवा नामो की ओर सकेत नही होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण म बिना नामो के सयोजन आदि के वस्तुएँ जैसी हैं उसी रूप म प्रत्यक्ष की जा सकती है।

प्रत्यक्षीकरण दो प्रकार का होता है। (१) ऐन्द्रिय माध्यम (२) अनैन्द्रिय माध्यम से जनै योगी का प्रातिभ ज्ञान। इन्द्रियो के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण जिया वस्तु अथवा आत्मा के बीच का आवरण हटा देता है जिससे वस्तुओ का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण हो सके। प्रत्यक्षीकरण के रूप का स्पष्टीकरण करने के लिए आगम स्पष्टीकरण के लिए न्याय की सयुक्त समवाय की युक्ति इत्यादि का अनुसरण करते हैं। न्याय के समान यह पाँच प्रकार के तर्क वाक्यो प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त उपनय तथा निगमन मे विश्वास करता है।

वातुलागम[2]

अघर की टीका-सहित वातुलागम, मैसूर ओरियन्टल रिसर्च के वातुलागम के लगभग समरूप प्रतीत होता है केवल इतना ही अन्तर है कि मैसूर के वातुलागम के

---

[1] ततो न परमाणूना हेतुत्व युक्तिमिमतम्।   —षष्ठ पटल

[2] ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर।

दसवा तथा अंतिम अध्याय मे अधिक पद्य हैं जिनमे अन्य शैव सिद्धान्तो की अपेक्षा वीर शैव सिद्धान्तो की अधिक प्रशसा की गई है। परन्तु मौलिक आरम्भ लगभग सामान्य शैव सिद्धान्त के समान है जैसाकि अघोर शिवाचार्य की टीका के साथ तत्व प्रकाशिका मे प्राप्त हो सकता है। अनुमान के आधार पर अंतिम सत्ता के रूप मे शिव के अस्तित्व का अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति भी है जो शैव मत की सिद्धान्त प्रणालियों जैसे मृगेन्द्रागम अथवा लाकुलीय पाशुपत प्रणाली मे मिल सकती है। वातुलागम का परिशिष्ट भाग वीर शैवो की लिंग धारणा के सिद्धान्त से परिचित कराता है परन्तु इसके विशेष दर्शन अथवा षटस्थल से सम्बन्धित अन्य सिद्धान्तो के विषय मे कुछ नहीं कहता।

7

वातुल-तन्त्रम्[1]

शिव तत्व तीन प्रकार का है (१) निष्कल (२) सकल तथा (३) निष्कल-सकल। शिव का दस प्रकार से भेद किया जा सकता है (१) तत्व भेद (२) वर्ण भेद (३) चक्र-भेद (४) वर्ग भेद (५) मन्त्र भेद (६) प्रणव (७) ब्रह्म भेद (८) अंग भेद (९) मन्त्र-जात (१०) काल। यद्यपि पहले यह तीन प्रकार का कहा गया है तथापि इसके पुन तीन आकार हैं (१) सुब्रह्मण्य शिव (२) सदाशिव (३) महेश।

शिव निष्कल कहलाते हैं जबकि उनकी सब कलाएँ अर्थात्, भाग अथवा अवयव या क्रियाएँ उनके भीतर एक मे केन्द्रित होती है। निष्कलत्व के रूप की पुन परिभाषा मे लेखक कहता है कि जब शुद्ध तथा अशुद्ध तत्व, जो अनुभव मे सहायता देते हैं एक साथ सकलित हो जाते हैं तथा मौलिक कारण मे मिश्रित हो जाते हैं तथा विश्व का विकास करने वाली शक्तियो के अकुरित कारण के रूप मे रहते हैं तब निष्कल अवस्था होती है। टीकाकार इस विचार का समर्थन अनेक मूल ग्रन्थो के उद्धरणो द्वारा करता है। सकल-निष्कल वह है जिसमे व्यक्ति के भाव सुप्त अवस्था मे रहते हैं तथा जब सृष्टि का समय आता है वह अपने को ससार के निर्माण के लिए बिन्दु अवस्था मे सयोजित कर लेता है। बिन्दु मायोपादान का प्रतिनिधित्व करती है जिससे शिव सृष्टि के हेतु अपने को सयोजित करते हैं।[2] शिव के ये भिन्न नाम सकल निष्कल तथा सकल निष्कल केवल शिव मे भिन्न क्षण हैं तथा उनमे कोई वास्तविक रूपान्तर

---

[1] अड्यार पुस्तकालय हस्तलेख।

[2] महेश सकल बिन्दु मायोपादान जनित-तनु-करणादिभिरात्मानं यदा शुद्धाशुद्धभाग प्रयच्छति तदा शिव सगक स एव भगवान् सकल इति उच्यते।

का निर्माण नही करते, क्योकि वह सदव अपने म अपरिवतनशील रहता है। अत शिव मे कोई परिवतन नही होता। परिवतन बिदु तथा अणु मे मिलेंगे।[1]

ईश्वर केवल अनुमान द्वारा ही ससार के उपादान कारण के रूप म सिद्ध किया जा सकता है। मृगेन्द्रागम के समान यह प्राचीन सिद्धान्त के शव मत का अनुसरण करना ही है। ईश्वर की कारणता का स्पष्टीकरण इस मान्यता द्वारा हो सकता है कि उसकी कामना से सब कुछ प्राप्त हो सकता है। वह किसी कम के सम्पादन मे कोई यत्र अथवा अवयव का उपयोग नही करता। अत जब कुम्हार घडो का निर्माण करता है तब वह ईश्वर की शक्ति की सहायता द्वारा ही एसा कर सकता है। कुम्हार के दृष्टान्त म कारणता भिन्न है क्योकि वह अपने तन्त्रो तथा अवयवो की सहायता से काय करता है। शिव अपनी शक्ति द्वारा समग्र वस्तुओ का ज्ञान तथा समग्र क्रियाए कर सकते है।

शिव अपने सरल सकल्प द्वारा सब पदार्थों की सृष्टि करते हैं तथा यह सृष्टि शुद्धाध्व कहलाती है। लेखक भोज की तत्व प्रकाशिका तथा उस पर अघोर शिवाचाय की टीका का उल्लख करत हैं।

शक्ति ईश्वर का सकल्प है तथा वह बिन्दु कहलाती है। उससे नाद उत्पन्न होता है जो समग्र वाणी का उद्गम है।[2]

हमन कुछ महत्वपूर्ण आगमो का विश्लपण केवल यह प्रदशन करन क लिए किया है कि उनम किन विपयो म रूप की व्याख्या है। एक अधिक विस्तृत विवरण सुगमता से दिया जा सकता था पर तु उसस केवल थकाने वाली आवृत्ति होती। एक ही प्रकार के विपयो की व्याख्या लगभग एक ही पद्धति एक या अन्य विषय पर अधिक महत्व देकर आकस्मिक रूपान्तरो के साथ की है। उनम कभी-कभी पद्धति तथा उपस्थिति की विधि के विपय म भी भिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार शिव ज्ञान सिद्धि नामक आगम भिन्न विपयो की व्याख्या अनेक आगमो के लिए उद्धरणो द्वारा करता है। यह दर्शाता है कि भिन्न आगमो म परस्पर आन्तरिक एकता थी। इन

---

[1] लय भोगाधिकारणाना न भेदा वास्तव शिवे, किन्तु बिन्द्वेरणूना च वास्तवा एव ते मता।

[2] शक्तिरिच्छेति विज्ञेया शब्दो नादमिहाच्यत वाग्भव स्यात् क्रिया शक्ति कला वे षोडश स्मृत। या परमेश्वरस्य इच्छा सा शक्तिरितिनैया शक्तेस्तु जायते शब्द। यत् परमश्वरस्य नाद तदेव शब्द। शब्दात् जायते वाग्भव या परमेश्वरस्य क्रिया सा तु वाग्भव षोडश स्वरा कला इति उच्यन्ते।
पौष्करागम से उधृत—अचेतन जगद् विप्राश्चेतन प्रेरक विना।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा न स्वतन्त्र रथादिवत्॥

सकलित रचनाओं से हम भिन्न आगमो की विषय सूची के विषय मे अधिक जान सकते हैं। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि इनमे से कुछ आगम एक हस्तलेख के रूप मे भी कदाचित् ही प्राप्त है।

इन आगमो की तिथि निश्चित रूप से स्थिर नहीं की जा सकती। यह प्रस्ताव किया जा सकता है कि इनमे से सबसे प्राचीन दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी ईसवी मे किसी समय लिखे गए थे तथा यह तेरहवी तथा चौदहवी शताब्दी तक प्रचलित रहे होंगे। आध्यात्मवादी तथा धार्मिक सिद्धान्तो के अतिरिक्त उनमे योगाभ्यास विषयक आदेशो से सम्बन्धित भिन्न नाडियो के रूप सम्बन्धी विवरण भी हैं। प्रतिस्पर्धी विचारधाराओ जैसे बौद्ध, जैन तथा साख्य से कुछ सामान्य वाद विवाद भी हैं। परन्तु यह सब बहुत सामान्य हैं तथा इनका वस्तुत प्रत्याख्यान हो सकता है। प्रमाणमीमासा सम्बन्धी विचारधारा मे इनकी कोई वास्तविक सहायता नही है। हमारे पास एक ही प्रकार के अपरिवर्तनशील तत्व विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त तथा एक ही प्रकार के तर्क हैं जो सृष्टी से स्रष्टा की स्वीकृति या कार्यकारण की स्वीकृति की ओर ले जाते हैं। अत स्पष्ट रूप से प्रकृति के या कभी कभी अणु के रूप मे परिणत उपादान कारण, निमित्त कारण रूप ईश्वर से भिन्न है। परन्तु केवल शिव को अनन्त सत्ता मानने के शुद्ध एक सत्तावादी विचार को स्थिर रखने के लिए इस उपादान कारण को प्राय ईश्वर के समतुल्य शक्ति माना जा सकता है। कभी कभी ईश्वर के पाश की शक्ति द्वारा जीवो के कर्मों के अनुसार उनके सम्मुख सम्पूर्ण सृष्टि आभास के रूप मे वर्णित है। माया अथवा कर्म से प्राप्त भिन्न अशुद्धियो द्वारा सब जीव दूषित हैं। ये अशुद्धियाँ, अन्त मे जब शिव दीक्षा ली जाती है तब, ईश्वर के अनुग्रह द्वारा नष्ट कर दी जाती हैं।

ये आगम भिन्न धार्मिक अभ्यासो तथा अनुशासन के विषय मे आदेशो से तथा भिन्न प्रकार के नियम कर्मकाण्ड, मत्र, मन्दिर के निर्माण के विषय मे आदेश अथवा भिन्न प्रकार की लिंग की स्थापना से परिपूर्ण है। किन्तु इन्हे शैव मत की प्रस्तुत व्याख्या मे से पूर्ण रूप से हटाना होगा। यह देखना सुगम है कि आगमो का तथाकथित शैव दर्शन शैव धार्मिक जीवन तथा अभ्यासो के समर्थन के लिए केवल तत्वविज्ञान मूलक अवलम्ब मात्र है। जैसाकि हम माणिक्क वाचकर कृत तिरुवाचक मे देख सकते हैं, इनमे अधिकाशत भक्तो का शिव को पूर्णत समर्पित होने तथा भक्ति के मात्र उत्साह से पूर्ण नितान्त नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलती है। इनमे भगवान शिव का जीवन के सम्पूर्ण समर्पण की प्रेरणा दी गई है।

अध्याय ३५

वीर शैव मत

वीर शैव मत का इतिहास तथा साहित्य

वीर शैव सम्प्रदाय का उद्गम काफी पीछे हुआ प्रतीत होता है। माधव चौदहवीं शताब्दी की अपनी "सर्वदर्शन-संग्रह" पुस्तक में जो पाशुपत तथा आगामी शैवों का उल्लेख करते हैं उससे प्रतीत होता है कि वे वीर शैवों के विषय में कुछ नहीं जानते थे। आठवीं तथा नवीं शताब्दी के शंकर वाचस्पति तथा आनन्दगिरी भी वीर शैवों के विषय में कुछ नहीं जानते थे न ही उनका शैवागमों में कोई उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि वातुलतन्त्र की पाण्डुलिपियों के दो संस्करण हैं तथा उनमें से एक में परिशिष्ट के रूप में षडस्थल सिद्धान्त का उल्लेख है जिससे यह बात होता है कि यह परिचय सन्देहजनक है। वीर शैवों के लिंगायत द्वारा की गई लिंग धारण सिद्धान्त की विधि का कदाचित् ही किसी प्राचीन रचनाओं में अवलोकन किया जा सकता है यद्यपि उत्तर कालीन लेखक जैसे श्रीपति आदि ने प्राचीन मूल ग्रन्थों के शब्दों के साथ खींचातानी कर उनका ऐसा अर्थ लगाया है जिससे लिंगायतों के लिंग-धारण के अनुष्ठान का समर्थन हो सके।

साधारण परम्परा है कि मादिराज तथा मादाम्ब का पुत्र बसव था जो कि एक ब्राह्मण वीर शैव पंथ का संस्थापक था। वह अपने प्रदेश बागेवडी से बहुत अल्प आयु में ही बम्बई के निकट कल्याण गया जबकि बिज्जल वहाँ राज्य कर रहे थे (११५७-६७ ई०)। जब उनके मामा बलदेव ने रोग के कारण पद त्याग किया तब बसव की नियुक्ति बिज्जल के सम्पूर्ण कोष तथा शासन सम्बन्धी कार्यों के मन्त्री के रूप में हुई। एक अन्य परम्परा के अनुसार बसव एक हस्त लेख के स्पष्टीकरण में सफल हुए जिससे कि एक छिपे हुए धन का पता चला तथा इससे राजा बिज्जल इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बसव को प्रधान मन्त्री का पद प्रदान किया। बसव पुराण के अनुसार जो कि बसव के जीवन का वर्णन कल्पित पौराणिक विधि में करता है बसव ने पद ग्रहण करने के पश्चात उन सबको उपहार बांटने आरम्भ कर दिए जो अपने को शिव का भक्त घोषित करते थे। इससे अन्य पक्षों में बहुत संक्षोभ तथा ईर्षा हुई तथा कुछ ऐसा हुआ कि राजा ने शिव के दो भक्तों को कठोरता से दंडित किया। इस पर बसव के प्रोत्साहन से उसके एक अनुयायी ने बिज्जल का वध कर दिया। भंडारकर ने

कुछ अन्य विस्तृत वर्णन दिए हैं जो प्रस्तुत लेखक को बसव पुराण में नहीं मिल सके (जिसे स्वयं भंडारकर ने मूल माना है)।[1]

बसव पुराण श्रीपति पंडित के बाद के काल में लिखा गया था। यह कहा जाता है कि एक समय नारद ने शिव को सूचना दी कि जब अन्य धर्म सम्पन्न हो रहे हैं तब, कुछ अपवादों को छोड़कर ब्राह्मणों में शैव पंथ की समाप्ति हो रही है अतः अन्य जातियों में भी इसका ह्रास हो रहा है। तब शिव ने नन्दी से वीर शैव पंथ को वर्णाश्रम आचार के अनुरूप लाने के लिए उन्हें अवतरित होने को कहा।[2] यदि इस कथन का कुछ महत्व है तब यह स्वीकार करना होगा कि श्रीपति पंडित के उत्तरकाल में भी वीर शैव पंथ को कर्नाटक प्रदेश में कोई महत्ता प्राप्त नहीं थी। इससे यह भी विदित होता है कि वीर शैव पंथ का उद्देश्य हिन्दू प्रणाली की जातियों तथा जाति धर्मों के विरुद्ध उपदेश देना नहीं था। यह माना जाता है कि बसव ने जाति तथा जाति प्रथाओं तथा कुछ अन्य हिन्दू रीतियों को हटाने के लिए समाज सुधार प्रारम्भ किए। किन्तु इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि अनेक वीर शैव रचनाओं में हम हिन्दू जाति प्रथा के प्रति भक्ति पाते हैं। शिव के उन अनुयायियों में जो बसव के साथ अवश्य ही भ्रातृभाव के निर्माण करने की प्रवृत्ति मिलती है क्योंकि वह राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों ही रूपों में शिव के अनुयायियों का संरक्षक था। बसव पुराण यह भी कहता है कि बसव को आठ वर्ष की आयु में ब्राह्मणों की अनिवार्य दीक्षा की प्रथा के अनुसार यज्ञोपवीत संस्कार के लिए पंडितों की मंडली में ले जाया गया था। किन्तु बसव ने उस अल्प आयु में भी दीक्षा के संस्कार का इस आधार पर विरोध किया कि यज्ञोपवीत न आत्मा को और न शरीर को शुद्ध कर सकता है तथा पौराणिक वर्णनों में ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें महान् यशवान सन्तों ने यज्ञोपवीत नहीं लिया। हम बसव का ऐसा कोई भी वर्णन नहीं मिलता है जिसमें उन्होंने हिन्दू प्रथाओं अथवा विधियों अथवा ब्राह्मण मत के विरुद्ध धर्मयुद्ध का उपदेश दिया हो।

बसव के अपने लेख कन्नड भाषा में उक्तियों अथवा ध्यान के निष्कर्षों के रूप हैं, जैसा कि सामान्य रूप से शैव मत वैष्णव मत आदि के अन्य पन्थों के भक्तों में पाया जाता है। प्रस्तुत लेखक को उनमें से बहुत से कथनों का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ने का अवसर मिला है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है उनमें भगवान शिव के प्रति आनन्द पूर्ण उत्साह है जो बसव के सम्मुख भगवान कुडल संगम के रूप में प्रकट हुए। ये उक्तियाँ शिव का महाप्रभु के रूप में उल्लेख करती हैं तथा स्वयं बसव को

[1] देखिए भंडारकर कृत वैष्णवमत तथा शैवमत पृ० १३२।
[2] वर्णाचारानुरोधेन शैवाचरण प्रवर्तय। —बसव-पुराण, अ० २ पृ० ३२।

उनके सेवक अथवा दास के रूप म निरूपित करती हैं। यहाँ वहाँ उनम कुछ जीवन चरित्र सम्बन्धी सकेत मिलते हैं जिनका पुन निर्माण तत्कालीन प्रमाण की सहायता के अतिरिक्त नहीं हो सकता। जो कुछ बसव के कथनो से अनुमान किया जा सकता है उसके आधार पर बसव द्वारा वीर शव विचार का सस्थापित अथवा क्रमबद्ध निश्चित वणन देना सम्भव नही है। बसव पुराण के अनुसार लिंग धारण की प्रथा बसव से पूव ही प्रचलित प्रतीत होती है। बसव षट्स्थल सिद्धा त के विषय म स्वय कुछ नही कहते तथा यह दो अनिवाय रूप से आवश्यक विषय हैं, जिनसे कि इसे इसकी दार्शनिक भिन्नता के अतिरिक्त शवमत के अन्य पथो स स्पष्ट रूप म पृथक किया जा सकता है। इस पर भी बसव ऐसी कोई निश्चित विचारप्रणाली सूचित करते प्रतीत नहीं होते जिसे उत्तरकालीन वीर शव लखको के विचारो द्वारा शेष पूर्ति अथवा पुरचना किए बिना क्रमबद्ध किया जा सके। यद्यपि वीर शव दशन का मुख्य भाग ईसा काल की प्रथम शताब्दियो म प्राप्त किया जा सकता है तथा यद्यपि हम छठी शताब्दी में इसको की सूत सहिता जसी रचनाओ म प्रचलित पाते हैं तथापि हम यह नही जानते कि किस प्रकार इस विचार धारा को वीर शव नाम दिया गया।

बसव तथा श्रीपति के काला के मध्य म किसी समय रेवणाचाय द्वारा लिखी गयी सिद्धान्त शिखामणि रचना म हम वीर शव नाम को स्थल सिद्धा त से सबधित पाते हैं तथा सम्भवत प्राप्त साहित्य म यही इस शब्द का सबस प्राचीन प्रयोग है। *सिद्धान्त शिखामणि में बसव के विषय म उल्लेख है तथा स्वय इस पुस्तक का उल्लेख श्रीपति ने* किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह पुस्तक बसव तथा श्रीपति के काला के मध्य में लिखी गई होगी। सिद्धान्त शिखामणि म वीर शब्द की बहुत रोचक व्याख्या इसकी व्युत्पत्ति दी गयी है उसके अनुसार 'वि' अर्थात् ब्रह्म से अभेद का ज्ञान, तथा र अर्थात् ऐसे ज्ञान से जनित आनन्द से है। यदि इसे उचित भी मान लें तब भी ऐसी शब्द व्युत्पत्ति 'वीर' नही विर बनेगा। 'विद्या का 'वि' किस प्रकार दीघ वी हो जायगा, इसकी कोई व्याख्या नहीं दी है। अत मेरे लिए यह स्वीकार करना कठिन है कि यह शब्द व्युत्पत्ति विषयक व्याख्या वीर शब्द के वीर शव" मे प्रयोग का समथन करती है। इसके अतिरिक्त वेदान्ती विचारधारा की अनेक पद्धतिया इस व्याख्या के अनुसार वीर कहला सकती है क्योकि अनेक प्रकार के वेदा त सच्चे तादात्म्य ज्ञान से सुख तथा आनन्द का अनुभव करेंगे। अत 'वीर' शब्द कोई विशेष चिह्न नहा है जिससे हम वीर शैवो का अन्य धर्मों के अनुयायियो स विभिन्न कर सकें। अनेक आगमानुयायी शव भी जीवो की ब्रह्म अथवा शिव स अभिन्नता म विश्वास करेंगे। अत मैं यह प्रस्ताव करने का साहस करूँगा कि वीर शव अपने मत के अनुमोदन में आक्रमणात्मक अथवा सुरक्षा की वीर प्रवृत्ति के कारण वीर कहलाते थे।

शैव सदम म हमारे पास कम से कम दो धार्मिक दृष्टान्त हैं। जैसेकि एक चोल राजा कोलुतग प्रथम ने रामानुज के दो शिष्य, महापूर्ण तथा कुरेश के नेत्र निकलवा दिए ■ क्योंकि उन्होंने शैव मत म धर्म परिवर्तन करना अस्वीकार कर दिया था। इसी प्रकार की कथा बसव के जीवन म भी आती है जहाँ उनके दो शिष्यों के नेत्र बिज्जल ने निकलवा दिए थे तथा स्वयं बिज्जल का वध बसव के अनुयायियों ने किया था। ये केवल कुछ ही दृष्टान्त है जहाँ धर्म के प्रचार अथवा धार्मिक प्रतिहिंसा के लिए अहिंसा का आश्रय लिया गया था। मैं समझता हूँ कि कुछ शैवों की भगडालू प्रवृत्ति ने, जिन्होंने जाति नियम तथा प्रथाएँ अस्वीकार की तथा जो शैव मत के उत्साही अनुयायी थे उनको वीर शैव का नाम दिलाया। सिद्धान्त शिखामणि भी बसव के उस विचार का उल्लेख करती है जो शिव की निन्दा करते हैं उनका वध हो जाना चाहिए।[1] धर्म के लिए ऐसी भगडालू प्रवृत्ति कदाचित् ही अन्य धर्मों तथा धार्मिक पथों म पाई जाती है। उपरोक्त सदम म सिद्धान्त शिखामणि ९वें अध्याय म इगित करती है कि यद्यपि वीर शवों को स्थावर लिंग की भेंट से भाग लेने का निषेध है तथापि यदि इस चिह्न को नष्ट होने का अथवा बाधा का भय हो तब हिंसात्मक आक्रमण को रोकने के लिए एक वीर शैव को अपने जीवन को भी सकट म डाल देना चाहिए।

हमारे ऊपर के परामर्श से यह जानने म बहुत सहायता नहीं मिलती कि वीर शैव दर्शन म अथवा षट्स्थल तथा लिंग धारण की क्रियाविधि म बसव का क्या योगदान रहा है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के शैवों को, जो उनके सम्पर्क म आए धार्मिक उत्साह द्वारा अथवा अपनी आर्थिक तथा अन्य प्रकार के सरक्षण के कारण बहुत अधिक भावात्मक उत्साह की प्रेरणा दी होगी। बसव पुराण म ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के भक्तों को उन्होंने जो आर्थिक सहायता दी वह अविवेकपूर्ण थी। उनका धन सब शैवों पर वर्षा की बौछार के समान बरसता था। सम्भवत इसी ने उन्हें तत्कालीन शैवों का सबसे अधिक शक्तिशाली सरक्षक बना दिया तथा उनम से चुने हुओं से उसने एक विद्वत् सभा की स्थापना की जहाँ धार्मिक समस्याओं पर सजीव वाद विवाद होते थे। इन सभाओं की अध्यक्षता वह स्वयं करता था।

---

[1] अथ वीर सदाचार बसवश्वराचार सूचयन्तो—चारभेदं प्रतिपादयति—
शिवनिन्दा करस्पष्टवा घातयेदथवा शपेत्
स्थान वा तत् परित्यज्य गच्छेद्यदि अक्षमो भवेत्
(सिद्धान्त शिखामणि —अध्याय ९ पर पद्य २६)।
इस सदम म पुन यह कहा गया है
ननु प्राणत्यागे दुमरण किं न स्यात्,
शिवाथ मुक्त जीवश्मच्छिव-सायुज्य आप्नुयात् ॥

प्रस्तुत लेखक का अनुमान यह है कि वीर शैव विचार का मुख्य भाग उपनिषदों के समान प्राचीन है तथा यह पर्याप्त व्यवस्थित रूप में कालिदास की कृतियों में भी परोक्षत: व्यक्त हुआ है, जो कि ईसा संवत् की आरंभिक शताब्दियों में हुए।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि स्कंद पुराण का एक भाग सूत संहिता ऐसे दर्शन की शिक्षा देती है जिसकी उसी प्रकार की व्याख्या की जा सकती है जैसीकि श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीर शैव दर्शन की है, यद्यपि टीकाकार शंकर के दर्शन के अनुरूप उसकी व्याख्या करते हैं। सूत संहिता ने आगम साहित्य को जैसे कामिक आदि को उच्च स्थान दिया है जिससे ज्ञात होता है कि इसका आगमी शैव मत से निकट संबंध था।[2]

परन्तु यह कहना कठिन है कि किस समय वीर शैव पंथ की स्थापना हुई तथा कब इसको यह विशेष उपाधि मिली। वीर शैवमत अपने सूक्ष्म तथा स्थूल सिद्धान्त में, तथा विशेष प्रकार के लिंग धारण की कुछ अन्य धार्मिक क्रियाओं में आगमी शैव मत तथा पाशुपत मत से भिन्न है। यह दुर्भाग्य की बात है कि वीर शैवमत का सबसे पहला उल्लेख सिद्धान्त शिखामणि में मिलता है जो कि संभवत: तेरहवीं शताब्दी की रचना है। "वीर शैव गुरु परम्परा" नामक एक लघु पाण्डुलिपि में निम्नलिखित शिक्षकों के नाम प्राथमिकता क्रम में इस प्रकार दिए गए हैं (१) विश्वेश्वर गुरु (२) एकाराम (३) वीरेश्वराराध्य (४) वीर भद्र (५) विरणाराध्य (६) मणिकाराध्य (७) वच्चव्याराध्य (८) वीर माल्लव्वराराध्य (९) देशिकाराध्य (१०) वृषभ (११) अक्षक (१२) मुक्त लिंगेश्वर। वीर शवागम[3] के आठवें पटल में यह कहा है कि चार पीठों अर्थात् योग पीठ महापीठ ज्ञानपीठ तथा सामपीठ में चार शिक्षक थे जो वरिष्ठता में भिन्न थे। ये थे—रेवण मरुल वामदेव[4] तथा पंडिताराध्य। ये नाम पौराणिक स्वरूप के हैं क्योंकि कहा गया है कि इनका उल्लेख वेदों में भी हुआ है। किन्तु उपरोक्त जिन नामों को हमने वीर शैव गुरु परम्परा से उद्धृत किया है वे शिक्षकों की एक अनुक्रमात्मक सूची का निर्माण करते हैं जो पाण्डुलिपि के लेखक के काल तक आती हैं।[5] शिक्षकों की अनुक्रमात्मक सूची के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सिद्धान्त शिखामणि में उल्लिखित वीरभद्र के अतिरिक्त उन शिक्षकों के

---

[1] देखिए लेखक की संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग १, पृ० ७२।

[2] सूत संहिता, यज्ञ वैभव खंड अध्याय २२ पद्य २ व ३। अध्याय २० पद्य २२, अध्याय ३६, पद्य २३ भी देखिए।

[3] मद्रास पाण्डुलिपि।

[4] एक अन्य पाठ रामदेव है (आठवां तथा नवां पटल)।

[5] अस्मदाचार्य पर्यन्त वन्दे गुरु परम्पराम् (मद्रास पाण्डुलिपि)।

विषय म सकेत प्रथवा उनके लिखे किसी शास्त्र द्वारा, हम कुछ भी नहीं जान सकते।[1] हम यह नहीं कह सकते कि वीरभद्र सिद्धा त शिखामणि के लेखकों से कितने पूर्व हुए। परन्तु क्योंकि वीरभद्र का उल्लेख एक ही सदर्भ म वसव के साथ किया गया है हम यह अनुमान कर सकते हैं कि यह वीरभद्र वसव से बहुत पहले का नहीं हो सकता। प्रत यदि हम निस्सदिग्ध रूप से यह अनुमान कर सकते हैं कि वीरभद्र बारहवीं शताब्दी में किसी समय वतमान था तब हम केवल वीरभद्र से पूर्व के तीन आचार्यों के समय की गणना करनी है। गणना की साधारण विधियों के अनुसार तीन आचार्यों का शिक्षण काल हम सौ वर्ष रख सकते हैं। इसका अर्थ होगा कि वीर शवमत पथ के रूप में ग्यारहवीं शताब्दी म आरम्भ हुआ। यह सम्भव है कि इन शिक्षकों ने द्रविड भाषा मे लिखा अथवा उपदेश दिया हो जिसे उन व्यक्तियों ने ही समझा होगा जिनके मध्य उन्होंने उपदेश दिया होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि क्यों कई संस्कृत पुस्तकें उनके द्वारा लिखी गई प्राप्त नहीं हैं। सम्भवत वसव अत्यधिक बुद्धिमान एव भावात्मक विचारक था जिसने अपने उद्गार कन्नड भाषा में व्यक्त किए।

परन्तु वीर शैव आचार्यों की अनुक्रमात्मक सूची हमारी की व्याख्या के विषय में अब भी बहुत कुछ कहना शेष है। यह शिक्षकों की उन अन्य परम्पराओं के विषय म कुछ भी व्याख्या नहीं करती जिनके विषय म हम इधर उधर किवदन्तियों के रूप म सुनते हैं, जैसे अगस्त्य को शैव मत के प्रथम सस्थापक के रूप म सुनते हैं। हम यह भी देखते हैं कि प्राचीनकाल में किसी समय किसी रेणुकाचार्य ने अन्य वीर शव रचनाओं के विचारों पर आधारित रेणुक सिद्ध तथा अगस्त्य के पौराणिक सवाद का अभिप्राय देते हुए सिद्धान्तशिरोमणि नामक रचना लिखी। रेणुकसिद्ध रेवणसिद्ध भी कहलाता था तथा यह अनुमान किया जाता है कि कलि काल के आरम्भ म उन्होंने अगस्त्य को वीर शव शास्त्र का स्पष्टीकरण किया। बाद म हमें एक सिद्ध रामेश्वर मिलता है जो वीर शव के सिद्धान्त म निष्णात था उसकी विचारधारा म हमें शिव योगीश्वर नामक व्यक्ति मिलता है जिसने परम्परागत रेणुक तथा अगस्त्य के सवाद का अनुमानित तात्पर्य अन्य प्रासगिक साहित्य की शिक्षाओं द्वारा शेष पूर्ति करते हुए हमें दिया। सिद्ध रामेश्वर के परिवार मे एक महान् शिक्षक मुद्देव ने जन्म लिया था। उसका एक सिद्धनाथ नामक पुत्र था जिसने शिव सिद्धान्त निर्णय नामक रचना म आगमों का अभिप्राय लिखा। तत्कालीन अन्य आचार्य उन्हें वीर शव आचार्यों मे से अत्यन्त मुख्य मानते थे (वीर शव शिखारत्न) तथा रेणुकाचार्य ने जो अपने को शिव योगिनी भी कहते थे सिद्धान्त शिखामणि रचना लिखी। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेणुकाचार्य से पूर्व उन वीर शव आचार्यों की एक लम्बी सूची थी जो सम्भवत तेरहवीं शताब्दी मे वर्तमान थे। यदि हम इसको न भी मानें तब भी सिद्धान्त

[1] सिद्धान्त शिखामणि। अध्याय ६ छत्तीसवें पद्य की अवतरणिका।

शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य कहते हैं कि उन्होंने यह रचना कामिकागम से वातुलागम तक के शैव तंत्रों तथा पुराणों से निर्देशन लेते हुए शिव के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए लिखी। पुनः, वे कहते हैं कि शिव-तंत्रों में वीर शैव तंत्र अंतिम है अतः यह सबका सार है।[1]

परन्तु सिद्धान्त शिखामणि में व्याख्या किए गए वीर शैव दर्शन का वास्तविक सार क्या है? यह कहा जाता है कि ब्रह्म सत् आनन्द तथा चित् का तादात्म्य है तथा आकार एवं भेद रहित है। यह असीम है तथा सब प्रकार के ज्ञानों से परे है। यह स्वयं प्रकाश है तथा ज्ञान, वासना एवं शक्ति के अवरोध से सर्वथा रहित है। उसमें ही हमारी इन्द्रियों से अज्ञात सम्भावित रूप में चित् तथा अचित् संसार रहता है तथा उसी से सम्पूर्ण संसार बिना किसी निमित्त क्रिया के अपनी अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन करता है। इसका अर्थ है कि जब ईश्वर की इच्छा होती है तब वह अपने स्वयं के आनन्द से अपने को विस्तृत करता है जिससे संसार प्रकट होता है जिस प्रकार ठोस मक्खन अपने को विस्तृत कर तरल अवस्था में कर लेता है। शिव के गुण अप्राकृत हैं। सत् चित तथा आनन्द का स्वरूप शक्ति है। किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि इसमें पूर्णाद्वैतवादी तथा निर्व्यक्तिक दृष्टिकोण के साथ साथ यह अवधारणा भी है कि भगवान शिव में संकल्प शक्ति है जिससे वे संसार की सृष्टि व संहार करते हैं। जैसा कि हमें आगे देखने का अवसर मिलेगा षड्स्थल का सम्पूर्ण सिद्धान्त जो कि वीर शैव विचारधारा का सारभूत है इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथा संसार को ईश्वर में स्थित एवं उससे अभिन्न समझना चाहिए। अवश्य ही ऐसे अनेक शब्द हैं जो एक प्रकार का भेदाभेद विचार सूचित करते हैं परन्तु यह भेदाभेद अथवा एकता में भेद वृक्ष उसके पुष्प तथा फलों में भेदाभेद के प्रकार का नहीं है क्योंकि ऐसा विचार शिव के स्वरूप में रूपान्तरण अथवा परिवर्तन प्रस्तावित करेगा। भेदाभेद की व्याख्या उस विचार से करनी होगी जिसमें सर्वातिशायी ईश्वर उन पदार्थों के आकार में भी प्रतीत होता है जिनका हम प्रत्यभीकरण करते हैं तथा जो हमारे अपने स्वरूप जैसा है।

सिद्धान्त शिखामणि' आगमों पर आधारित थी। अतः उसका दार्शनिक दृष्टिकोण अस्थिर स्वभाव का था जैसा हम विभिन्न आगमों में पाते हैं। जैसे कि सिद्धान्त शिखामणि के अध्याय ५ पद्य ३४ में यह कहा गया है कि ब्रह्म रूप तथा गुण रहित है परन्तु अविद्या से अपने अनादि सम्बन्ध के कारण यह जीवों के रूप में प्रकट होता है। इस अर्थ में जीव ईश्वर का केवल एक अंश है। किन्तु अन्यत्र इसी में लिखा है कि ईश्वर समस्त जीवित प्राणियों का प्रेरक तथा नियंता है। दूसरे श्लोक में कहा गया

---

[1] सिद्धान्त शिखामणि अध्याय १ पद्य ३१–२।

है कि ब्रह्म एक ही समय में ईश्वर तथा प्राणियों की आत्मा होता है। शुद्ध शिव में सत्व, रजस तमस् कोई गुण नहीं है।[1] किन्तु पुनः, इसमें वेदान्त के इस विचार की ओर झुकता है कि जीव, संसार के पदार्थ तथा परम नियता ईश्वर शुद्ध चैतन्य अथवा ब्रह्म पर केवल अध्यास हैं।[2] सिद्धान्त शिखामणि 'अविद्या' तथा 'माया' का वही रूप स्वीकार करती है जो शंकर के अनुयायियों ने किया। अविद्या से सम्बन्ध के कारण ही भिन्न प्रकार के जीव हैं तथा माया से सम्बन्ध के कारण ब्रह्म सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान प्रतीत होता है। अविद्या के कारण जीव ब्रह्म से अपनी अभिन्नता का साक्षात्कार नहीं कर सकता तथा जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में से होकर निकलता है।

एक और विषय ध्यान देने योग्य है। पतंजलि के योग सूत्र में यह कहा गया है कि हमारे जाति, आयु और भोग का स्वरूप हमारे कर्म द्वारा निश्चित होता है तथा कर्म विपाक का नियम रहस्यमय है। परन्तु कर्म के फल स्वतः ही होते हैं। पाशुपतों तथा नैयायिकों ने इस विचार का केवल रूपान्तर किया है, जो उन्हीं के समाज के हैं। यह ध्यान देना रोचक है कि सिद्धान्त शिखामणि ने इस विचार का अनुकरण पाशुपतों से किया है जो यह मानते हैं कि कर्म विभाजन का प्रबन्ध तथा नियन्त्रण ईश्वर द्वारा होता है। अतः 'सिद्धान्त शिखामणि' हमारे सम्मुख सारसंग्रही विचार रखती हुई प्रतीत होती है जो अस्थिर है तथा अभी तक निर्माण की अवस्था में है। इससे ग्रन्थकार द्वारा उन विचारसंख्या के अव्यवस्थित संकलन का स्पष्टीकरण होता है जो पाशुपत सिद्धान्त, परिवर्तनशील आगम सिद्धान्त, सांख्य के प्रभाव तथा अन्त में शंकर के अनुयायियों में वेदान्त से प्राप्त किए हैं। इस कारण तेरहवीं शताब्दी में बसव के समय में हम दार्शनिक प्रणाली के रूप में विशेष रूप के क्रमबद्ध वीर शैव दर्शन की आशा नहीं कर सकते। हमारे लिए यह दिखाना सुगम होगा कि बसव के शिक्षक अल्लमप्रभु शंकर के वेदान्त मत के सम्प्रदाय से प्रभावित थे।

शंकर के एक शिष्य आनंदगिरि ने 'शंकर विजय' में शिव के विभिन्न प्रकार के भक्तों का विस्तृत वर्णन दिया है जो अपने बाह्य चिह्नों द्वारा परस्पर भिन्न किए जा सकते हैं। शंकर स्वयं केवल उन पाशुपतों तथा शैवों के विषय में लिखते हैं जिन्होंने सिद्धान्तों तथा आगमों का वर्णन किया, जिसमें भगवान शिव उपादान कारण (जिसमें संसार का निर्माण हुआ है) से भिन्न निमित्त कारण के रूप में वर्णित हैं।

---

[1] गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी
तद्वैषम्यात् समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तु त्रयाभिधा।
—सिद्धान्त शिखामणि अध्याय ५ श्लोक ३९।

[2] भोक्ता भोग्यं प्रेरतिता वस्तुत्रयमिदं स्मृतं,
अखण्डे ब्रह्म चैतन्ये कल्पितम् गुण भेदतः। —वही अध्याय ५ श्लोक ४०।

शकर के सूत्र २ २ ३७ पर भाष्य की अपनी टीका भामति मे वाचस्पति शिव के चार प्रकार के अनुयायियो के विषय म लिखते हैं। इनमे से हम शैवो तथा पाशुपता का यथेष्ठ साहित्य मिला है तथा हम यह प्रस्ताव करने का साहस कर सकते हैं कि *कारुणिक सिद्धात या आगमी शव विचारधारा के अनुरूप ही थे।* परन्तु रामानुज के भाष्य के उसी सूत्र म उल्लिखित कापालिको तथा कालमुखो का हम कोई साहित्य प्राप्त नही हो सका है। सूतसहिता म कामिक तथा अन्य आगमो कापालिको, लाकुलो, पाशुपता, सोमो तथा भरवो जिनके भी आगम थे, के नाम हम मिलते हैं। ये आगम अनेक पथो तथा सप्रदायो की शाखाओ म विभाजित हो गए।[1] अन्वेषण से हम यह ज्ञात होता है कि लाकुल तथा पाशुपत एक ही थे तथा हमारे पास इस विषय मे *सवदशन सग्रह के लेखक माधव का प्रमाण है। सम्भवत सूतसहिता छठी* शताब्दी ई० की रचना है जबकि माधव की रचना चौदहवी शताब्दी की है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपत लाकुलो से पूव काल के थे। न शकर और न वाचस्पति ही लाकुलीशो को पाशुपतो के समान बताते हैं। परन्तु चौदहवी शताब्दी से कुछ समय पूव लाकुलीश तथा पाशुपत सयुक्त हो गए थे तथा बाद म एक प्रणाली के रहे, जसाकि हम देखन हैं कि सोलहवी शताब्दी के अप्पय दीक्षित ने अपनी टीका *वेदान्तकल्पतरुपरिमल मे इन्ह एक ही माना है।* परन्तु इसम कुछ भी सन्देह नही कि छठी शताब्दी ईसवी से बहुत पूव, जो सभवत सूतसहिता की तिथि है लाकुलो के अपने आगम थ। हमे भरवो के उल्लेख मिलते हैं। भरव नाम शिव के अधिष्ठाता पुरुष पक्ष को दिया गया है और दक्ष पुत्री तथा शिव की अर्धांगिनी शक्ति स्त्री लिंग की प्रतीक है। परन्तु हम ऐसा कोई आगम प्राप्त नही हो सका जिसम कि भरव सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त का विवरण हो यद्यपि हम भरव के आनुष्ठानिक उल्लेख मिल हैं। सूत सहिता भी आगमी ऋषि जस श्वेत का उल्लेख करती है। इन अट्ठाइस ऋषियो म प्रत्यक के चार शिष्य थ जिसस कि सख्या ११२ हो गई। इनका उल्लेख सूत सहिता (खड ४ अध्याय २१ श्लोक २–३) म भी है जहाँ कि शरीर पर भस्म मल हुए तथा रुद्राक्ष की माला पहने हुए इनका वणन किया गया है। इतने प्राचीन काल मे इतने अधिक शव सन्तो का होना स्वाभाविक रूप से शव मत की प्राचीनता दर्शाता है। ये शव सन्त वर्णाश्रम धम के प्रति भक्ति रखते हुए प्रतीत होते हैं।

सभवत तेरहवी शताब्दी के एक उत्तरकालीन वीर शवागम नामक आगम म चार प्रकार की प्रणालियो मे शव पाशुपत वाम तथा कुल के विषय म उल्लेख है। शव पुन सौम्य तथा रौद्र म विभाजित हैं। सौम्य पाच प्रकार के हैं जिनमें पिशाच विद्या तथा जादू निवारण के रूप म सम्मिलित है। शव सम्प्रदाय दक्षिण कहलाता है

[1] सूतसहिता ४ यज्ञ वभव खड अध्याय २२ श्लोक २–४।

तथा शक्ति का पथ वाम कहलाता है। वाम तथा दक्षिण को सयुक्त करके एक सम्प्रदाय माना जा सकता है। केवल शिव से सबधित सिद्धात शास्त्र शुद्ध शव कहलाता है। किन्तु एक और मत है अथवा वस्तुत एक मत के तीन सम्प्रदाय, दक्षिण, कालमुख तथा महाव्रत नामक है।[1] भडारकर ने सुझाया है कि कालमुख तथा महाव्रतधारी एक ही और अभिन्न हैं। सिद्धात पुन तीन मतो मे विभाजित हैं– आदिशव, महाशव तथा अन्तशव। शैव मत की य प्रतिशाखाएँ पाशुपत शैवमत से उत्पन्न हुई हैं। वीर शैवागम के लेखक कहते हैं कि शैव मत ने असख्य प्रकार के विचार सम्प्रदायो अथवा भक्ता के समुदाय मे अपना प्रसार कर लिया था तथा उनके पास उनकी स्थिति का पोषक विशाल साहित्य था।[2] य सब सम्प्रदाय यदि उनका कोई साहित्य था तो अपने उस समस्त साहित्य के साथ अब प्राय नष्ट हो गए हैं।

उसी आगम के प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि वीर शैवमत प्राचीन शैवो का अग नहा था परतु यह एक सैद्धातिक सम्प्रदाय के रूप म उत्पन्न हुआ, जिसम मठो (धमस्थानो) म चार लिगो षटस्थल के रूप मे शिव की पूजा तथा उनके विशेष कमकाड एव पद्धतियो को अपनाया। यह विचार ठीक हो सकता है क्योकि शव मत पर किसी भी पूवतर रचना म हम वीर शव का एक विचार प्रणाली के रूप म नहीं पाते है। हस्तलखो मे मुकुटागम, सुप्रभेदागम वीरागवागम, आदि अनेको वीरशवागम हम उपलब्ध हैं। परन्तु वीर मत साराद्धार नाम से भी अभिहित सोमनाथ के भाष्य से युक्त बसव राजीय (हरनलेख) के अतिरिक्त उनम से किसी ने भी बसव अथवा वीर शव दशन का भी उल्लेख नही किया है। बसव राजीय बसव को शिव के बैल (नन्दी) के अवतार तथा शवो के सरक्षक क रूप मे वर्णित करता है। परन्तु इस कृति के लेखक ने बसव के दार्शनिक सिद्धातो के विषय म कुछ भी नही कहा है, वरन् षटस्थल के कल्प विस्तृत किया है।

प्राफेसर साखरे, नन्दिकेश्वर कृत लिंग धारण चन्द्रिका के अपने परिचय म स्वायम्भुवागम से एक अश उद्धृत करत है जिनमे रेवणसिद्ध के सामेश लिंग से, मरुल सिद्ध के सिद्धेशलिंग से, पडिताचाय के मल्लिकाजु न लिंग विश्वाराध्य से, एकोराम के रामनाथ लिंग से तथा विश्वाराध्य के विश्वेश लिंग से पौराणिक उद्गमो का वणन है। इसके आगे हमारे पास इन आचार्यों अथवा इनकी शिक्षाओ की प्रकृति का कोई प्रमाण नही है। हम यह भी नात नहा है कि वे अपने का वीर शव कहते भी थे या नहीं। यह विवरण वीर शव गुरु परम्परा अथवा जिनसे हम परिचित हैं। उन प्रकाशित या अप्रकाशित ग्रन्थ वीर शव मूल ग्रन्थो म प्राप्त वणन के अनुरूप नही है।

---

[1] दखिए–रामानुज का भाष्य (श्रीभाष्य) २–२–३७।

[2] समुद्र सिकतासख्यासामयास्सन्ति कोटिश। –वीर शवागम।
–मद्रास हस्तलेख।

सुप्रभेदागम मे दिए हुए और अनादि भूतकाल में उत्पन्न वीर शैवों के गोत्र तथा प्रवर सर्वथा काल्पनिक हैं। अतः उनका आगे विचार अनावश्यक है। ऐसा विचार वीर शैव दर्शन तथा मतग्राहिताओं के उद्गम तथा विकास पर कोई ऐतिहासिक प्रकाश नही डाल सकता है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि एक परंपरा है जो अगस्त्य, रेणुका अथवा रेवण सिद्ध, सिद्धराम तथा सिद्धांत शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य को संयुक्त करती है। श्रीपति मुख्यतः अपने तर्कों को उपनिषदों तथा पुराणों पर आधारित करते हैं परन्तु वह अगस्त्य सूत्र तथा रेणुकाचार्य का भी उल्लेख करते हैं। किन्तु वह बसव तथा अल्लमप्रभु, चन्नबसव, माचय गोग, सिद्धराम तथा महादेवी प्रभृति उसके सहयोगी समकालिकों का उल्लेख नही करते हैं।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि वीर शैवमत के विकास की दो या अधिक धाराएँ थीं जो बाद में एक दूसरे में मिल गई और वीर-शैव सिद्धांत का एकमात्र सम्प्रदाय मानी जाने लगी। बसव के वचनों से बसव द्वारा प्रतिपादित मत के वास्तविक दार्शनिक महत्व का मूल्यांकन करना कठिन है। प्रभुलिंग लीला तथा बसव पुराण में हम एक ऐसी विचार प्रणाली मिलती है जिसको कि अन्य समर्थक सामग्री की अनुपस्थिति में बसव के समय में वीर शैवमत के नाम से ज्ञात विचार प्रणाली का प्रायः मूल्यांकन करने वाला माना जा सकता है।

हम देखते है कि स्थल तथा लिंग-धारण के सिद्धांत प्रभुलिंग लीला के लेखक को ज्ञात थे। परंतु यद्यपि एक स्थान पर जहाँ अल्लम प्रभु बसव को शिक्षा दे रहे हैं षट्स्थल का उल्लेख है तथापि सम्पूर्ण पुस्तक में सम्पूर्ण बल सत्ता के आधार शिव से (जीव) आत्मा की एकता के सिद्धांत पर है।[2] उपरोक्त गद्यांश में यह माना गया है

---

[1] अतः श्रीकर भाष्य २–२–३७, पृ० २३४ तथा ३–३–१, पृ० ३४७ में श्रीपति के कथन में यह प्रतीत होता है कि रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, रामसिद्ध, उद्भटाराध्य, वेमनाराध्य वास्तविक आचार्य थे जिन्होंने अपने विचार अथवा विश्वास के सिद्धांतों को किन्हीं विशेष रचनाओं में व्यक्त किया था। परंतु दुर्भाग्य से ऐसी रचनाओं का कुछ भी चिह्न नही खोजा जा सका है न ही उनके द्वारा प्रतिपादित उनके साक्षात् विचारों का वर्णन ही संभव है। यह केवल अनुमान का ही विषय है कि श्रीपति ने स्वयं उन्हें देखा था अथवा नही। वह उन आचार्यों की रचनाओं से उद्धरण नही देते है तथा यह पूर्णतया संभव हो सकता है कि वे केवल परम्परा के आधार पर ही कथन कर रहे हों। अन्य गद्यांश (२–१–४) में श्रीपति मनु, वामदेव, अगस्त्य, दुर्वासा, उपमन्यु के नाम का उल्लेख करते हैं जो रेवणसिद्ध तथा मरुलसिद्ध के साथ पूर्णतः देवशास्त्रीय पौराणिक चरित्र हैं।

[2] देखिए–प्रभुलिंगलीला अध्याय १६, पृ० १३२–४।

कि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण से संबंधित दोहरी गाँठ है जिसके अनुसार एक एक जोड़े वाले तीन वर्गों में छः स्थल हैं। इस प्रकार स्थूल से संयोजित दो गाँठें भक्त तथा महेश्वर के नाम से जानी जाती हैं। सूक्ष्म के साथ, प्रारंभ से संयोजित प्राण तथा प्रसादलिंग स्थल कहलाते हैं। जो कारण के साथ हैं व भावात्मक रूप के हैं तथा शरण एवं ऐक्यस्थल कहलाते हैं। अन्य रचनाओं जैसे बसवराजीय, वीर शैवागम तथा सिद्धान्त शिखामणि में स्थलों के नामों की संख्या १०१ तक पहुँच गई है। किन्तु इनमें से किसी भी रचना में उनका दार्शनिक महत्व दर्शाने के लिए भिन्न स्थलों के विचार की व्याख्या नहीं की गई है। प्रभुलिंग लीला में हम सुनते हैं कि चन्नबसव षटस्थल का रहस्य जानते थे परन्तु हम यह नहीं जानते कि वास्तव में वह रहस्य क्या था। इस संबंध में गुरु, लिंग, चर, प्रसाद तथा पादोदक का भी उल्लेख है। पुस्तक में सम्पूर्ण प्रमुखता आत्मा तथा अन्य किसी भी वस्तु की शिव से एकरूपता का साक्षात्कार करने की आवश्यकता पर दी गई है। वल्लभ बाह्य कर्मकांडों की निन्दा करते हैं तथा विश्व की अनंत सत्ता एवं आत्मा का शिव से साक्षात्कार करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। वे प्राणी जीवन के प्रति सब प्रकार की क्षति की अत्यधिक निन्दा करते हैं तथा लोगों का पृथ्वी पर हल जोतना को त्यागने के लिए विवश करते हैं क्योंकि इससे अनेक कीटों की हत्या होगी। अल्लम पुनः लोगों को अपने समग्र कर्मफलों को ईश्वर को समर्पित करने तथा राग रहित कर्तव्य करने की शिक्षा देते हैं। वास्तव में अल्लम द्वारा प्रतिपादित वीर शैवविचार, शंकर के दर्शन से कदाचित् ही विभिन्न किया जा सकता है, क्योंकि अल्लम ने एक सत्ता स्वीकार की जो माया तथा अविद्या की उपाधि के अन्तर्गत पृथक आकारों में प्रदर्शित हुई। इस ग्रंथ में संपूर्ण संसार का एक भ्रम होगा। अल्लम द्वारा आदेशित भक्ति भी बौद्धिक स्वरूप की है जिसके अंतर्गत निरंतर अविचल चिंतन तथा सब वस्तुओं की अंतिम सत्ता का शिव से साक्षात्कार करना है। भक्ति का यह विचार सिद्धांत शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य को प्रभावित करता प्रतीत होता है, जिन्होंने अंतरभक्ति का लगभग इन्हीं शब्दों में वर्णन किया है।[1]

---

[1] लिंग प्राणं समाधाय प्राणं लिंगं तु साम्मवम्
स्वस्थं मनस्तथा कृत्वा न किंचिच्चिन्तयेदपि।
साम्यन्तरा भक्तिरिति प्रोच्यते शिव योगिभिः
सा यस्मिन् वर्तते तस्य जीवनं भ्रष्टवीजवत्।

—सिद्धांत शिखामणि अध्याय ६, पद्य ८–६।

तत सावधानेन तत्प्राण लिंगे
समीकृत्य कृत्यानि विस्मृत्य मत्या,
महायोग–साम्राज्य–पट्टाभिषिक्ता
भजेन्तरमना लिंगतान्तरम्य–सिद्धिम्–   —प्रभुलिंग लीला अध्याय १६, पृ० ६३।

मुत्ताई से अपने उपदेश में अल्लम कहते हैं कि जिस प्रकार एक दूध पीते बालक को मां के दूध से छुड़ाकर अनेक प्रकार के भोजन दिए जाते हैं, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षक भक्त का बाह्य प्रकार की पूजा में ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा देता है तथा बाद में उनको छुड़वा देता है जिससे अन्त में वह सब प्रकार के कर्त्तव्यों से विरक्त हो जाता है तथा सत्य ज्ञान प्राप्त करता है जिससे उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। यहां अध्ययन तथा व्याख्यान का यथेष्ठ उपयोग नहीं है परन्तु सबका शिव से तादात्म्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है।[1]

सिद्धराम तथा गोरक्ष से अपने वार्तालाप में, वह केवल शिव के अतिरिक्त सब वस्तुओं का अभाव ही प्रदर्शित नहीं करते वरन् एक प्रकार के जादूपूर्ण योग से अपना परिचय बताते हैं जिसका विस्तृत वर्णन नहीं दिया है तथा पतंजलि के योगशास्त्र में भी नहीं मिल सका है। अपने शिष्य बसव को आदेश में अल्लम ने भक्ति पठस्थन तथा योग के स्वरूप की संक्षिप्त व्याख्या की है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग द्वारा प्राप्त शान्तिपूर्ण निष्क्रियता अन्य कुछ नहीं वरन् केवल भिन्न प्रकार के अनुभवों तथा एक पूर्ण व्यक्ति के रूप में हमारे जीवन के अनुभव के साथ साथ परम सत्य शिव में संपूर्ण तथा स्थिर अभिन्नता है। यह योग जो परम तादात्म्य की ओर प्रवृत्त करता है शरीर के स्नायुसंस्थान की सब जीव संबंधी क्रियाओं को उच्च एवं उच्च स्तर पर रोकने में जब तक शक्तियां महान् सत्ता (भगवान शिव) से एक न हो जाएं किया जा सकता है। इस प्रकार जब तक योगी शिव में स्थिर नहीं हो जाता चक्र घूमते तथा चलते रहते हैं। *सम्पूर्ण भौतिक क्रिया विशेष योग विधि द्वारा रोक दी जाती है,* हमारा चित्त भटकता अथवा परिवर्तित नहीं होता वरन् शुद्ध भगवान शिव की चेतना में स्थिर रहता है।

बसव के शिक्षक अल्लम कहते हैं कि प्राणशक्ति वायु को पूर्ण रूप से रोककर, प्रबल प्रयत्न से चित्त को स्थिर किए बिना भक्ति नहीं हो सकती तथा बंधन से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। प्राण शक्ति अथवा वायु को रोकने से ही वीरशैव का चित्त रुक जाता है तथा शरीर के भौतिक मूल तत्वों जैसे अग्नि जल आदि में मिश्रित हो जाता है। माया मनस की उत्पत्ति है तथा वायु भी मनस की उत्पत्ति मानी जाती है तथा यह वायु मनस की क्रिया द्वारा शरीर बन जाती है। शरीर का अस्तित्व केवल वायु की क्रिया द्वारा ही संभव है जो हमें शिव के साथ सब वस्तुओं की एकता का साक्षात्कार करने से जो भक्ति भी कहलाती है दूर रखता है। अतः वीरशैव को वायु की साधारण क्रिया को, उन्हें एक बिन्दु पर केन्द्रित करके तथा वायु की भिन्न चक्रों अथवा स्नायु तंतु जाल से श्रेष्ठता स्वीकार कर विरुद्ध क्रिया का सहारा लेना

---

[1] देखिए प्रभुलिंग लीला अध्याय १२ पृ० ५७–८।

पड़ता है, (शास्त्रीय भाषा में जो छ चक्रों पर नियन्त्रण के रूप में ज्ञात है), जो स्वयं में ही वायु के नियन्त्रण की क्रिया की अवस्थाएँ अथवा स्थल, षट्स्थल माने गए है।[1] इस प्रकार देखा गया है कि प्रभुलिंग लीला में दिए हुए षट्स्थल के सिद्धांत के वर्णन के अनुसार षट्स्थल की क्रिया स्थलों के एक समूह से होती हुई ऊपर की ओर जाने वाली यात्रा के समान मानी जाएगी तथा केवल इसी के द्वारा शिव से तादात्म्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। योग की इस शक्तिपूर्ण क्रिया का आदर्श एक अध-शारीरिक क्रिया की व्यावहारिक विधि है जिससे ईश्वर तथा आत्मा के परम तादात्म्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। शंकर के अद्वैत दर्शन में यह कहा गया है कि ब्रह्मन् से आत्मा के परम तादात्म्य का साक्षात्कार प्राप्त करना, योग्य जीवन का उच्चतम लक्ष्य है। किन्तु यह कहा गया है कि ऐसे ज्ञान का साक्षात्कार अद्वैत मूल सूत्रों जैसे 'तत्त्वमसि' के महत्व की उचित अनुभूति द्वारा ही हो सकता है। यह किसी ऐसे शक्तिपूर्ण अभ्यास का अस्वीकार करता है जिसे अल्लम द्वारा शिक्षित वीर शैव के षट्स्थल सिद्धान्त में बहुत प्रबलता से आदर्शित किया गया है।

अल्लम अपनी एक यात्रा में गोरक्ष से मिले थे। गोरक्ष ने भी जो संभवत शैव थे अपनी यौगिक क्रियाओं द्वारा ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त कर ली थी कि किसी भी शस्त्र के प्रहार का उन पर आघात नहीं हो सकता था। उन्होंने इसका प्रदर्शन अल्लम को दिखाया था। इसके उत्तर में अल्लम ने अपने शरीर में एक ओर से दूसरी ओर तलवार निकालने के लिए उनसे कहा। परन्तु गोरक्ष को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जब उन्होंने अल्लम के शरीर के भीतर अपनी तलवार डाली तब उसके आघात का शब्द भी नहीं हुआ। अल्लम के शरीर से तलवार इस प्रकार निकली जैसे वह रिक्त स्थान में से निकल रही हो। गोरक्ष ने बहुत नम्रतापूर्वक यह रहस्य ज्ञात करना चाहा जिससे कि अल्लम ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्ति का प्रदर्शन कर सके। इसके उत्तर में अल्लम ने कहा कि शरीर के समान माया जम जाती है तथा जब माया व शरीर दोनों जम जाते हैं तब छायारूप आकर वास्तविक प्रतीत होने लगते हैं।[2] तथा शरीर व चित्त एक प्रतीत होते हैं। जब शरीर तथा माया हृदय में हटा दिए जाते हैं तब प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है। इस पर गोरक्ष ने अल्लम से पुन आग्रह किया कि वह उन्हें शक्तियों की दीक्षा दें। अल्लम ने उनके शरीर का स्पर्श किया तथा उन्हें आशीर्वाद दिया परिणामस्वरूप एक आंतरिक परिवर्तन उत्पन्न हुआ। इसके प्रभाव से राग नष्ट हो गया तथा राग नष्ट होने से घृणा, अहंकार तथा अन्य दोष भी नष्ट हो गए। अल्लम ने पुन यह कहा कि जब तक आत्मा यह नहीं अनुभव

---

[1] प्रभुलिंग लीला भाग ३ पृ० ६–८ (प्रथम प्रकाशन)।

[2] वही, पृ० ५५ (प्रथम प्रकाशन)।

कर लेती कि शरीर संबंध असत्य है तथा दोनों पूर्ण रूप से पृथक हैं, तब तक उन भगवान शिव से वास्तविक तादात्म्य का अनुभव नहीं हो सकता, जिसके प्रति भक्ति समग्र सत्य ज्ञान का कारण है। शिव के निरंतर चिंतन तथा प्राणायाम की उचित विधि द्वारा ही परम एकता का साक्षात्कार संभव है।

षटस्थल की शक्तिपूर्ण क्रिया को उचित तथा व्यावहारिक रूप में ग्रहण करने तथा शंकर द्वारा आदर्शित अभिन्नता के साक्षात्कार में एक सूक्ष्म अंतर है। शंकर वेदांत में, जब अनुरूप सहायक क्रियाओं द्वारा चित्त उचित रूप में तैयार हो जाता है तब गुरु, शिष्य अथवा होने वाले संत को आत्मा तथा ब्रह्मन् की अभिन्नता के परम ज्ञान के विषय में उपदेश देता है तथा होने वाला संत केवल एक ही सत्ता ब्रह्मन् से, अपने तादात्म्य के सत्य का प्रत्यक्षीकरण कर लेता है। वह यह भी तुरंत प्रत्यक्ष कर लेता है कि द्वैत का सब ज्ञान असत्य है। यद्यपि वह अपने को शुद्धचित्त अथवा ब्रह्मन् की शून्यता में वास्तविक रूप में परिवर्तित नहीं करता है। वीरशैव प्रणाली में षटस्थल की योजना यौगिक क्रियाओं के संपादन की योजना है। इनके द्वारा भिन्न प्राण शक्तियों तथा स्नायु चक्र से संयोजित प्राण नियामों का नियंत्रण होता है तथा इसी विधि द्वारा योगी अपनी वासनाओं को नियंत्रित कर लेता है तथा तब तक नई एवं उन्नत ज्ञान की अवस्थाओं से परिचित कराया जाता है जब तक उसकी आत्मा नित्य सत्ता शिव से इस प्रकार एक रूप नहीं हो जाती कि तथ्य तथा विचार दोनों में द्वैत तथा मिथ्याभास नष्ट हो जाए। इस प्रकार एक सफल वीर शैव संत को केवल शिव से अपने तादात्म्य का ज्ञान ही नहीं करना चाहिए वरन् उसके समस्त शरीर का (जो सत्ता का आभास अथवा प्रतिबिम्ब था) अस्तित्व समाप्त हो जाना चाहिए। उसका प्रकट शरीर संसार में भौतिक तथ्य नहीं होगा इससे अन्य भौतिक पदार्थों से भी कोई संघात संभव नहीं होगा यद्यपि बाह्य रूप में वे भौतिक पदार्थ प्रतीत हो सकते हैं।

एक समान दार्शनिक विचार, सिद्ध सिद्धांत पद्धति नामक एक रचना में पाया जा सकता है जो गोरक्ष कृत कही जाती है जो स्वयं शिव के अवतार एक नाथ संत माने जाते हैं। उनके विषय में अनेक आख्यान हैं तथा उनके व उनके शिष्य की चमत्कारपूर्ण क्रियाओं तथा कार्यों की प्रशंसा में बंगला तथा हिंदी भाषा में अनेक कविताएं रची गई हैं। उनका काल अनिश्चित है। आठवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के लेखकों में गोरक्ष के उल्लेख मिलते हैं तथा गुजरात, नेपाल, बंगाल तथा अन्य उत्तरी पश्चिमी भारत के भागों में उनके चमत्कारपूर्ण क्रियाओं के करने का वर्णन है। उनके एक प्रसिद्ध शिष्य का नाम मत्स्येंद्रनाथ था। शिव पशुओं के भगवान, पशुपति कहलाते हैं तथा गोरक्ष का अर्थ भी पशुओं का रक्षक है। कोष में 'गो' का अर्थ एक ऋषि के नाम से तथा पशु के नाम से भी है। अतः गोरक्ष तथा पशुपति शब्दों में

एक सुगम सहचार है। गोरक्ष के विचार वही माने जाते हैं जो कि सिद्धांत के हैं। यह इस तथ्य का स्मरण कराता है कि दक्षिण के शैव सिद्धांत 'सिद्धांत' में महेश्वर अथवा शिव द्वारा प्रतिपादित माने जाते हैं, जिसका विस्तृत वर्णन सिद्धांतों के आगम दशा के रूप में, इस रचना में अन्य स्थान पर दिया हुआ है। गोरक्षनाथ के उपदेशों के दार्शनिक पक्ष पर केवल कुछ ही संस्कृत पुस्तकें हमको प्राप्त हैं। किन्तु स्थानीय भाषाओं में अनेक पुस्तकें हैं जो कि गोरखनाथ (जो गोरखनाथ भी कहलाते हैं) के सम्प्रदाय के कानफटायोगियों की चमत्कारपूर्ण अद्भुत शक्तियों का वर्णन करती हैं।

इनमें से एक संस्कृत रचना 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति' कहलाती है। यहां पर अचल की परम सत्ता तथा शुद्ध चैतन्य का वह स्थिर स्वरूप देखा जा सकता है जो हमारे आंतरिक तथा बाह्य अनुभवों का अनंत आधार है। यह कभी उत्पन्न अथवा नष्ट नहीं होता तथा उस अर्थ में नित्य तथा सदैव स्वयं प्रकाश है। इस प्रकार यह उस साधारण ज्ञान से भिन्न है जो बुद्धि कहलाता है। साधारण ज्ञान का उदय तथा अस्त होता रहता है परंतु यह शुद्ध चैतन्य जो शिव से एकरूप है, समस्त घटनाओं तथा काल से परे है। अतः यह सब वस्तुओं का आधार माना जाता है। इसी से समस्त कार्य उदाहरणार्थ शरीर, करण (इन्द्रिय) कर्ता तथा आत्माएं अथवा जीव उत्पन्न होते हैं। इसी की स्वच्छन्दता से तथाकथित ईश्वर तथा उसकी शक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रारंभिक अवस्था में शिव अपने को अपनी शक्ति से अभिन्न प्रदर्शित करते हैं। यह सामरस्य कहलाता है अर्थात् दोनों का एक ही रस होना। यह परम स्वरूप मूल ब्रह्म है (जो कुल भी कहलाता है) जो अपने को भिन्न रूपों में प्रदर्शित करता है। हमें सत्ता के इस अनंत स्वरूप को जो अपरिवर्तनशील है उस सत्ता से विभिन्न करना है जो जाति प्रथम तथा अन्य विभिन्न लक्षणों से सम्बंधित है। यह विभिन्न लक्षण महान् सत्ता में भी रहते हैं क्योंकि अनुभव की समस्त अवस्थाओं में अनंत सत्ता के अतिरिक्त इन विभिन्न लक्षणों की कोई सत्ता नहीं है जो सबको शुद्ध चैतन्य की ऐक्यता में आश्रय देती है। क्योंकि इन विभिन्न गुणों को अपने से परे अपरिवर्तनशील आधार की तुलना में कोई सत्ता नहीं अतः अंत में उन्हें सर्वव्याप्त सत्ता से समरस मानना होगा।

समरस का प्रयोग एकरसता है। एक वस्तु जो अन्य वस्तु से भिन्न प्रगट होती है, किन्तु जो वास्तविकता अथवा सारूप्य से नहीं है वह प्रथम समरस कहलाता है। यह भी वही विधि है जिससे सत्ता तथा आभास के भेदाभेद सिद्धान्त की व्याख्या की है। जिस प्रकार जल की एक बिन्दु जल के उस विस्तार से भिन्न प्रतीत होती है जिसमें वह रहती है परन्तु वास्तव में उसकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है तथा जल के विस्तार से भिन्न स्वाद नहीं है। परम सत्ता अपना स्वरूप नष्ट किए बिना अपने को

भिन्न रूपों में प्रदर्शित करती है यद्यपि उन सबमें अथवा उनके द्वारा केवल वही परम सत्ता के रूप में रहती है। यही कारण है कि यद्यपि परम सत्ता सब शक्तियों से प्रदत्त है तथापि यह अपना प्रदर्शन भिन्न अभिव्यक्त रूपों के अतिरिक्त नहीं करती है। इस प्रकार सर्वशक्तिमान शिव यद्यपि समस्त शक्तियों का उद्गम है, तथापि वह इस प्रकार व्यवहार करता है जैसे शक्ति रहित हो। अतः यह शक्ति शरीर में सदा जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति के रूप में तथा भिन्न आकारों में भी अभिव्यक्त होता है। शरीर को अनश्वर समझना कायसिद्धि कहलाता है।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में दिए हुए गोरक्ष के दार्शनिक विचारों की व्याख्या के अधिक विस्तार में जाने की हमें आवश्यकता नहीं क्योंकि ऐसा करने से विषयान्तर हो जाएगा। परन्तु हम हठयोग अर्थात् नाड़ी चक्र के नियन्त्रण का आश्चर्यजनक संयोग जीव तथा संसार का एक समान सत्ता होने के विचार से (यद्यपि वे भिन्न प्रतीत होते हैं) मिलता है जैसा हमें प्रभुलिंग लीला के उस व्याख्यान में मिलता है जो अल्लम प्रदत्त माना गया है। यह एक प्रकार का भेदाभेद का सिद्धान्त भी मानता है तथा शंकर द्वारा उपस्थित उपनिषदों की व्याख्या का विशेष विरोधी है।

षट्स्थल का विचार अवश्य ही या तो पृथक सिद्धान्त के रूप में अथवा शैवमत के किसी प्रकार के अंश के रूप में प्रचलित होगा। हम जानते हैं कि नाथ मत के अनेक सम्प्रदाय थे जिनमें से अनेक अब लुप्त हो गए हैं। षट्स्थल का नाम किसी भी धार्मिक संस्कृत रचना में नहीं मिल सकता है। सिद्धान्त शिखामणि से पूर्व हमारे पास वीर नाथ मत का कोई विवरण नहीं है। रचनाओं में इसका वर्णन मिलता है जिनमें से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण में से कुछ प्रभुलिंग लीला तथा बसव पुराण हैं। हम यह भी सुनते हैं कि बसव के भतीजे चन्न बसव को षट्स्थल के सिद्धान्त की दीक्षा दी गई थी। प्रभुलिंग लीला में हम देखते हैं कि अल्लम ने षट्स्थल सिद्धान्त की शिक्षा बसव को दी थी। प्रभुलिंग लीला में हम अल्लम तथा गोरक्ष के मध्य एक रोचक संवाद भी पाते हैं। गोरक्ष के सिद्ध सिद्धान्त पद्धति की विषय सूची का भी हमने संक्षिप्त परीक्षण किया है तथा हम यह देखते हैं कि अल्लम द्वारा उपदिष्ट षट्स्थल का सिद्धान्त सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में प्राप्त योग सिद्धान्त के लगभग समान है। यदि हमारे पास अधिक स्थान होता तो अल्लम तथा गोरक्ष के सिद्धान्तों की रोचक तुलना देते। यह असम्भव नहीं है कि गोरक्ष तथा अल्लम के विचारों का परस्पर विनिमय हुआ हो। दुर्भाग्य से गोरक्ष का काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सकता यद्यपि यह ज्ञात है कि उनके सिद्धान्त मध्यकाल में लम्बी अवधि तक भारत के भिन्न भागों में बहुत दूर तक विस्तृत थे।

षट्स्थल की व्याख्या करने वाली भिन्न रचनाओं में इस (षट्स्थल) की व्याख्या भिन्न है। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि बसव के पश्चात् षट्स्थल का सिद्धान्त

वीरशव मत का अत्यत महत्वपूर्ण तत्व माना जाता था तथापि षट्स्थल क्या हो सकता था, इसके विषय मे हम सब भ्रम मे हैं। सत्य तो यह है कि हम सख्या के विषय म भी निश्चित नही हैं। जिस प्रकार कि वीरशैव सिद्धात म १०१ स्थलो का उल्लेख है तथा इसी प्रकार 'सिद्धात शिखामणि' मे भी है। परतु अन्य स्थानो जैसे श्रीपति के भाष्य मायिदेव के 'अनुभवसूत्र' तथा 'प्रभुलिंग लीला' एव 'बसव पुराण' म हम केवल छ स्थलो का ही उल्लेख पाते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न प्रमाणित रचनाओ मे स्थल समान नही ह। इन स्थलो के विचार भी भिन्न हैं। कभी-कभी वे भिन्न अर्थ मे उपयोग किए गए हैं। कुछ रचनाओ मे स्थल का उपयोग शरीर के छ नाडी चक्र के निर्देश के लिए हुआ है अथवा उन छ केन्द्रो क लिए, जिनसे ईश्वर की शक्ति भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होती है। कभी कभी उनका उपयोग ईश्वर की छ गौरवपूर्ण शक्तियो के निर्देश के लिए हुआ है, तथा कभी मुख्य प्राकृतिक तत्वो से जसे पृथ्वी, अग्नि, जल आदि के निर्देश के लिए हुआ है। सम्पूर्ण भाव ऐसा प्रतीत होता है कि समष्टि विश्व तथा व्यष्टि का सूक्ष्म दर्शन अभिन्न सत्ताए होने के कारण किसी केन्द्र की दुष्चरित्र शक्तियो का नियत्रण सभव है तथा शक्ति की अभिव्यक्ति के अधिक शक्ति केन्द्रित बिन्दु की ओर लाया जा सकता है एव यह एक अवस्था से दूसरी पर आरोहण की ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया है।

मायिदेव का अनुभव-सूत्र[1]

प्रथम शिक्षक उपमन्यु का जन्म आईपुर मे हुआ था। द्वितीय शिक्षक सोमनाथ प्रभु थे। तत्पश्चात् महागुरु कालेश्वर आए। श्रौत तथा स्मार्त साहित्य तथा उनकी प्रथाओ व विधियो म कुशल उनक पुत्र श्री बाप्पनाथ थे। बोप्पनाथ क पुत्र श्री नाक-राज प्रभु थ जो वीरशैव कर्मकाड तथा धर्म की प्रथाओ म कुशल थे। नाकराज के शिष्य सगमेश्वर थे। सगमेश्वर के पुत्र मायिदेव थे। ये शिवाद्वैत के ज्ञान मे कुशल हैं तथा षटस्थल ब्रह्मवादी हैं। शवागम कामिक से आरम्भ होते हैं तथा वातुल से समाप्त होते हैं। वातुल तत्र अत्यत उत्तम है। दूसरे भाग (जो प्रदीप कहलाता है) क अतगत शिव सिद्धात तत्र है। षटस्थल का सिद्धात प्राचीन विचारो के साथ गीता के सिद्धातो पर आधारित है। इसका समर्थन शिक्षको के उपदेशो तथा अनुभव के

---

[1] अनुभव सूत्र दो भागो म पूर्ण 'शिव सिद्धान्त तत्र' का दूसरा भाग है। प्रथम भाग विशपाथ प्रकाशक है। 'अनुभव-सूत्र' मायिदेव द्वारा लिखा हुआ है यह अनुभव सूत्र के परिशिष्ट से स्पष्ट है। इसका उल्लेख 'शिव सिद्धात-तत्र' के अन्तिम परिशिष्ट मे भी है।

साक्षात्कार एवं तर्क द्वारा किया गया है। अनुभव सूत्र में (१) गुरु परंपरा (२) स्थल की परिभाषा (३) लिंगस्थल (४) अंगस्थल (५) लिंग संयोग विधि (६) लिंगार्पण सद्भाव (७) सर्वांग लिंग माहित्य तथा (८) क्रिया विश्रांति हैं।

स्थल की परिभाषा एक ब्रह्मन् के रूप में दी है जो सत् चित् तथा आनंद से अभिन्न ही है, जो संसार की अभिव्यक्ति तथा संहार के आधार शिव का परम तत्व कहलाता है। यह वह तत्व भी है, जिसमें से, महत् आदि भिन्न तत्व उत्पन्न हुए हैं। स्थ' का अर्थ है स्थान तथा 'ल' का अर्थ है—लय। यह समस्त शक्तियों का उद्गम है तथा सब प्राणी इसमें से आए हैं तथा इसी में वापिस जाएंगे। इस परम तत्व की शक्ति के आत्म क्षोभ के कारण ही अन्य भिन्न स्थल विकसित होते हैं। यह एक स्थल लिंग स्थल तथा अंगस्थल में विभाजित किया जा सकता है। जिस प्रकार रिक्त स्थान का कमरे के अंदर के स्थान अथवा जलपात्र के अंदर के स्थान का विशेष गुण दिया जा सकता है, उसी प्रकार स्थल का द्विविभाजन, पुजारी तथा पूजा का विषय प्रतीत हो सकता है।

शिव अपने में अपरिवर्तनशील रहकर इन दो रूपों में प्रगट होते हैं। एक ही शिव शुद्ध चित्त तथा लिंग में एक अंग के रूप में प्रगट होते हैं। लिंगांग जीव भी कहलाता है।

जैसे स्थल ब्रह्मन् तथा जीव दो भागों में हैं वैसे ही उसकी शक्ति भी दोहरी है। वह निर्विकल्प है तथा महेश्वर कहलाता है। यह अपनी शुद्ध स्वेच्छा से दो रूप ग्रहण कर लेता है। इसका एक भाग लिंग अथवा ब्रह्मन् से संयोजित है तथा दूसरा अंग अथवा जीव से। वास्तव में शक्ति तथा भक्ति समान हैं।[1] जब शक्ति सृष्टि के लिए गतिशील होती है तब वह प्रवृत्ति के रूप में शक्ति कहलाती है तथा अवरोध के रूप में निवृत्ति भक्ति कहलाती है।[2] भक्ति के अनेक रूप होने के कारण उसकी निर्विकल्पता का अवच्छेद भिन्न आकारों में हो जाता है। शक्ति के दोहरे कार्य उच्च तथा निम्न अपने को उस तथ्य में प्रगट करते हैं कि उच्च, संसार की अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा निम्न भक्ति के रूप में ईश्वर में वापस जाने की ओर प्रवृत्त होता है। वही इन दोहरे रूपों में माया तथा भक्ति कहलाती है। लिंग में शक्ति भक्ति में अंग के रूप में प्रगट होती है तथा जीव एवं अंग की ऐक्यता शिव तथा जीव की अभिन्नता है।

---

[1] शक्ति भक्त्योर्न भेदोऽस्ति।   —अनुभव सूत्र, पृ० ८।

[2] शक्त्या प्रपंच सृष्टि स्यो,
भक्त्या तद्विलयोमत।   वही।

लिंग-स्थल तीन प्रकार के हैं जैसे, (१) भावलिंग (२) प्राणलिंग तथा (३) इष्टलिंग। भावलिंग केवल शुद्ध सत्ता की आंतरिक अनुभूति से ही जाना जा सकता है तथा भावलिंग निष्कल कहलाता है। प्राणलिंग विचार द्वारा समझी हुई सत्ता है अत यह निर्विकल्प तथा सविकल्प दोनो है। इष्टलिंग वह है जो आत्म साक्षात्कार अथवा भक्ति के रूप मे किसी के शुभ की पूर्ति करता है तथा वह दिक व काल से परे है।

अनत शक्ति शुद्ध निर्भास है तथा सबसे परे है शास्त्रतीत है, इसके पश्चात् इच्छा शक्ति है जो शुद्ध ज्ञान के रूप मे विद्या भी कहलाती है। तीसरी, क्रियाशक्ति कहलाती है जो निवृत्ति की ओर ले जाती है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की तीन शक्तियाँ छ प्रकार की हो जाती हैं।

छ स्थलो का पुन वर्णन निम्नलिखित रूप म हैं

(१) वह जो स्वय मे सम्पूर्ण रूप से पूर्ण, सूक्ष्म अनादि, अनत तथा अपरिमापित है परन्तु शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति के रूप मे केवल हृदय की अनुभूति समझा जा सकता है, महात्मलिंग कहलाता है।

(२) वह जिसे हम इन्द्रियो से परे शुद्ध चैतन्य के रूप मे विकास का बीज पाते हैं जो सादाख्य तत्व भी कहलाता है, प्रसादघनलिंग कहलाता है।

(३) शुद्ध प्रकाशमान पुरुष जो बाह्याभ्यतर भेद रहित है, आकार रहित है तथा आत्मन् के नाम से जाना जाता है चर लिंग कहलाता है।

(४) जब यह इच्छाशक्ति द्वारा स्वय को अहकार म अभिव्यक्त करता है, तब हमे शिवलिंग मिलता है।

(५) जब यह अपने ज्ञान शक्ति तथा सर्वव्याप्ति द्वारा सब प्राणियो को समस्त सुखो के क्षेत्र के पर ले जाने के लिए गुरु का स्थान ग्रहण करता है तब यह गुरुलिंग कहलाता है।

(६) इसका वह पक्ष जिसमे कि यह अपनी क्रिया द्वारा विश्व को आश्रय देता है तथा सबको अपने चित्त में रखता है आचार लिंग कहलाता है।

इन स्थलो, अगस्थलो के पुन विभाग व उपविभाग हैं।

'अग्' से तात्पय है ब्रह्म तथा 'ग' से तात्पय है वह जो जाता है। अगस्थल तीन प्रकार का है, जसे योगाग भोगाग, त्यागाग। प्रथम म मनुष्य शिव से सयोग का आनन्द प्राप्त करता है। द्वितीय भोगाग मे मनुष्य शिव के साथ उपभोग अनुभव करता है तथा त्यागाग म मनुष्य भ्रम अथवा जन्म व पूवजन्म के असत्य विचार को त्याग देता है। योगाग मूल कारण है, भोगाग सूक्ष्म कारण है तथा त्यागाग भौतिक

कारण है। योगाग स्वप्नरहित अवस्था है भोगाग साधारण सुप्तावस्था है तथा त्यागाग जागरण की अवस्था है। योगाग प्रज्ञा की, भोगाग तेजस की तथा त्यागाग विश्व की अवस्था है। योगाग शिव से ऐक्य तथा शरणस्थल कहलाता है। भोगाग दो प्रकार का है–प्राणलिगी तथा प्रसादी। स्थूल भी दो प्रकार का है–भक्त-स्थल तथा महेश्वर स्थल। पुन प्रज्ञा ऐक्यस्थल तथा शरणस्थल है। तेजस, प्राणलिगी तथा प्रसादी है। विश्व पुन महेश्वर तथा भक्तस्थल के रूप म दो प्रकार का है। ऐक्य शरण प्राणलिगी, प्रसादि, माहेश्वर तथा भक्त क्रमानुसार छ स्थल माने जा सकते हैं।

पुन सवशक्तिमत्ता सताप तथा अनादि चेतना स्वतन्त्रता शक्ति की अनवरुद्धता तथा अनत शक्ति–ये ईश्वर के अग हैं जो षटस्थल म होने के कारण भिन्न उपाधियो पर आधारित छ प्रकार की भक्ति के रूप मे माने जाते हैं। भक्ति अपने को अनेक रूपो मे अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार भिन्न फलो मे जल भिन्न स्वादो म अभिव्यक्त होता है। भक्ति शिव के स्वरूप की है। तब यह ज्ञान दस्वरूप है। पुन यह अनुभव स्वरूप है तथा वह नैष्ठिकी के स्वरूप की और छठी अच्छे व्यक्तियो मे भक्ति के स्वरूप की है। आग यह कहा गया है कि यह समस्त वर्गीकरण निरथक है। मेरा तथा प्रत्येक वस्तु का तादात्म्य सत्य है, अ य सब असत्य है–वह ऐक्यस्थल है। ज्ञान के स्वय प्रकाश द्वारा ईश्वर से सयुक्त होने के कारण, शरीर तथा इन्द्रियाँ आकार रहित प्रतीत होती हैं जब प्रत्येक वस्तु शुद्ध प्रतीत होती है वह शरणस्थल कहलाता है जब कोई समस्त भ्रमो का अथवा शरीर आदि के विषय मे दोषो का परिहार करता है तथा कल्पना करता है कि वह लिंग के साथ एक है तब वह प्राणलिग अथवा थर स्थल कहलाता है। जब कोई सुख के सब पदार्थों को ईश्वर को समर्पित कर देता है वह प्रसाद-स्थल कहलाता है तथा जब कोई ईश्वर से एक होने के रूप म अपनी बुद्धि ईश्वर पर केन्द्रित कर लेता है तब वह माहेश्वर स्थल कहलाता है। जब असत्य सत्य प्रतीत होता है तथा जब चित्त भक्ति की आराधना क्रिया द्वारा उससे विरक्त हो जाता है तब व्यक्ति ससार से विरक्त हो जाता है यह भक्ति-स्थल कहलाता है। इस प्रकार हमारे पास अन्य छ प्रकार के षटस्थल हैं।

पुन, अन्य दृष्टिकोण से हमारे पास षटस्थल का एक अन्य वणन है जैसेकि आत्मा से आकाश का विकास, आकाश से वायु वायु से अग्नि अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी का विकास होता है। पुन आत्मन् तथा ब्रह्मन् की ऐक्यता व्योमाग कहलाती है। प्राणलिग वायवाग कहलाता है तथा प्रसाद अनलाग, तथा महेश्वर जलाग कहलाता है एव भक्त भूम्यग कहलाता है। पुन, बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है और नाद से कला उत्पन्न होती है तथा इसके विपरीत कला से बिन्दु तक जाया जा सकता है।

वष्णवा के असदृश, अनुभवमूत्र भक्ति का उस अनुराग के रूप मे वर्णन नही करता है, जिसम पुजारी तथा पूजक के मध्य द्वैत भावना हो, वरन् प्रबल शब्दो मे ईश्वर से शुद्ध ऐक्यता अथवा तादात्म्य के प्रकाशन के रूप म वर्णन करता है। इसका यह अथ है तथा वास्तव में यह विशेष रूप से कहा गया है कि पूजा के वे सब कम काण्डी रूप जिनमे द्वैतावस्था है, केवल काल्पनिक रचनाए हैं। अपनी लीलामय भावना मे भगवान अनेक रूप ग्रहण कर सकते हैं परन्तु भक्ति के प्रकाश को यह व्यक्त करना चाहिए कि वे सब उससे एक है।

—ऽऽ—

अध्याय २६

श्रीकंठ का दर्शन

श्रीकंठ की ब्रह्मसूत्र पर टीका तथा उस पर अप्पयदीक्षित की उपटीका में श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित शैवमत का दर्शन

परिचय

प्रस्तुत रचना के पिछले भागों में प्रायः कहा गया है कि बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र उन अनेक प्राचीन उपनिषदों में, जो भारतीय दर्शन के अनेक आस्तिक संप्रदायों के विचारों के आधार का निर्माण करते हैं, प्राप्त विभिन्न विचारधाराओं का प्रकट रूप में क्रमबद्ध करने का प्रयत्न है। भिन्न विचारधाराओं के प्रतिपादकों ने ब्रह्मसूत्र की भिन्न प्रकार से व्याख्या की है उदाहरणार्थ, शंकर, रामानुज भास्कर, माधव, वल्लभ आदि। इन सबका विवरण प्रस्तुतत रचना के पिछले भागों में दिया जा चुका है। वेदांत का मौलिक अर्थ है उपनिषदों की शिक्षाएं। फलस्वरूप ब्रह्मसूत्र उपनिषदीय ज्ञान की क्रमबद्धता है तथा विभिन्न दार्शनिक विचारों के भिन्न प्रतिपादकों द्वारा विभिन्न प्रकारों में इसकी अनेक व्याख्याएं सभी वेदांत के नाम से ज्ञात हैं यद्यपि एक संप्रदाय के विचारकों का वेदांतदर्शन किसी भी अन्य संप्रदाय से विशेषतः भिन्न प्रतीत हो सकता है। जिस प्रकार जबकि शंकर द्वारा ब्रह्मसूत्र का स्पष्टीकरण अद्वैत है माधव की व्याख्या स्पष्ट रूप से अनेकवादी है। प्रस्तुत रचना के चतुर्थ भाग में हमने शताब्दियों में विस्तृत दोनों विचारधाराओं के प्रतिपादकों के मध्य प्रतिवाद की तीव्रता देखी।

क्योंकि श्रीकंठ ने अपने विचारों का प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के रूप में किया है तथा उनकी उपनिषदों के प्रति भक्ति तथा निष्ठा है अतः इस रचना को वेदांत की व्याख्या मानना होगा। वेदांत की अनेक व्याख्याओं के सादृश (उदाहरणार्थ *रामानुज, माधव वल्लभ अथवा निम्बार्कर द्वारा) श्रीकंठ का दर्शन, व्यक्तिगत आस्था* से संबंधित है जहाँ ब्रह्मन् से समानता होने के कारण शिव को उच्चतम देव माना है। अतः शैवमत के प्रमाणित स्पष्टीकरण के रूप में इसकी मांग की जा सकती है। शैवमत अथवा शैवदर्शन ने भी अनेक रूप ग्रहण किए थे जैसाकि संस्कृत रचनाओं तथा द्रविड भाषा की रचनाओं में व्यक्त किया गया है, परंतु प्रस्तुत रचना में हमारी रुचि केवल संस्कृत रचनाओं में शैवदर्शन के स्पष्टीकरण से है। प्रस्तुत लेखक की पहुंच

मौलिक द्रविड साहित्य जैसे तमिल, तलगु, कन्नड तक नहीं है तथा प्रस्तुत रचना की प्रस्तावित योजना के अंतर्गत भारत की प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य से सामग्री संग्रह करना नहीं है।

अपनी टीका के परिचय में श्रीकंठ कहते हैं कि उनकी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या का लक्ष्य उसके उद्देश्य का स्पष्टीकरण करना है क्योंकि पूर्व आचार्यों ने इसे अस्पष्ट कर दिया था।[1] हम यह नहीं जानते कि ये पूर्व शिक्षक कौन थे परन्तु शंकर तथा श्रीकंठ की टीकाओं की तुलना यह दिखाती है कि शंकर उनके लक्ष्यों में से एक थे। शंकर के शैवमत पर विचार संक्षेप में, उनकी ब्रह्मसूत्र २–२–३५–३८ पर टीका से प्राप्त किए जा सकते हैं तथा उनके शैवदर्शन पर विचार कुछ पौराणिक व्याख्याओं के अधिक अनुरूप हैं जो पूर्ण संभव है कि विज्ञान भिक्षु द्वारा इनकी विज्ञानामृत भाष्य नामक ब्रह्मसूत्र की टीका तथा ईश्वर गीता पर कूर्म पुराण की टीका में ले ली गई थी। शंकर आठवीं शताब्दी ई० में किसी समय विद्यमान थे तथा उनका प्रमाण यह दिखाता है कि जिस प्रकार का शैवदर्शन उन्होंने प्रतिपादित किया वह बादरायण को भली प्रकार ज्ञात था अतः उन्होंने खंडन करने के लिए इसको ब्रह्मसूत्र में सम्मिलित किया। इससे शैव विचार प्रणाली की महान् प्राचीनता ज्ञात होती है। पृथक खंड में हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

शंकर दक्षिण में केरल प्रदेश के थे तथा वे अवश्य ही शैवदर्शन के कुछ लक्षणों अथवा शैवागमों से परिचित होंगे। पर न तो शंकर और न उनके टीकाकारों ने इनके नाम का उल्लेख किया है। परन्तु स्पष्ट है कि श्रीकंठ ने कुछ शैवागमों का अनुकरण किया, जिनका प्रारंभ पूर्वकाल में शिव के अवतार श्वेत नामक व्यक्ति ने किया था, जिसका अनुकरण उसी संप्रदाय के अन्य शिक्षकों ने अवश्य किया होगा तथा श्रीकंठ के अपने प्रमाण के अनुसार अठाइस अवतार श्रीकंठ से पूर्व विद्यमान थे जिन्होंने शैवागम रचनाएँ लिखी थी। शिव महापुराण की वायवीय संहिता में प्रारंभिक शिक्षक श्वेत का उल्लेख भी है।[2]

मंगलाचरण के श्लोक में श्रीकंठ, अहम् पदार्थ के रूप में शिव की पूजा करते हैं। उप टीकाकार अप्पय दीक्षित (१५५० ई०) महाभारत का अनुकरण करते हुए शिव का चरित्र चित्रण एक काल्पनिक रीति से मूल "न" अर्थात संकल्प से "नंद" व्युत्पन्न

---

[1] व्यास सूत्र इद नेत्र विदुषां ब्रह्मदर्शने।
पूर्वाचार्य कलुषित, श्रीकंठेन प्रसाद्यते।

–श्रीकंठ भाष्य प्रारंभिक पद्य ५।

[2] शिव महापुराण, वायवीय-संहिता १–५–५ आदि।

वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १६२५।

करने का प्रयत्न करते है। इसका यह अर्थ है कि भगवान शिव का व्यक्तित्व शुद्ध ब्रह्म् के स्वरूप का है तथा उसकी इच्छा शक्ति सदैव समग्र प्राणियो के श्रेय तथा आनद का कार्यान्वित करने मे प्रवृत्त रहती है। यह ब्रह्म, सत् चित् तथा आनद क रूप म भी वर्णित है। आगे श्रीकठ कहते हैं कि उनकी टीका उपनिषद् तथा वेदात की शिक्षाओ क सार की व्याख्या है और यह उनको आकर्षित करेगी जो शिव के भक्त है। श्रीकठ ने शिव का वर्णन एक और ब्रह्म् के तत्व के रूप मे किया है जो जीव के व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उसी समय वे उसको शुद्ध सत् चित् तथा आनद स्वरूप मानते हैं। उनका यह विचार है कि जीव का यह व्यक्तित्व केवल असीमित अर्थ मे ही शिव के असीम रूप से अभिन्न माना जा सकता है। इस पक्ष पर टीका करते हुए अप्पय दीक्षित वैयक्तिक ईश्वर के रूप म शिव के व्यक्तिगत पक्ष को प्रमुखता देने के लिए कुछ उपनिषदो के प्रमाण उद्धृत करते हैं।[1] साधारणत सत् चित् आनद रूपाय शब्द सत् शुद्ध चित् तथा आनद की साकार ऐक्यता के अर्थ म शकर के अद्वैत वेदात सप्रदाय क लेखो मे प्रयोग किया जाएगा। परन्तु इस प्रकार का अर्थ पूर्ण ईश्वरीय दर्शन के लिए उपयुक्त नही है। इस कारण अप्पय कहते हैं कि सत् चित् आनद शब्द महाईश्वर शिव के गुण है, तथा यह अतिम शब्द 'रूपाय' द्वारा निर्देशित होता है क्योकि ब्रह्मन् स्वय अरूप है। सीमित जीव का शिव के असीम रूप म विस्तार भी यह सूचित करता है कि जीव उसके (ब्रह्मन् के) साथ आनद तथा चित् के गुणो का उपभोग करता है। शकर की तद व्याख्या के अनुसार, जो व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्मन् अर्थात् सत् चित् आनद की ऐक्यता से एक हो जाता है। वह चित् अथवा आनद का उपभोग नही करता परतु वह उससे तुरत एक है। शकर तथा उनके सप्रदाय की प्रणाली म ब्रह्मन् पूर्णरूप से निर्गुण तथा निर्विशेष है। रामानुज ब्रह्मसूत्र की अपनी टीका म निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म के विचार का खण्डन करने का प्रयत्न करते है तथा ब्रह्म का अनत सख्या म शुभ तथा हितैषी गुण एव धर्मों का निवास मानते हैं। यह सगुण ब्रह्मन् अर्थात् गुणयुक्त कहलाता है। श्रीकठ ने यही विचार भिन्न रूप म प्रस्तावित किया है। पुराणो तथा कुछ प्राचीन सस्कृत साहित्य के अतिरिक्त सगुण ब्रह्मन् का विचार रामानुज के अतिरिक्त वर्तमान दार्शनिक साहित्य मे उपलब्ध नही है। कहा जाता है कि रामानुज ने बोधायन वृत्ति का अनुकरण किया किन्तु वह अब अप्राप्य है। अत यह प्रस्ताव किया जा सकता है कि श्रीकठ के भाष्य को प्रेरणा बोधायन वृत्ति अथवा रामानुज या सरल ईश्वरीय विचार मानने वाले किसी भी शवागम से मिली थी।

---

[1] आनमौन्ह पन्थार्थाय लोकानां सिद्धिहेतवे
सच्चिदानन्द रूपाय शिवाय परमात्मने।
—श्रीकठ द्वारा शिव का प्रारम्भिक स्तुति।

एक ओर भगवान शिव, महान् तथा अनुभवातीत देवता माने जाते है तथा दूसरी ओर, वह इस भौतिक विश्व के उपादान कारण माने जाते हैं, जिस प्रकार दही का उपादान कारण दूध है। स्वाभाविक है कि इससे कुछ आपत्तियां उत्पन्न होती है क्योंकि महान् ईश्वर एक ही समय में पूर्ण अनुभवातीत तथा साथ ही भौतिक विश्व का सृष्टि के लिए परिवर्तित होते हुए जिसका (विश्व) कि स्वयं ईश्वर का स्वरूप मानना है नही माना जा सकता। इस आपत्ति से बचने के लिए अप्पय श्रीकंठ के विचार का संक्षिप्त वर्णन करते हैं तथा अद्वैतवादी एवं द्वैतवादी व्याख्याओं का इंगित करते हुए उपनिषदों के मूल ग्रंथों मे अनुरूपता लाने का प्रयत्न करते हैं। अतः वह कहते हैं कि ईश्वर स्वयं भौतिक विश्व के रूप मे रूपान्तरित नही होता वरन् ईश्वर की शक्ति जो स्वयं का भौतिक विश्व के रूप मे अभिव्यक्ति करती है, ईश्वर के पूर्ण व्यक्तित्व का एक अंश है। अतः जड जगत् भ्रम अथवा ईश्वर का गुण (स्पिनोजा के अर्थ मे) नही माना जा सकता है न ही यह ईश्वर का अंग अथवा अवयव माना जा सकता है जिससे कि विश्व की सब क्रियाएं ईश्वर के संकल्प पर निर्भर है, जैसाकि रामानुज अपने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त मे मानते हैं। श्रीकंठ ईश्वर तथा विश्व के संबंध के उस स्वरूप को भी नही मानते है जैसाकि लहरों अथवा फेन तथा समुद्र के मध्य होता है। लहर अथवा फेन न तो समुद्र से भिन्न हैं और न एक यह भास्कर का भेदाभेदवाद कहलाता है। यह भी ध्यान दिया जा सकता है कि श्रीकंठ का यह विचार विज्ञान भिक्षु के उस विचार से पूर्णतः भिन्न है जिसे उन्होंने ब्रह्मसूत्र की टीका 'विज्ञानामृत-भाष्य' में व्यक्त किया है जिसमें वह पुराणों में भली भांति प्रचलित इस विचार को स्थापित करना चाहते हैं कि, प्रकृति तथा पुरुष ईश्वर से बाहर निवासित सत्ताएं हैं तथा जिनका ईश्वर से सह अस्तित्व है व ईश्वर द्वारा विश्व की उत्पत्ति के लिए पुरुष के उपभोग तथा अनुभव के हेतुवादी उद्देश्य के लिए तथा अंत मे पुरुषों को बंधन से परे मोक्ष की ओर ले जाने के लिए क्रियान्वित करता है। यहां शंकर की ब्रह्मसूत्र (२.२.३७) पर टीका की ओर संकेत करना अनुचित न होगा जहां वे एक शैव सिद्धान्त के खंडन का प्रयत्न करते हैं जो ईश्वर को निमित्त कारण मानता है, जो विश्व के निर्माण के लिए प्रकृति का रूपान्तर करता है—यह विचार उस विचार के लगभग समान है जो विज्ञान भिक्षु के 'विज्ञानामृत भाष्य' में मिलता है। यह शैव विचार श्रीकंठ द्वारा व्यक्त शैव विचार से पूर्ण रूप से भिन्न प्रतीत हुआ है,-जो स्पष्ट रूप से श्वेत से प्रारंभ हुए अट्ठाईस, योगाचार्यों की परम्परा पर आधारित है। महान् वैयक्तिक ईश्वर भगवान् शिव हमारी कामनाओं अथवा कल्याणकारी अभिलाषाओं की पूर्ति करते हुए माने जाते हैं। यह विचार अप्पय द्वारा उनकी 'शिव शब्द' की किंचित काल्पनिक शब्द व्युत्पत्ति मूल वश तथा 'शिव' शब्द अर्थात् शुभ से दोहरी शब्द व्युत्पत्ति में उपस्थित किया गया है।

श्रीकंठ श्वेत के प्रथम गुरु के प्रति भक्ति रखते है तथा उन्हें (श्वेत को) अनेक आगमों का निर्माता मानते हैं। अप्पय भी अपनी टीका में 'नानागम विधायिने' शब्द

के ग्रथ के विषय म अनिश्चित है। वह दो वकल्पिक यारयाए देते है। एक म उनका यह प्रस्ताव है कि पूव गुरु ने उपनिषद् के मूल ग्रथा के अनर्थ व्याघात का निश्चित किया था तथा एक ने शव प्रणाली प्रारम की थी जिसका उचित समथन उपनिषद् के मूल ग्रथा द्वारा हो सकता है। द्वितीय व्याख्या मे उनका प्रस्ताव है कि 'नानागम विधायिने' शब्द अर्थात् वह जिसन अनक आगमा को उत्पन्न किया है, का अथ केवल इतना है कि श्वेत प्रणाली अनेक आगमा पर आधारित थी। ऐसी व्याख्या मे हम निश्चित नही हैं कि यह आगम उपनिषदो पर आधारित थे, अथवा अन्य द्रविड मूल ग्रथो पर अथवा दोनो पर।[1] शकर के ब्रह्मसूत्र (२ २ ३७) के भाष्य पर टीका करते हुए वाचस्पति अपनी 'भामती' मे कहते हैं कि वह प्रणालिया जो शव, पाशुपत, कारुणिक सिद्धातिन तथा कापालिको के रूप म ज्ञात हैं वे माहेश्वर नामक चार प्रकार के सप्रदाया के रूप म जानी जा सकती हैं।[2] वे सब प्रकृति महत् आदि के सारय सिद्धात मे तथा आम शब्द के किसी प्रकार के योग म विश्वास करते हैं, उनका अतिम लक्ष्य मोक्ष तथा समस्त दु खो का अत था। जीव, पशु कहलाते हैं तथा पाश शब्द का अथ बधन है। माहेश्वर विश्वास करते हैं कि ईश्वर ससार का निमित्त कारण है जिस प्रकार कुम्हार जलपात्र अथवा मिट्टी के बतनो का है।

शकर तथा वाचस्पति दोनो ही इस महश्वर सिद्धात को उपनिषदिक शास्त्रो के विरोधी उन सिद्धाता पर आधारित मानते है जिन्हे महेश्वर ने लिखा था। उनम से कोई भी गुरु श्वत क नाम का उल्लेख नही करता जो श्रीकठ के भाष्य तथा शिव महापुराण म आलेखित हैं। अत यह स्पष्ट है कि यदि शकर के प्रमाण को स्वीकार किया जायगा तब इस शब्द 'नानागम विधायिन' का अथ वह समाधानित सिद्धात नही हो सकता जिसकी रचना श्वेत तथा अन्य सत्ताईस शव गुरुओ[3] न उपनिषदो

---

[1] अस्मिन् पक्षे 'नानागमविधायिनी' इत्यस्य
नानाविध पाशुपताद्यागम निर्मात्रा इत्यथ ।
—श्रीकठ के भाष्य पर अप्पय की टीका (बम्बई १९०८) भाग १, पृ० ६।

[2] किन्तु रामानुज ने उसी सूत्र की अपनी टीका मे चार प्रकार के सप्रदाया—कापाल, कालमुख पाशुपत एव शव का उल्लेख किया है।

[3] वायवीय सहिता खड श्वेत से प्रारम करके अठाईस यागाचार्यों के नाम का उल्लेख करता है। उनके नाम निम्नलिखित हैं
श्वेत सुतारा मदन सुहोत्र कड्कव च
लौगाक्षिश्च महामाया जगीषव्य तथैव च। २
दधिवाहश्च ऋषभो मुनिरुग्रोऽत्रिरेव च
सुपालको गौतमश्च तथा वेदशिरा मुनि । ३

के आधार पर की थी। हमने पहले ही इगित किया है कि शैव सिद्धात जिसे हम श्रीकठ मे पाते है, माहेश्वर विचारधारा से यथेष्ठ भिन्न है जिसका शकर तथा वाचस्पति खडन करना चाहते थे। वहा पर शकर ने महेश्वर विचारधारा को न्याय दशन के लगभग समान तुलना की है। महेश्वर द्वारा तथाकथित लिखे सिद्धात लेख क्या थे, यह अभी तक अज्ञात है। पर तु यह निश्चित है कि वे ईसा काल के पूव अथवा प्रारभ मे रचे गए थे क्योकि उस सिद्धात का बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र म उल्लेख किया था। श्रीकठ निश्चित रूप म कहत है कि आत्माएँ तथा निर्जीव पदाथ जिनमे विश्व का निर्माण हुआ है सब महान् भगवान की पूजा की सामग्री की रचना करते है। मानव आत्माएँ प्रत्यक्ष रूप स उनकी पूजा करती है तथा निर्जीव पदाथ उस सामग्री की रचना करत हैं जिसस उनकी पूजा होती है। अत सपूण विश्व महान् भगवान के हेतु अस्तित्व रखता माना जा सकता है। श्रीकठ आग कहते है कि भगवान की शक्ति अथवा बल, उस आधार अथवा स्थूल पृष्ट को रचना करता है जिस पर सम्पूण ससार अनेक रगो मे चित्रित है। अत ससार की सत्ता स्वय ईश्वर के स्वरूप म है। विश्व जसा हम प्रतीत होता है केवल एक चित्र प्रदशन है जिसका आधार ईश्वर की परम सत्ता है जो उपनिषदो मे निश्चित रूप स वर्णित तथा प्रमाणित माना गया है।[1] श्रीकठ के प्रमाण पर उनके द्वारा व्याख्या किया हुआ शवमत का दशन उपनिषदो की व्याख्या का अनुकरण करता है तथा उन पर आधारित है।

गोकर्णश्च गुहावासी शिखाडी चापर स्मृत
जटामाली अट्टहासा दारुका लाङ्गली तथा। ४
महाकालश्च शूली च दण्डी मुण्डिशव च
सविष्णुस्मान नमा च लकुलीश्वरश्च च। ५

वायवीय-सहित २–६ पद्य २–५। कूम पुराण १–५३–४ से तुलना कीजिए। उनक शिष्यो क नाम २–६ पद्य ६–२० स दिए हुए हैं (कूम पुराण १–५३ १०) से तुलना कीजिए।

प्रत्यक योगाचाय क चार शिष्य थ। उनम स प्रमुख निम्नलिखित हैं (वायवीय-सहिता २ ६ १०) कपिल असुरि पचशिख पराशर वृहदश्व, देवल, शानिहोत्र अक्षपाद कनाद उलूक वत्स।

[1] निज शक्ति भित्ति निर्मित निखिल जगज्जाला चित्र निकुरुम्भ
स जयति शिव परात्मा निखिलागम-सार सवस्वम्। २

भवतु स भवता सिद्धय परमात्मा सव मगला-पेत,
चिच्चिन्मय प्रपच नपा नपा पि यस्यय। ३

—प्रारभिक पद्य, श्रीकठ का भाष्य।

यह दुर्भाग्य है कि जिन विद्वानो ने शैवमत के अध्ययन पर लेख लिखे है अथवा उस पर पुस्तकें लिखी हैं उनमे से अनेको ने बहुधा श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित दर्शन की उपेक्षा की है, यद्यपि उनकी रचना १६०८ मे ही प्रकाशित हो गई थी।

हमने पहले ही देखा है कि ब्रह्मसूत्र (२ २ ३७) पर अपने भाष्य मे शंकर ईश्वर की निमित्तता का सिद्धांत साहित्य के सिद्धात के रूप से सम्बधित मानते हैं जिसे अनुमानत महेश्वर ने लिखा था। श्रीकंठ द्वारा व्याख्या किए गए उसी विषय पर टीका करते हुए अप्पय कहते है कि यह विचार शैवागमो मे उन्हे अपूर्ण रूप मे समझने पर पाया जा सकता है। परन्तु न तो वह और न श्रीकंठ, हम तक प्राप्त किसी भी उन शैवागमो का उल्लेख करते है, जो ईश्वर की निमित्तता का वर्णन करते हैं। अत श्रीकंठ भी उस विचार के खंडन का प्रयत्न करते है जो यह मानता है कि ईश्वर ससार का निमित्त कारण ही है। अत हम अनुमान कर सकते है कि कुछ शैवागमो की व्याख्या ईश्वर को ससार का निमित्त कारण मानने के आधार पर की गई थी।

ब्रह्मसूत्र (२ २ ३७) पर श्रीकंठ का भाष्य तथा उस पर अप्पय की टीका कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषय उपस्थित करते है। इनसे हमे ज्ञात होता है कि आगम दो प्रकार के थे जिनमे से एक उन तीन वर्णों के लिए था जिनकी पहुँच वैदिक साहित्य तक थी तथा दूसरा उनके लिए था जिनकी पहुँच वैदिक साहित्य तक नही थी। यह उत्तरकालीन आगम द्रविड प्रादेशिक भाषाओ मे लिखे हुए हो सकते हैं अथवा सस्कृत सग्रहो से द्रविड प्रान्तिक भाषाओ मे अनुवाद किए गए हो। ब्रह्मसूत्र की श्रीकंठ की अपनी व्याख्या मुख्यत शिव महापुराण के वायवीय सहिता भाग मे प्रतिपादित विचारो पर आधारित है। कूर्म पुराण तथा वाराह पुराण मे भी हम भिन्न प्रकार के शैवागम तथा शैव विचारधाराओ के विषय मे सुनते है। कुछ शैव सम्प्रदाय जैसे लकुलीन अथवा वाराह वैदिक विचारो की सीमा के बाहर समझे जाते हैं तथा इस विचार के अनुयायी भ्रमात्मक शास्त्र का अनुकरण करते माने जाते हैं। इसके उत्तर मे यह माना जाता है कि इनमे से कुछ सम्प्रदाय अपवित्र प्रथा का अनुकरण करते हैं तथा इसी कारण भ्रमात्मक शास्त्र के रूप मे माने जाते हैं। परन्तु वे पूर्ण रूप से वैदिक अनुशासन के विरोधी नही हैं तथा वे भक्ति व पूजा की कुछ विधियो को प्रोत्साहित करते हैं जो वैदिक प्रथा मे मिलती हैं। उपरोक्त प्रकार के आगम अर्थात् जो शूद्र तथा अन्य निम्न जातियो के लिए हैं प्रसिद्ध आगमो जैसे कामिक, मृगेन्द्र आदि के समान हैं। किंतु कहा गया है कि यह वेद विरोधी आगम तथा वायवीय सहिता मे प्राप्त वैदिक शैवमत मुख्यत प्रमाणित हैं तथा दोनो ही अपने उद्गम के लिए भगवान शिव के आभारी हैं। उनके प्रमुख सिद्धात समान हैं क्योकि दोनो ही शिव को

संसार का उपादान तथा निमित्त कारण मानते हैं। कुछ अल्पज्ञ व्याख्याकारों ने महान् भगवान की निमित्तता को प्रमुखता देते हुए आगमों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है तथा उपरोक्त विषय का उद्देश्य महान् भगवान के विषय में ऐसे विचार का खंडन करना है जिसके अनुसार वह केवल निमित्त कारण है।

यह ध्यान देना आश्चर्यजनक है कि शैवदर्शन के दो सम्प्रदाय लाकुलीश व पाशुपत तथा शैवदर्शन जैसी उनकी सर्व दर्शन संग्रह में व्याख्या की गई है मुख्यतः ईश्वर के उस पक्ष की व्याख्या करते हैं जिसमें वह (ईश्वर) विश्व का निमित्त कारण है। वे विविध प्रकार के कर्मकाण्डों को प्रमुखता देते हैं तथा नैतिक अनुशासन के कुछ रूपों को भी प्रोत्साहित करते हैं। यह भी ध्यान देना आश्चर्यजनक है कि सर्व दर्शन संग्रह श्रीकंठ के भाष्य का उल्लेख न करे यद्यपि प्रथमोक्त ईसवी की चौदहवीं शताब्दी के लगभग किसी समय लिखा गया होगा और श्रीकंठ भाष्य उस समय के बहुत पहले लिखा गया होगा। यद्यपि हमारे लिए अभी तक यह संभव नहीं है कि हम उनका निश्चित समय निर्धारित कर सकें। न ही सर्व दर्शन संग्रह, शिव महापुराण, कूर्म-पुराण तथा वाराह पुराण में प्राप्त पौराणिक सामग्रियों का उल्लेख करता है। परंतु हम प्रणालियों की व्याख्या बाद में अन्य खंड में करेंगे तथा श्रीकंठ के भाष्य में प्रतिपादित दर्शन से उनका संबंध वहाँ तक प्रदर्शन करेंगे जहाँ तक कि हस्तलिखित सामग्री तथा अन्य प्रकाशित शास्त्र प्राप्त हैं।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की व्याख्या करते हुए श्रीकंठ पहले अथ शब्द के अर्थ पर एक लम्बा तर्क उपस्थित करते हैं। साधारणतः 'अथ' का अर्थ 'पश्चात्' है अथवा यह एक विषय का उचित आरम्भ से उपस्थित करता है। श्रीकंठ मानते हैं कि अथातो धर्म जिज्ञासा से प्रारंभ होकर जैमिनी कृत सम्पूर्ण मीमांसा सूत्र ब्रह्मसूत्र (४-४-२२) के अंतिम सूत्र अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात् तक एक ही है। फलस्वरूप ब्रह्म जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मन् के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा के बाद अवश्य आना चाहिए जो जैमिनी के मीमांसा-सूत्र के विषय की रचना करता है। हमने इसी कृति के अन्य भागों में देखा है कि पूर्व मीमांसा का विषय धर्म के स्वरूप की परिभाषा से आरम्भ होता है। जो वैदिक आदेशों (चोदना लक्षणोर्थे धर्मः) की आज्ञा से निकले हुए लाभदायक फलों के रूप में माना गया है। अतः यज्ञ, धर्म के रूप में माना जाता है तथा यह यज्ञ कुछ अंशों में इच्छित लाभों की प्राप्ति जैसे पुत्र जन्म सफलता प्राप्ति वृष्टि अथवा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में दीर्घकाल तक निवास के लिए होता है। कुछ अंशों में यह यज्ञ आवश्यक कर्मकाण्ड के रूप में तथा समारोह के अवसरों पर आवश्यक अनुष्ठानों के लिए होता है। साधारणतः इन यज्ञ संबंधी समस्याओं का ब्रह्म जिज्ञासा से बहुत संबंध नहीं है। अतः शंकर ने ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर अपनी टीका में यह दिखाने का बहुत प्रयत्न किया है कि ब्रह्म जिज्ञासा का जिनका

अधिकार है उनसे पूर्णतया भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों का यज्ञ संबंधी कर्त्तव्य निर्दिष्ट करने चाहिए। कर्म तथा ज्ञान के दो भाग पूर्ण भिन्न है तथा मनुष्यों की दो जातियों के लिए उद्देशित हैं। पुनः जब धर्म का फल सांसारिक सफलता अथवा स्वर्ग में कुछ काल के लिए निवास तथा कुछ समय पश्चात् पुनर्जन्म तथा मृत्यु की शृंखला में ले आता है तब एक बार प्राप्त ब्रह्म ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति मनुष्य को समस्त बंधन से परम मोक्ष दिला देगा। अतः ये दो मार्ग अर्थात् कर्म मार्ग व ज्ञान मार्ग परस्पर पूरक नहीं माने जा सकते। उन्हें एक ही वस्तु के खंड मानना भूल है। यह शंकर का कर्म तथा ज्ञान के संयुक्त संपादन के खंडन के रूप में ज्ञात है जो शास्त्रीय भाषा में ज्ञान कर्म समुच्चयवाद कहलाता है।

श्रीकंठ यहाँ इसके विपरीत विचार व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि जिस ब्राह्मण का यज्ञोपवीत हो चुका है उसे वेद के अध्ययन का अधिकार है वास्तव में एक उपयुक्त आचार्य के अंतर्गत वेद का अध्ययन करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य है तथा जब वह वेदों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तब उसे अपने को उनके अर्थ से परिचित कराना पड़ता है। अतः पूर्ण अर्थ समझने के साथ वेद का अध्ययन ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में किसी जिज्ञासा अथवा तर्क का पूर्व आने वाला मानना पड़ेगा। क्योंकि धर्म वेदों से ज्ञात हो सकता है अतः ब्रह्मन् का ज्ञान भी वेदों के अध्ययन से करना होगा। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वेदों के केवल अध्ययन के पश्चात् ही किसी को ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क करने का अधिकार हो जाता है। ऐसे मनुष्य को वेदों के अध्ययन के पश्चात् धर्म के स्वरूप का विचार करना होगा जिसके बिना उसे ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क से परिचित नहीं कराया जा सकता। अतः ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क धर्म के स्वरूप के पश्चात् ही आरंभ हो सकता है।[1] वे आगे कहते हैं कि यह हो सकता है कि पूर्वमीमांसा में प्राप्त वैदिक आदेशों की व्याख्या में प्रयुक्त नियम तथा सिद्धांत, ब्रह्मन् के स्वरूप के तर्क की ओर ले जाने वाले उपनिषदीय मूल ग्रंथों को समझने के लिए आवश्यक हों। इसी कारण ब्रह्मन् के स्वरूप के विचार से पूर्व धर्म के स्वरूप के विषय में एक तर्क अनिवार्यतः आवश्यक है।

किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यदि धर्म ब्रह्मन् के स्वरूप के ज्ञान की ओर ले जाते हैं तब उसके स्वरूप के विषय में विवेचना का क्या लाभ है। इससे तो धर्म के स्वरूप के विषय में विचार करना अच्छा है क्योंकि जब बिना किसी लक्ष्य की पूर्ति

---

[1] तर्हि किमनन्तरमस्यारम्भः। धर्म विचारानन्तरम्। श्रीकंठ का भाष्य १-१-१ भाग १ पृ० ३४।
न वयं धर्म ब्रह्म विचारं रूपयोःशास्त्रयोरत्यन्तभेदवादिनः।
किन्तु एकत्ववादिनः। —वही।

की कामना के बिना किए कर्म किए जाते हैं वे स्वयं एक मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध कर देंगे तथा ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा करने के योग्य बना देंगे, क्योंकि वैदिक यज्ञों से ऐसे निष्काम कर्मों में व्यक्ति अपने पापों से मुक्त हो जाता है तथा यह ब्रह्मन् के स्वरूप-प्रमाणन की ओर ले जा सकता है।[१] उन्होंने गौतम तथा अन्य स्मृतियों की ओर यह विचार स्थापित करने के लिए संकेत किए हैं कि केवल वे, जो वैदिक धार्मिक रचनाओं में दीक्षित हैं, ब्रह्मन् में निवास तथा उससे एकाकार होने के अधिकारी हैं। अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है कि केवल वे वैदिक बलिदान जो बिना किसी लक्ष्य प्राप्ति के विचार के किए जाते हैं वे ही अन्त में पापों की समाप्ति की ओर ले जाते हैं जिससे ब्रह्म-ज्ञान संभव हो जाता है। ऐसे मनुष्य के दृष्टांत में कर्म का फल वही होता है जो ज्ञान का फल होता है। सत्य ज्ञान के उदित होने तक कर्म किए जाते हैं फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मन् के स्वरूप पर विचार से पूर्व किए हुए वैदिक कर्म से उत्पन्न 'धर्म' के स्वरूप पर विचार आवश्यक है। ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा का अर्थ वैदिक आदेश का पालन करना नहीं है वरन् ऐसी बहुमूल्य सम्पत्ति जो किसी के पास हो सकती है, उसके उच्च आकर्षण से मनुष्य उसकी ओर जाते हैं तथा यह हम देखते हैं कि निष्काम भावना से वैदिक धर्म पालन करने से जब किसी की बुद्धि पूर्ण शुद्ध हो जाती है तब ही ब्रह्मन् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। केवल इसी रूप में धर्म के स्वरूप पर तर्क ब्रह्मन् के स्वरूप पर तर्क की ओर ले जाता हुआ मान सकते हैं। निष्काम भावना से, वैदिक कर्म को करने से यदि बुद्धि शुद्ध नहीं हुई है तब वैदिक धर्म का केवल संपादन ही किसी को ब्रह्मन् के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा का अधिकारी नहीं बना देता।

श्रीकंठ के उपरोक्त भाष्य पर अप्पय दीक्षित टीका करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मन् के स्वरूप पर विचार का अर्थ है उपनिषदों के मूल ग्रन्थों पर विचार स्वाभाविक ही ऐसे तर्क ब्रह्मन् के ज्ञान की ओर ले जाएँगे। ब्रह्मन् शब्द की उत्पत्ति मूल 'ब्रिह्मति' अर्थात् 'महान्' से हुई है जो काल दिक् तथा गुण की विशेषताओं से सीमित नहीं है अर्थात् जो असीम रूप से महान् है। हमें यह अर्थ स्वीकार करना होगा क्योंकि किसी भी प्रकार की सीमा को सूचित करने के लिए कुछ भी नहीं है (संकोच-काभावत्)। ब्रह्मन् समस्त चेतन व अचेतन से भिन्न है। शक्ति दो प्रकार की होती है वह जो भौतिक बल अथवा शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है (जड़ शक्ति) जो अपने को ब्रह्मन् के आदेश अथवा निमित्त के अंतर्गत भौतिक विश्व के आकार में रूपांतरित कर लेती है, चैतन्य के रूप में भी शक्ति (चिच्छक्ति) है तथा जैसाकि हम चेतन प्राणियों

[१] तस्य फलाभिसंधि रहितस्य पापापनयन रूपचित्त शुद्धि संपादन द्वारा बोध हेतुत्वात्।
—श्रीकंठ का भाष्य १–१–१, भाग १ पृ० ३९।

मे दगते है यह चतन शक्ति ब्रह्मन् द्वारा नियन्त्रित है।[1] ब्रह्मन् स्वय अचेतन वस्तुमा तथा चेतन आत्माओ से पूर्ण जगत् प्रपच स भिन्न है। परतु, क्योकि चेतन आत्माए तथा अचेतन ससार दानो हा ब्रह्मन् अथवा शिव या उसके किसी अन्य नाम स ईश्वर की शक्ति है अत ससार की सृष्टि तथा पालन के लिए स्वय ईश्वर के पास काई अन्य निमित्त नही है। अत ब्रह्मन् की महानता सवथा नि सीम है क्योकि उसके परे ऐसा कुछ नही है जा कुछ आलम्बन द सके। उपादान कारण तथा आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हुई ईश्वर की दो शक्तियाँ किसी प्रकार ईश्वर की गुण मानी जा सकती हैं।

जिस प्रकार एक वृक्ष म पत्ते तथा फूल हाते हैं परतु इस भेद के उपरात भी वृक्ष एक माना जाता है इसी प्रकार यद्यपि ईश्वर मे भी गुणो के रूप म अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं तथापि वह एक माना जाता है। अत यद्यपि भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियो क दृष्टिकोण से निरूपण करने पर ब्रह्मन् क स्वरूप स दानो का भेदातर किया जा सकता है तथापि आतरिक निरूपण करन पर उ ह ब्रह्मन् स एक मानना चाहिए। इन दो शक्तियो का ईश्वर से पृथक काई अस्तित्व नही है। ब्रह्मन् शब्द का अथ केवल असीमता ही नही वरन् इसका अथ यह भी है कि वह समस्त सम्भावित उद्देश्यो की पूर्ति करता है। सृष्टि के समय वह ससार की सृष्टि करता है तथा अनेक सुखो तथा दु खो म से आत्माओ को ले जाता हुआ अत म जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है तब उन्ह अपने स्वय के स्वरूप म विस्तृत कर लेता है।

एक लम्बे तक के पश्चात् अप्पय दीक्षित निष्कर्ष म यह इगित करते हैं कि वे समस्त व्यक्ति जो यज्ञ धर्म क अनुशासन से होकर निकले हैं ब्रह्मन् क स्वरूप की जिज्ञासा के अधिकारी नही है। पूर्व जीवन के कर्मों के कारण जिनकी बुद्धि उचित रूप से शुद्ध हो गई है केवल वे ही इस जीवन में वैदिक कर्मों के निष्काम भावना क पालन द्वारा अपनी बुद्धि का पुन शुद्ध कर सकते ह तथा नित्य एव अनित्य का विवेक युक्त ज्ञान तथा आवश्यक वैराग्य मोक्ष की कामना तथा शम पर आतरिक व बाह्य नियन्त्रण प्राप्त कर सकते ह जिसस वे अपने को ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा करने का अधिकारी बना लेते ह। इस प्रकार अप्पय दीक्षित श्रीकण्ठ तथा शकर के दृष्टिकोणो के बीच की खाइ को भरने का प्रयत्न करते ह। शकर के विचारानुसार केवल आतरिक गुण एव विशेषताए मोक्ष के लिए कामना आदि ही एक व्यक्ति का

---

[1] तस्य चेतनाचेतन प्रपच विलक्षणत्वा त्स्युपगमेन वस्तु परिच्छिन्नत्वादित्याकारा निरसितुमाद्य विशेषणम्। सकल चेतनाचेतन प्रपच कार्यो या तद्रूप परिणामित्या परम शक्त्या जड शक्तेर्माया या नियामकत्वेन तत उत्कृष्ट्या चिच्छक्त्या विशिष्टस्य।
—शिवार्कमणिदीपिका अप्पय की टीका भाग १ पृ० ६८।

ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करने का अधिकारी बना देती हैं। शंकर के अनुसार वैदिक कर्मों के स्वरूप अथवा उनके संपादन पर लम्बा तक ब्रह्मन् के स्वरूप का जिज्ञासा का प्रति आवश्यक पूर्व साधना की रचना नहीं करता। परन्तु अप्पय दीक्षित श्रीकंठ के विचार का शंकर के विचार से इस प्रस्ताव द्वारा संबंधित करना चाहते हैं कि जहाँ पूर्व जीवन के शुभ कर्मों के कारण किसी व्यक्ति को बुद्धि वैदिक धर्मों के निष्काम संपादन से पुन पवित्र करने के लिए यथेष्ट शुद्ध हो गई है, केवल ऐसे ही दृष्टांतों में ही शंकर द्वारा इंगित अनिवार्य अभीष्ट वस्तु के अभाव के रूप में ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा के लिए एक व्यक्ति मानसिक गुण तथा साधन प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क की संभावना के समर्थन का प्रयत्न अप्पय दीक्षित यह इंगित करके करते हैं कि उपनिषदों के अनेक मूल ग्रंथों में ब्रह्मन् का वर्णन अनेक प्रकार से अहम्, अन्न, प्राण आदि के रूप में हुआ है। अतः मूल ग्रंथ संबंधी आलोचना द्वारा ब्रह्मन् का निश्चित स्वभाव ज्ञात करना आवश्यक है। यदि ब्रह्मन् का अर्थ केवल अहम् है अथवा यदि इसका अर्थ शुद्ध भेदरहित चैतन्य है तब तर्क का कोई स्थान नहीं रहेगा। अपने स्वयं में सीमित अहम् के विषय में किसी का दावा नहीं है तथा उस ब्रह्मन् के ज्ञान से कुछ लाभ नहीं है जो शुद्ध भेद रहित चैतन्य है। इस कारण उपनिषदों के उन अनेक मूल ग्रंथों के विषय में तर्क आवश्यक है जो वैयक्तिक ईश्वर का प्रमाण देते हैं जो (ईश्वर) अपने भक्त को आनंद तथा परम चैतन्य प्रदान कर सकता है।

ब्रह्मन् का स्वरूप

श्रीकंठ अनेक उपनिषदीय मूल ग्रंथों को उपस्थित करते हैं जो ब्रह्मन् के स्वरूप की परिभाषा अथवा वर्णन करते हुए माने जाते हैं। प्रकट रूप में उनमें परस्पर विरोध है तथा परिभाषाओं को क्रम से एक के बाद एक अथवा एक साथ लेने से व्याघात का समाधान नहीं होता तथा इस कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसी मूल ग्रंथ संबंधी तथा आलोचनात्मक परिभाषा का निरूपण किया जाए जिनसे एक संयुक्त अर्थ निकले। यह मूल ग्रंथ ब्रह्मन् का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि वह जिसमें प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उदित हुआ तथा अंत में जिसमें प्रत्येक वस्तु वापस चली जाएगी एवं वह जिसका स्वरूप शुद्ध आनंद शुद्ध सत् तथा शुद्धचित्त है। अप्पय दीक्षित कहते हैं कि क्योंकि ऐसे गुणों से अनेक देवताओं को विशेषित किया गया है अतः यह हमारा कर्तव्य है कि हम वास्तविक अनंत देवता भगवान शिव की खोज जिनमें यह सब गुण हैं। वह एक लम्बा तर्क उपस्थित करते हैं कि इन अनेक विशेषणों से विशेषित होने से उस सत्ता अथवा व्यक्ति जिसमें वे हैं—के विषय में क्या

कोई उचित शका उत्पन्न होगी ? वह पुन शका के उस स्वरूप पर सम्वा तक करते है जो तब उदित होती है जब एक सत्ता अनेक विशेषणो द्वारा वर्णित हो अथवा जब एक सत्ता अनेक व्याघाती विशेषणो द्वारा वर्णित हो या जब अनेक पदार्थ एक सामान्य विशेषण द्वारा वर्णित हो। इस तर्क की प्रक्रिया में वे शका की अनेक समस्याओं को उपस्थित करते है जिनसे हम भारतीय दर्शन की व्याख्या में पहले से ही परिचित हो चुके है।[1] अत में अप्पय इस तथ्य को प्रमुखता देने का प्रयत्न करते हैं कि ये गुण शिव के व्यक्तित्व में स्थाई माने जा सकते हैं तथा कोई व्याघात नही हो सकता क्योकि गुणो का अर्थ व्याघाती सत्ता नही होता है। भिन्न स्वभाव के अनेक गुणो का एक सत्ता अथवा व्यक्ति मे सामजस्य हो सकता है।

ससार की सृष्टि उसके पालन तथा अत मे उसके सहार के अथवा बधन की समाप्ति द्वारा आत्माओ के मोक्ष के अनुमानित कारण भगवान् शिव हैं। ससार की सृष्टि उसके पालन आदि के समस्त गुण दृष्टि विषयक उपस्थित ससार के हैं अत इनसे उनकी आवश्यक परिभाषा की रचना करते हुए भगवान् शिव को विभूषित नही किया जा सकता। यह सत्य है कि एक व्यक्ति अपने शुभ कर्मों तथा सासारिक सुखों से निवृत्ति तथा भक्ति द्वारा स्वत मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परतु ऐसे दृष्टाता मे भी यह उत्तर देना होगा कि यद्यपि एक व्यक्ति अपनी क्रियाओ के सदर्भ मे क्रियाशील कर्ता माना जा सकता है तथापि उससे उसकी क्रिया करवाने के लिए ईश्वर का अनुग्रह स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार क्योकि सृष्टि पालन आदि के समस्त विशेषण ससार के आभास के है, वे किसी भी प्रकार भगवान् शिव के स्वरूप को सीमित करते नही माने जा सकते। अधिक से अधिक वे ऐसे अनावश्यक गुण माने जा सकते हैं जिनसे हम ब्रह्मन् का स्वरूप का केवल अर्थ बता सकते हैं परतु उसके अपने वास्तविक स्वरूप तक नही पहुँच सकते। कारणता के प्रत्यय की विशेष व्यक्तियो अथवा निर्जीव पदार्थों पर नियुक्ति केवल महत्व के लिए ही है क्योकि कुछ दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति अपने ही कर्मों से मोक्ष प्राप्त करता है जबकि अन्य दृष्टिकोण से व्यक्ति का सम्पूर्ण कर्म ईश्वर के अनुग्रह के कारण माना जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि यदि भगवान शिव सब कृपापूर्ण है तब वे समस्त प्राणियों का मोक्ष देकर उनके दुख का निवारण क्यो नही कर देते ? इस प्रश्न के लिए यह कहा जा सकता है कि जब केवल मनुष्यो के कर्मों द्वारा अज्ञान का आचरण तथा अशुद्धता हट जाती है तब ही ईश्वर की गतिशील कृपा सदैव मनुष्य को मोक्ष देने में अपने को अभिव्यक्त करती है। अत दो प्रकार की क्रिया होती हैं—एक स्वय व्यक्ति द्वारा तथा दूसरी उसके कर्मों के अनुरूप ईश्वर की कृपा के विस्तार द्वारा।

---

[1] मुख्यत देखिए प्रस्तुत रचना का तीसरा भाग जो वेंकट मे शका की समस्या की व्याख्या करता है।

पुन जगदाभास का लय जादू से अदृश्य होना नही है वरन् प्रकृति के स्थूल रूप का अथवा प्राकृत द्रव्य का उसी प्रकृति के सूक्ष्म रूप मे वापस जाना है। संपूर्ण संसार भ्रम नही है वरन् एक समय मे इसने अपने को प्रकट सत्ता के स्थूल आकार मे अभिव्यक्त कर लिया था तथा अंत म यह पुन प्रकृति अथवा श्रौद्गौम पदार्थ म वापस चली जाएगी। सूक्ष्म प्रकृति के स्वरूप म यह वापस जाना ईश्वर के अनुग्रह द्वारा समस्त प्राणियो के सयुक्त कर्मों के कारण है।

अप्पय की व्यवस्था के आधार पर श्रीकंठ के अनुसार, द्वितीय सूत्र, जो ब्रह्मन् का वर्णन अथवा परिभाषा इस प्रकार करता है कि वह जिसम से समस्त वस्तुए उत्पन्न हुई हैं अंत मे जिसम समस्त वस्तुए वापस चली जाएगी तथा जिसम सब वस्तुओ का पालन होता है समस्त वस्तुओ की सृष्टि, पालन तथा संहार के इन गुणो का उपादान तथा निमित्त, दोनो का अंतिम निश्चित कारणता के पक्ष के रूप म मानता है, जिसके कारण ईश्वर के रूप मे ब्रह्मन् का स्वरूप अनुमित किया जा सकता है। अंत श्रीकंठ तथा अप्पय के अनुसार इस सूत्र 'जन्माद्यस्य यत' का ब्रह्मन् के स्वरूप के निश्चित अनुमान का कथन मानना चाहिए। शंकर ने अपनी टीका म निश्चित रूप स इंगित किया है कि जो ईश्वर का समस्त वस्तुओ तथा प्राणियो का कारण मानते हैं वे इस सूत्र की व्याख्या अनुमान क उदाहरण के रूप म करते हैं जिसस ब्रह्मन् क नि सीम रूप का प्रत्यक्ष तक किया जा सक तथा एसी परिभाषा युक्तियां बताने के कारण यथेष्ठ हैं न अधिक विस्तृत न अधिक सकुचित। अंत इस तर्क द्वारा संपूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विश्व के महान् तथा नि सीम प्रभु के रूप म ब्रह्मन् को समझा जा सकता है। शंकर निश्चित रूप म एसी व्याख्या अस्वीकार करते हैं तथा इसको उन उपनिषदीय मूल ग्रंथो का सामान्य अभिप्राय कहते हुए मानते है जो यह कहते हैं कि समस्त वस्तुए ब्रह्मन् से उत्पन्न हुई हैं तथा समस्त वस्तुए ब्रह्मन् मे तथा ब्रह्मन् द्वारा जीवित रहती है तथा अंत म समस्त वस्तुए ब्रह्मन् म वापस चली जाती हैं। शंकर तथा श्रीकंठ क मध्य मुख्य विवाद का विषय यह है कि जबकि शंकर इस सूत्र का ब्रह्मन् के अस्तित्व के पक्ष म तर्क स्थापित करने के रूप म अस्वीकार कर देते है तथा वह ब्रह्म सूत्र का उद्देश्य उपनिषदो क विभिन्न मूल ग्रंथो के समाधान तथा संगति लाने के अतिरिक्त और अधिक कुछ नही समझते, तब श्रीकंठ तथा अन्य शैव इस सूत्र को नि सीम ब्रह्मन् अथवा भगवान शिव क पक्ष म एक तर्कसिद्ध कथन का मानते है।[1]

रामानुज भी इस सूत्र की व्याख्या ब्रह्मन् क अस्तित्व अथवा स्वरूप का स्थापित

---

[1] एतदेवानुमान संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादि साधन मन्यन्ते ईश्वर कारणीन। ननु इहापि तदेवोपन्यस्त जन्मादि सूत्रे न वेदान्त वाक्य कुसुम ग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्। ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर शंकर का भाष्य।

करने के तर्कसिद्ध कथन के रूप में नहीं करते हैं। उनका विचार है कि उपनिषदीय मूल ग्रंथों के प्रकट रूप में व्याघाती कथनों के समर्थन द्वारा तथा ब्रह्मन् का सृष्टि पालन तथा क्षय के कारण के रूप में मान लेने से उपनिषदीय मूल ग्रंथों द्वारा ब्रह्मन् के स्वरूप की अनुभूति करना अथवा समझना संभव है।[1]

श्रीकंठ ने ब्रह्मन् के अनेक विशेषणों जैसे आनंद सत् एवं ज्ञान आदि के साथ साथ इस तथ्य की व्याख्या का प्रयत्न किया है कि कुछ मूल ग्रंथों में मूल कारण के रूप में शिव का उल्लेख इस अर्थ में है कि शिव विश्व के मूल तथा अंतिम कारण दोनों ही हैं। ब्रह्मन् पर इन विशेषणों की क्रम से एक के बाद एक अथवा एक साथ नियुक्ति के विषय में वह (श्रीकंठ) कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं। वे पुनः यह कठिनाई उपस्थित करते हैं कि कुछ उपनिषदीय मूल ग्रंथों में अचेतन प्रकृति, माया तथा अचेतन संसार का कारण कहलाती है। यदि ब्रह्मन् का स्वरूप ज्ञान अथवा चित् है, तब वह स्वयं का भौतिक संसार के आकार में रूपांतरित नहीं कर सकता था। शुद्ध चैतन्य का भौतिक विश्व में रूपांतर का अर्थ होगा कि ब्रह्मन् परिवर्तनशील है तथा यह इस उपनिषदीय कथन का व्याघात करेगा कि ब्रह्मन् सर्वथा कर्मरहित है तथा निष्क्रिय अवस्था में है। इस दृष्टिकोण से विरोधी यह कह सकता है कि उपनिषद् में उन समस्त निरूपणों से जिनसे ब्रह्मन् विशेषित है, एक साथ उस पर नियुक्ति नहीं की जा सकती तथा उन्हें एकत्रित रूप में ब्रह्मन् के स्वरूप के परिभाषित लक्षणों के रूप में नहीं लिया जा सकता। अतः श्रीकंठ का विचार है कि ब्रह्मन् के लिए प्रयुक्त गुणवाची शब्द सत्य चित् एवं आनंद आदि को महेश्वर के व्यक्तिगत गुणों के रूप में लेना होगा। अतः ब्रह्मन् को शुद्ध व चित् मानने के स्थान पर श्रीकंठ महेश्वर को जो सर्व सर्वज्ञ, सर्व स्वयं संतुष्ट तथा स्वतंत्र मानते हैं अर्थात् वह जो सर्व बल अथवा शक्ति निहित रखता है तथा जो सर्वशक्तिमान है वह सदैव (नित्य अपरोक्ष) विद्यमान है तथा अपनी शक्ति अथवा बल के संपादन के लिए किसी बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं है (अनपेक्षित बाह्य कारण)। अतः भगवान शिव सर्वज्ञ होने के कारण समस्त चेतन प्राणियों के कर्मों का तथा इन समस्त कर्मफलों का, जिनके वे अधिकारी हैं, ज्ञान रखते हैं तथा उन्हें शरीरों के उन आकारों का भी ज्ञान है जो पूर्व कर्मों के अनुसार इन चेतन आत्माओं को प्राप्त होने चाहिए तथा इस प्रकार शिव को उन पदार्थों के संग्रह का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है जिनसे इन शरीरों का निर्माण होता है।[2] इस तथ्य

[1] ब्रह्मसूत्र १–१–२ पर रामानुज का भाष्य।

[2] अनेन सकल चेतन बहु विध कर्म फल भोगानु गुण तत्तच्छरीर निर्माणोपाय सामग्री विशेषज्ञ ब्रह्म निमित्त भवति।

ब्रह्मसूत्र १–१–२ पर श्रीकंठ का भाष्य पृ० १२१।

की व्याख्या कि ब्रह्मन् आनंद के रूप में वर्णित है इस ग्रंथ में की गई है कि भगवान् शिव सदैव आनंदपूर्ण तथा स्वयं संतुष्ट हैं।[1]

उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्मन् का शरीर आकाश है (आकाश शरीरम् ब्रह्म)। कुछ उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि यह आकाश आनंद है। श्रीकंठ कहते हैं कि यह आकाश भूताकाश नहीं है, इसका अर्थ केवल चित्त के स्तर से है (चिदाकाश) तथा इस प्रकार इसका अर्थ अनंत पदार्थ (पर प्रकृति) से है जो अनंत शक्ति ही है। अप्पय इंगित करते हैं कि ऐसे व्यक्ति हैं जिनका विचार है कि चेतना की शक्ति विश्व की सृष्टि के साधन के समान है जिस प्रकार वृक्ष काटने के लिए कुल्हाड़ी होती है। परंतु अप्पय इस विचार का अस्वीकार कर देते हैं तथा मानते हैं कि अनंत शक्ति आकाश कहलाती है।[2] चित् की यही शक्ति (चिच्छक्ति) सब वस्तुओं में व्यापक मानी जाती है तथा यही शक्ति विश्व की सृष्टि के लिए रूपांतरित होती है। इस चिच्छक्ति को जीवन की मूल शक्ति मानना होगा जो अपने को जीवन की क्रियाओं से अभिव्यक्त करती है। समस्त प्रकार की जीवन क्रियाएँ तथा मूल के समस्त अनुभव इस अनंत जीवन शक्ति के निम्न अथवा उच्चस्तर पर निर्भर हैं जो चिच्छक्ति अथवा आकाश भी कहलाती हैं।

पुनः ब्रह्मन् को सत्, चित् तथा आनंद के स्वरूप के रूप में वर्णित किया है। इस दृष्टांत में यह माना गया है कि बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के ब्रह्मन् अपने स्वयं के आनंद का उपभोग करता है तथा इसी कारण मुक्त आत्माएं बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के सर्वोत्तम आनंद का अनुभव कर सकती हैं। चित् के रूप में सत्य शुद्ध आनंद के उस रूप का ही सत्य है, जो अमूर्त गुणों के रूप में नहीं वरन् भगवान शिव के शरीर से अवलम्बित मूर्त गुणों के रूप में अपने अस्तित्व में नित्य है। अतः यद्यपि ब्रह्मन् अथवा भगवान शिव अपने में सर्वथा अपरिवर्तनशील हों तथापि उनकी शक्ति उन रूपांतरों में हो सकती है जिनसे इस संसार की सृष्टि हुई है। इस प्रकार ब्रह्मन् में चित् की शक्ति तथा भौतिक शक्ति दोनों हैं जो विश्व के तत्व का निर्माण करती हैं (चिदचित्प्रपंच रूप शक्ति विशिष्टत्वम् स्वाभाविकमेव ब्रह्मणः)। उन शक्तियों में तथा उनके द्वारा ब्रह्मन् विश्व के उपादान कारण की रचना कर सकते हैं क्योंकि उसकी शक्ति असीम है। क्योंकि सभी बाह्य वस्तुओं के लिए यह कहा जाता है कि वह सत्ता जो उन सबमें व्याप्त है, एक सामान्य तत्व के रूप में होती है

---

[1] परब्रह्म धर्मत्वेन च स एव आनंदो ब्रह्मेति प्रचुरत्वाद् ब्रह्मत्वेनोपचर्यते। तादृशानंद-भाग रसिक ब्रह्मनित्य तृप्तमित्युच्यते।

ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर श्रीकंठ का भाष्य पृ० १२२।

[2] यस्य सा परमा देवी शक्तिराकाश संज्ञिता।

अप्पय की टीका भाग १, पृ० १२३।

इस कारण वह ब्रह्मन् की 'सत्ता' के उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें वह संसार का उपादान कारण है। महेश्वर शिव महेश्वर कहलाते हैं क्योंकि समस्त वस्तुएं अंत में उसमें लय हो जाती हैं। वह ईशान कहलाता है क्योंकि वह समस्त वस्तुओं पर प्रभुत्व करता है अतः वह पशुपति भी कहलाता है। 'पशुपति' विशेषण से यह सूचित होता है कि वह केवल समस्त आत्माओं (पशु) का ही प्रभु नहीं है वरन् उस समस्त का भी प्रभु है जो उन्हें बंधन में बद्ध करता है (पाश)। इस प्रकार ब्रह्मन् चेतन सत्ताओं तथा भौतिक संसार का नियंता है।[1]

यह कहा गया है कि माया आद्य द्रव्य है, प्रकृति, विश्व का उपादान कारण है। परन्तु कहा जाता है कि ईश्वर अथवा भगवान् शिव सदैव माया से समाजित हैं अर्थात् माया से सर्वथा परे उनका कोई पृथक अस्तित्व नहीं है। इस मत के अनुसार यदि माया विश्व का उपादान कारण मानी जाएगी तब भगवान् शिव को भी जो माया से संबंधित हैं किसी अस्पष्ट अर्थ में विश्व का उपादान कारण मानना होगा। अतः अंतिम निष्कर्ष यह है कि सूक्ष्म चेतना तथा सूक्ष्म पदार्थ से संबंधित रूप में ब्रह्मन् कारण है तथा विश्व कार्य है जो केवल स्थूल पदार्थ से संबंधित स्थूल चित् है।[2] वास्तव में यह सत्य है कि उत्पत्ति पालन तथा संहार के तथ्य विशेषण हैं जो केवल दृष्टि विषयक संसार पर ही नियुक्त किए जा सकते हैं अतः वे तर्क सिद्ध कथन के रूप में ब्रह्मन् के स्वरूप को निश्चित करते हुए आवश्यक गुण नहीं माने जा सकते। फिर भी संसार प्रपंच का उत्पत्ति पालन तथा संहार ब्रह्मन् के स्वरूप के अस्थाई पक्ष (तटस्थ लक्षण) माने जा सकते हैं। यह भी ध्यान देना है कि जब ईश्वर की नियंत्रण शक्ति के द्वारा माया अपने को संसार में रूपांतरित कर लेती है, तब माया से अनंत संबंध होने के कारण ईश्वर स्वयं किसी अर्थ में संसार का उपादान कारण भी माना जा सकता है यद्यपि परात्पर रूप से वह माया से परे रहता है। इस विचार तथा रामानुज के विचार में यह अंतर है कि रामानुज के अनुसार ब्रह्मन् एक मूर्त

---

[1] अनेन चिदचिन्नियामकं ब्रह्मेति विज्ञायते।

ब्रह्मसूत्र १—१—२ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १२७।

[2] माया तु प्रकृतिं विद्यात् इति मायाया प्रकृतित्वं ईश्वरात्मिकाया एव मायिनं तु महेश्वरम् इति वाक्यशेषात्। सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणं स्थूल चिदचिद्विशिष्टम् तत्कार्यं भवति। —ब्रह्मसूत्र १—१—२ पर श्रीकंठ का भाष्य पृ० १३४।
सत्यं मायापादानमिति ब्रह्मापि उपादानमेव। अपृथक सिद्ध कार्यावस्था श्रेयस्त्व रूपं हि मायाया उपादानत्वं समर्थनीयम्। तत्समर्थ्यमानमेव ब्रह्म पर्यन्तमायाति। नित्ययोगः खलु मायिनमिति मायाशब्दादि निप्रत्ययः। ततश्च मायायाः ब्रह्म पृथक् सिद्ध्यैव तदपृथक सिद्धाया कार्यावस्थाया अपि ब्रह्मापृथक् सिद्धिः सिद्ध्यति।

—अप्पयदीक्षित की टीका भाग १, पृ० १३४।

सामान्य है जिसमें संपूर्ण भौतिकता है तथा जिससे आत्माओं के समुदाय सदैव उसी प्रकार संचालित तथा प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित होते हैं जिस प्रकार एक व्यक्ति के अंग स्वयं व्यक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह प्रत्यय एक संपूर्ण संगठन का है जिसमें ब्रह्म संगठन है तथा आत्माएँ एवं पदार्थों का संसार उसके द्वारा शासित पूर्ण रूपेण उसका भाग है। शंकर का मत इससे सर्वथा भिन्न है। वह मानते हैं कि सूत्र का मुख्य अर्थ मूल ग्रंथों की केवल एक व्याख्या है जो यह दिखाता है कि संसार ब्रह्मन् से उत्पन्न हुआ है, उसमें पालित है तथा अंत में उसमें वापस चला जाएगा। परंतु इससे यह प्रतिफलित नहीं होता कि संसार का यह आभास परम सत्य है। शंकर का आभास के वास्तविक स्वरूप से कोई संबंध नहीं है, परंतु उनका चित् अनंत तथा अपरिवर्तनशील अधिष्ठान पर केंद्रित है जो सदैव सत्य रहता है तथा जो दृष्टिगोचर संसार के समान केवल सापेक्ष सत्य नहीं है।[1] हमने ऊपर लिखा है कि श्रीकंठ दूसरे सूत्र का ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान सूचित करते हुए मानते हैं। परंतु बाद के तर्कों में वे दूसरी ओर जाते प्रतीत होते हैं तथा ब्रह्मन् के अस्तित्व को वेदों के प्रमाण द्वारा प्रमाणित मानते हैं। संपूर्ण विश्व के उद्देश्य की एकता का सामान्य तर्क आवश्यक रूप से एक सृष्टा का स्वयं सिद्ध मान लेने की ओर नहीं ले जा सकता क्योंकि एक भवन अथवा मंदिर जो उद्देश्य की एकता दर्शाता है, वास्तव में अनेक शिल्पकारों तथा कारीगरों द्वारा कार्यान्वित होता है। उनका यह भी विचार है कि ईश्वर ने वेदों की उत्पत्ति की है। यह भी किसी प्रकार उसके अस्तित्व का अतिरिक्त प्रमाण माना जा सकता है। ब्रह्मन् का स्वरूप भी उन भिन्न उपनिषदीय मूल ग्रंथों के समाधान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जो सब भगवान् शिव के परम अस्तित्व को इंगित करते हैं। ब्रह्मसूत्र २-१-१८-१९ में श्रीकंठ कहते हैं कि अपने में संकुचित ब्रह्मन् कारण है, परंतु जब वह अपनी आंतरिक कामना द्वारा अपने को विस्तृत कर लेता है तब वह स्वयं को तथा विश्व को दर्शाता है, जो उसका कार्य है।[2] यह विचार वल्लभ के विचार के लगभग समान है तथा श्रीकंठ द्वारा १-१-२ में दिए गए ब्रह्म के विचार से विशेष रूप से भिन्न है। अपने विचार की पुनः व्याख्या करते हुए श्रीकंठ कहते हैं कि वह ब्रह्मन् को विश्व का अंतिम उपादान कारण इसी अर्थ में स्वीकार करते हैं कि

---

[1] शंकर तथा उनके सम्प्रदाय के विचार के लिए देखिए भाग १ तथा २। रामानुज तथा उनके सम्प्रदाय के विचार के लिए देखिए भाग ३।

[2] चिदात्मव हि देवा न्तः-स्थितमिच्छा वशाद् बहिः। योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेद् इति। निरुपादानमिति अनेपेक्षितोपादानान्तर स्वयं उपादान भत्वेत्यर्थ। तत परम कारणात्परब्रह्मन शिवादभिन्नमेव जगत्कार्यमिति—यथा संकुचित सूक्ष्म-रूप पट प्रसारितो महापटकुटी रूपेण कार्य भवति, तथा ब्रह्मापि संकुचित रूप कारणं प्रसारित रूप कार्य भवति। —श्रीकंठ का भाष्य, भाग २ पृ० २९।

प्रकृति जिससे संसार विकसित होता है स्वयं ब्रह्मन् में है। क्योंकि ब्रह्मन् अपनी शक्ति के अतिरिक्त नहीं रह सकता अतः वह संसार का उपादान कारण माना जा सकता है यद्यपि वह अपने में परात्पर रहता है तथा केवल उसकी माया ही संसार की उत्पत्ति में अंतर्निहित कारण के रूप में काम करती है। इस प्रकार वे कहते हैं कि जीवों तथा ब्रह्म में भेद है एवं प्रकृति तथा ब्रह्मन् में भेद है। वह यह स्वीकार नहीं करेंगे कि संसार प्रपंच ब्रह्मन् से सर्वथा भिन्न है न ही वह यह स्वीकार करेंगे कि वे सर्वथा अभिन्न हैं। उनकी स्थिति रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के समान विशिष्टाद्वैती जैसी है। जीव तथा निर्जीव संसार से परे ब्रह्मन् का अस्तित्व सर्वथा अनुभवातीत है। परंतु फिर भी क्योंकि जीव तथा भौतिक संसार उसकी शक्ति से उत्पादित है इसलिए चित् अचित् मय यह संसार उनके अंश माने जा सकते हैं यद्यपि वह इनसे परे हैं।[1]

नैतिक उत्तरदायित्व तथा ईश्वर का अनुग्रह

प्रश्न यह है कि महाप्रभु ने सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि क्यों की? वह सदैव स्वानुभवपूर्ण तथा स्वयं संतुष्ट हैं तथा उन्हें कोई अनुराग एवं घृणा नहीं है। वह नितांत तटस्थ तथा अपक्षपाती है। तब फिर वह ऐसे संसार की सृष्टि क्यों करे जो कुछ के लिए आनंद से पूर्ण है (उदाहरणार्थ देवता) तथा दूसरों के लिए दुख तथा चिंताओं से पूर्ण है। स्वाभाविक रूप से यह हमें पक्षपात तथा कठोरता के आरोप की ओर प्रवृत्त करेगा। इसके अतिरिक्त क्योंकि सृष्टि से पूर्व अवश्य ही संहार हुआ होगा इसलिए यह आवश्यक रूप से तर्क किया जाएगा कि ईश्वर स्वयं इतना कठोर है कि केवल कठोरतावश वह विश्व संहार में लग जाता है। अतः सामान्यतः यह तर्क किया जा सकता है कि ईश्वर का ऐसे संसार की सृष्टि करने का क्या उद्देश्य है जो हमारी अपनी कामनाओं एवं मूल्यों की प्राप्ति का क्षेत्र नहीं है। इसका यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर कर्म तथा कर्म फलों की विभिन्नताओं के अनुरूप संसार की सृष्टि तथा संहार में लगता है।

---

[1] भेदाभेद कल्पने विशिष्टाद्वैत साधयामः न वयं ब्रह्म प्रपंचयोरत्यंतभेद भेदवादिन घट पटयोरिव। तदनन्यत्वपर श्रुति विरोधात्। न चात्यंतभेदवादिन शुक्ति रजतयोरिव। एकतर मिथ्यात्वेन तत्स्वाभाविकगुणभेद परश्रुति विरोधात्। न च भेदाभेदवादिन वस्तुविरोधात्। किंतु शरीर शरीरिणोरिव गुण गुणिनोरिव च विशिष्टाद्वैत वादिन प्रपंच ब्रह्मणोरनन्यत्व नाम मृद् घटयोरिव गुण गुणिनोरिव च कार्य कारणत्वेन विशेषण विशेष्यत्वेन च विनाभावरहितत्वम्।

—ब्रह्मसूत्र २–१–२२ पर श्रीकंठ का भाष्य भाग २ पृ० ३१।

क्योंकि उपनिषदों में कहा गया है कि ईश्वर तथा आत्माओं का अस्तित्व नित्य है। क्योंकि आत्माएँ अनादि हैं अतः उनके कर्म भी अनादि हैं। इससे अनवस्था उत्पन्न हो सकती है किन्तु यह अनवस्था दोषपूर्ण नहीं है। संसार में भिन्न शरीरों में जन्म मृत्यु का क्रम अनादि कर्म के चक्र में निहित है। क्योंकि ईश्वर अपनी सर्वज्ञता के कारण अनुभूति द्वारा उन अनेक प्रकार के कर्मों का जो व्यक्ति द्वारा किए जाएँगे प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है अतः उनके द्वारा प्रत्याशित इस कर्मों के उपभोग तथा दण्ड के लिए वह उपयुक्त शरीरों तथा परिस्थितियों का प्रावधान करता है। अतः सृष्टि में विभिन्नता व्यक्ति के कर्मों की अनेकरूपता के कारण है। प्रलय का समय तब आता है जब आत्माएँ जन्म तथा मृत्यु के क्रम से थक जाती हैं तथा शान्त हो जाती हैं एवं उन्हें स्वप्न रहित निद्रारूपी विश्राम की आवश्यकता होती है। अतः संहार का कार्यान्वित करना ईश्वर की क्रूरता सिद्ध नहीं करता।

जब समस्त प्राणियों के सुख व दुःख उनके कर्मों पर निर्भर हैं तब किसी भी प्रकार के ईश्वर को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर है कि कर्म का नियम ईश्वर के संकल्प पर निर्भर है तथा यह व्यक्ति की स्वेच्छा या स्वायत्त विधि से नहीं होता, न ही यह ईश्वर की स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता का अवरोध करता है। किन्तु यह घुमा फिराकर हम उसी स्थिति की ओर ले जायगा क्योंकि जब मनुष्यों के सुख व दुःख मनुष्यों के कर्मों तथा कर्म के नियम पर निर्भर हैं तथा कर्म का नियम ईश्वर के संकल्प पर निर्भर है तो वास्तव में इसका अर्थ यह है कि प्राणियों के सुख व दुःख अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के पक्षपात के कारण है।

फिर चूंकि कर्म तथा कर्म का नियम दोनों ही बुद्धिरहित हैं अतः ईश्वर की बुद्धि द्वारा उनका सम्पादन आवश्यक है। तब सृष्टि के पूर्व जब प्राणी जन्म और मृत्यु के चक्र से रहित होते हैं किसी शरीर से युक्त नहीं होते और आनन्द की स्थिति में होते हैं—तो फिर ईश्वर उन्हें जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में क्यों फंसा देता है और क्यों इतना कष्ट सहने को छोड़ देता है? उत्तर है कि चूंकि ईश्वर अपना अनुग्रह सबको प्रदान करता है (सर्वानुग्राहक परमेश्वर) अतः उसे ऐसा करना होता है क्योंकि बिना कर्मफल (कर्मपाकम तरेण) के शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता, और बिना शुद्ध ज्ञान के चरम आनन्द के उपभोग रूपी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, साथ ही सुख व दुःख द्वारा कर्म फल का पूर्ण उपभोग किए बिना ऐसे अनुरूप शरीर नहीं हो सकते जिनके द्वारा आत्माएँ कर्मफल का उपभोग अथवा कष्ट सहन कर सकते हैं अतः शरीर का उन समस्त आत्माओं से संयोजित होना आवश्यक है जो प्रलय के समय निष्क्रिय पड़े हुए थे। अतः जब इस प्रकार, सुख व दुःख द्वारा व्यक्ति के कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा प्राणियों की बुद्धि शुद्ध

हो जाती है, केवल तब ही मोक्ष के परम आनन्द की ओर प्रवृत्त करता हुआ आत्मज्ञान उदित हो सकता है।

पुनः यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ईश्वर सर्वथा अनुग्राहक है तब वह एक ही समय में समस्त व्यक्तियों के कर्मों के फलित होने का प्रबन्ध क्यों नहीं करता तथा क्यों नहीं उन्हें मोक्ष के आनन्द का अनुभव करने देता? उत्तर यह है कि, यदि ईश्वर समस्त व्यक्तियों के प्रति एक रूप से अपना अनुग्रह प्रदान करे भी देता तब वे जिनके मल नष्ट हो चुके हैं मुक्त हो जाते तथा वे जिनके कुछ मल अब भी रह गए हैं, केवल काल के अनुसार ही मोक्ष प्राप्त कर सकते। इस प्रकार यद्यपि ईश्वर सदैव आत्मसंतुष्ट है तथापि उसे केवल समस्त प्राणियों के लाभ के लिए कार्य करना होता है।

अप्पय की व्याख्या में ऐसा प्रतीत होता है कि अनुग्रह शब्द उन्होंने न्याय के अर्थ में लिया है। अतः ईश्वर केवल अपना अनुग्रह ही प्रदान नहीं करता वरन् उसका अनुग्रह व्यक्तियों के कर्मों के अनुरूप न्याय की एक प्रक्रिया है अतः वह पक्षपाती अथवा कठोर नहीं माना जा सकता।[1] अप्पय इस आपत्ति का पहले से अनुमानित करते हैं कि इस विचार में ईश्वर के निरपेक्ष प्रभुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह केवल कर्म के नियम के अनुरूप सुख व दुःख प्रदान करता है। अतः यह कहना निरर्थक है कि वह ईश्वर ही है जो जब किसी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अवनत अथवा करना उत्पन्न चाहता है तब वह उससे पाप अथवा शुभ कर्म करवाता है। क्योंकि ईश्वर अपने स्वयं के संकल्प द्वारा किसी से अशुभ अथवा शुभ कर्म नहीं करवाता है वरन् व्यक्ति स्वयं पूर्व सृष्टि में प्राप्त अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है तथा कर्म के नियम की पूर्ति के लिए उन कर्मों के अनुरूप ही नई सृष्टि का निर्माण होता है।[2] अप्पय पुनः कहते हैं कि शुभ अथवा अशुभ कर्म केवल व्यक्तियों के अंतःकरण के गुण हैं। प्रलय के समय यह अंतःकरण भी माया में विलीन हो जाते हैं जहाँ वे अचेतन संस्कारों या वासनाओं के रूप में रहते हैं तथा वहाँ रहने से नई सृष्टि में उन्हें व्यक्तिगत शरीरों तथा उनकी क्रियाओं के रूप में उसी प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है क्योंकि यद्यपि वे माया में विलीन हो गए थे तथापि वे परस्पर एकीभूत नहीं होते तथा आगामी जन्म में

---

[1] एवं च यथा नरपतिः प्रजानां व्यवहारस्थाने तदीय युक्तायुक्त-वचनानुसारेण अनुग्रह निग्रह विशेषं कुर्वन् पक्षपातित्व-लक्षण वैषम्यं न प्रतिपद्यते एवमीश्वरोऽपि तदीय-कर्म विशेषानुसारेण विषमसृष्टिं कुर्वन् तन्नप्रतिपद्यते।

—अप्पय दीक्षित की टीका, भाग २ पृ० ४७०।

[2] परमेश्वरो न स्वयं साध्वसाधूनि कर्माणि कारयिति तैः सुख-दुःखादीनि च नोत्पादयति यन तस्य वैषम्यमापतेत्। किन्तु प्राणिन एव तथाभूतानि कर्माणि यानि स्व-स्व रुच्यनु-सारेण पूर्वसर्गेषु कुर्वन्ति तान्येव पुनस्सर्गेषु विषम-सृष्टि-हेतव भवन्ति।

—तत्रैव भाग २ पृ० ४८।

प्रत्येक अपनी विशेष बुद्धि तथा कर्मों से संयोजित हो जाते है।[1] उन आगमों में जहां ३६ तत्वों की गणना की गई है नियति के नाम से कर्म नियम भी उन तत्त्वों में से एक माना गया है। यद्यपि नियति का तत्त्व स्वीकार किया गया है, तथापि यह अविवेकी रूप में नहीं वरन केवल ईश्वर के निरीक्षण में ही क्रिया कर सकता है जिससे एक व्यक्ति के कर्म अथवा कर्मफलों का दूसरे द्वारा अपहरण न हो जाय। शुद्ध नियति अथवा कर्म का नियम ऐसा नहीं कर सकता था। जिस विचार का यहां समर्थन किया गया है वह यह है कि जब संहार के समय समस्त कर्म गहरी निद्रा की अवस्था में होते हैं ईश्वर उन्हें जागृत करता है तथा उनके अनुरूप शरीर की रचना में सहायता देता है तथा अलग अलग आत्माओं का उनके शरीरों से संयोजित करता है एवं उनको, उनके कर्मों के अनुरूप सुख अथवा दुःख का अनुभव करवाता है।

यह समस्या अभी भी अस्पष्ट है कि हम किस प्रकार समस्त व्यक्तियों के इच्छा स्वातंत्र्य का ईश्वर द्वारा किए निश्चय के साथ सामंजस्य बिठाएँगे ? यदि ईश्वर हमारे शुभ या अशुभ रीति से कार्य करने के लिए उत्तरदायी समझा जाता है तब ईश्वर द्वारा निर्धारण को अनादि जीवनों पर छोड़ने से, समस्या के समाधान में सहायता नहीं मिलती। यदि ईश्वर निश्चय कर लेता है कि हमें अमुक रीति से इस जीवन में व्यवहार करना है तथा यदि वह रीति हमारे पूर्व जन्म के कर्मों द्वारा निश्चित की गई है उस जन्म की रीति उससे पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा, तब जब हम प्रारंभिक निश्चय को खोजते है, तो हमारे लिए यह स्वीकार करना आवश्य हो जाता है कि ईश्वर पक्षपाती है क्योंकि किसी दूरस्थ काल में उसने अवश्य ही हमारा भिन्न प्रकार से क्रिया करना निश्चित किया होगा तथा वह हमसे क्रिया करवाता है एवं उसके अनुरूप सुख व दुःख का अनुभव करवाता है। इस प्रकार अंतिम उत्तरदायित्व ईश्वर का है। इसके उत्तर में अप्पय, श्रीकंठ की टीका की व्याख्या करते हुए यह मानते हैं कि हमारा सदैव अशुद्धियों के साथ जन्म हुआ था। हमारा बंधन उस आवरण के साथ है जो हमारा विवेक तथा कर्म ढक देता है तथा ईश्वर जिसे नित्य तथा अनेक प्रकार की शक्तियां प्राप्त है हमसे इस प्रकार के कर्म करवाने का प्रयत्न करता रहता है जिनसे अंत में हम अपने को शुद्ध कर सकें तथा अपने को उसके समान बना सकें। स्वाभाविक रूपांतर द्वारा हमारी अशुद्धियों का संहार शरीर में उस फोड़े अथवा घाव के समान है जो कुछ कष्ट देने के पश्चात् ही अदृश्य हो जाता है। नित्य तथा नैमित्तिक वैदिक कर्म हम

---

[1] परमेश्वरस्तु पूर्व-सर्ग-कृतानां तत्तदन्तःकरण धर्मरूपाणां साधु साधु कर्मणां प्रलय समान्त करणानां विलीनतया मायायामेव वासना रूपतया स्थितानां केवल प्रसंगेण फल-व्यवस्थापकः। अन्यथा मायाया सर्वार्णेषु कर्मफल अन्या गृह्णीयात्।

—अप्पय दीक्षित की टीका, भाग २, पृ० ४८।

इन अशुद्धियों से मुक्त होने में सहायता करते हैं जिस प्रकार औषधि घाव के आरोग्य में सहायता करती है तथा इसके कारण जन्म व मृत्यु का चक्र आवश्यक हो सकता है। हमारे कर्मों के फलित होने पर ही उनसे ज्ञान उदित हो सकता है। इसी प्रकार वेदों में निवारित नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों के सम्पादन द्वारा हमारे कर्म परिपक्व होते हैं तथा हम में वैराग्य की भावना, शिव के प्रति भक्ति तथा उसके प्रति जिज्ञासा उदित होती है जो अंत में हम में विवेक उत्पन्न करती है जो मोक्ष की ओर प्रवृत्त करता है। संसार में प्राप्त आवरण के बिना या उसके बाहर व्यक्ति के कर्म फलित नहीं हो सकते। अतः अनंत मोक्ष के लिए कुछ कार्यों का करना हमारे लिए आवश्यक है। ईश्वर हमसे इन कार्यों को करवाता है तथा हमारे कर्मों के अनेक रूपों के अनुसार वह भिन्न प्रकार के शरीरों का सृजन करता है हमसे ऐसे कार्य करवाना है जिनसे हम दुःख भोगें, जिसके द्वारा हम धीरे धीरे मोक्ष के अंतिम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकें। हमारी प्रारंभिक अशुद्धियों तथा क्रियाओं की विभिन्नता के अनुसार हमसे भिन्न प्रकार के कर्म करवाए जाते हैं जिस प्रकार एक चिकित्सक भिन्न प्रकार के रोगों के लिए भिन्न प्रकार की चिकित्सा निर्धारित करता है। यह सब ईश्वर के परम अनुग्रह के कारण है। श्रीकंठ का कर्म शब्द के प्रयोग से अभिप्राय यही है कि कर्म वे हैं जिनके कारण ईश्वर की कारणता द्वारा जन्म व पुनर्जन्म का कालचक्र संभव हो सके।[1] अवश्य ही प्रलय में कर्मों के फलित होने अथवा उनकी पूर्ति होने की कोई प्रक्रिया नहीं हो सकती अतः वह अवस्था समस्त प्राणियों को विश्राम देने के लिए है।

ब्रह्म-सूत्र २।३।४१ में श्रीकंठ निश्चित रूप से स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं कि जीव स्वयं इस प्रकार के कार्य करते हैं जो पूर्व कल्पना के अनुरूप उनके विशेष प्रकार के कार्य करने अथवा विशेष प्रकार के कार्य नहीं करने का, कारण माने जा सकते हैं। आगे यह कहा गया है कि जब एक व्यक्ति किसी विशेष प्रकार से क्रिया करने अथवा विशेष क्रिया से निवृत्ति की कामना करता है तब ईश्वर केवल उसकी सहायता करता है। अन्य शब्दों में एक व्यक्ति अपने संकल्पों के लिए स्वयं उत्तरदायी है जिनका वह व्यावहारिक क्षेत्र में अनुसरण ईश्वर की इच्छा द्वारा कर सकता है। मनुष्य का उत्तरदायित्व उसके संकल्प की स्थापना तथा संकल्प को कार्यान्वित करने में होता है तथा हमारे चारों ओर के बाह्य संसार में हमारे संकल्प को कार्यान्वित करने में ईश्वर का संकल्प हमें सहायता देता है। मनुष्य अपने कार्यों को इस प्रकार करता है कि जिनके अनुसार उसके हित सर्वोत्तम रूप से संतुष्ट हो सकें। अतः वह अपने कर्मों के लिए

[1] भाष्य 'कर्म पाकमन्तरेण इत्यादि'—वाक्येषु कर्म शब्द "क्रियते अनेन संसार' इति करण-व्युत्पत्त्या वा परमेश्वरेणापक्व क्रियते इति कर्म—व्युत्पत्त्या वा मलावरणपरो द्रष्टव्य। —अप्पय दीक्षित की टीका भाग २ पृ० ५०।

उत्तरदायी है, यद्यपि संकल्प के वास्तविक रूप में कार्यान्वित होने के लिए वह ईश्वर पर निर्भर है। अतः ईश्वर पर पक्षपात अथवा कठोरता का आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि ईश्वर केवल अपने संकल्प तथा आन्तरिक प्रयत्नों के अनुसार जीवों को कर्म करने की ओर प्रवृत्त करता है।[1]

किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि अप्पय के विचारानुसार मानव-संकल्प के आंतरिक प्रयत्नों के उपरांत भी व्यक्ति पूर्णरूप से ईश्वर द्वारा शासित है। इस प्रकार अप्पय इच्छा स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ते हैं।[2]

ब्रह्मसूत्र २ २ ३६ ३८ में श्रीकंठ, शंकर के इस मत का खंडन करने का विशेष प्रयत्न करते हैं कि शैव इस सिद्धांत पर विश्वास करते थे कि ईश्वर संसार का निमित्त कारण था तथा इस रूप में उसका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जा सकता है। वह इस मत का भी खंडन करते हैं कि ब्रह्मन अथवा शिव ने प्रकृति अथवा आद्य पदार्थ में प्रवेश किया था तथा इस प्रकार विश्व में उसके विकास तथा रूपांतर की प्रक्रिया का निरीक्षण किया। क्योंकि उस स्थिति में प्रकृति में संबंधित सुख तथा दुःख के अनुभव उसके लिए संभव हो जाते हैं। अतः श्रीकंठ मानते हैं कि शैव विचारानुसार ब्रह्मन विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही है तथा वह केवल तर्क द्वारा नहीं वरन् धर्मग्रन्थ-पुस्तकों द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ पर श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित विषय के विचार में अस्थिरता है। यहां तथा उनकी रचना के प्रारंभिक भाग में, जैसा कि इंगित किया गया है श्रीकंठ यह घोषित करते हैं कि यद्यपि ईश्वर विश्व का उपादान-कारण है, तथापि किसी प्रकार वह संसार के परिवर्तनों से अप्रभावित है।[3] अनंत ब्रह्मन अथवा शिव, चित तथा अचित् (जो दोनों साथ चिच्छक्ति कहलाते हैं) की सूक्ष्म शक्ति में संयोजित हैं तथा चिच्छक्ति से संयोजित होने के कारण भगवान शिव एक हैं तथा समस्त वस्तुओं से परे हैं। जब सृष्टि के प्रारम्भ में इस परम माया अथवा चिच्छक्ति से रचनात्मक माया निकलती है जिसकी सूक्ष्म गति है, तब वह शक्ति समस्त संसार का उपादान कारण बन जाता है। इसी से चार तत्त्व निकलते हैं—जैसे

---

[1] अतो जीवकृत प्रयत्नापेक्षत्वात् कर्मसु जीवस्य प्रवर्तक ईश्वरो न वैषम्यभाक्। तस्यापि स्वाधीन प्रवृत्ति-सम्भावात् विधि निषेधादि वैयर्थ्यं च न संभवतीति सिद्धम्।
—ब्रह्मसूत्र २ ३ ४१ पर श्रीकंठ का भाष्य पृ० १५७।

[2] तथा च परमेश्वर—कारित-पूर्व-कर्म मूल-स्वेच्छाधीन यत्नं परमेश्वराधीनत्वम् हीयते।
—अप्पय की टीका भाग २ पृ० १६६।

[3] जगदुपादान निमित्त भूतस्यापि परमेश्वरस्य निष्कलम् निष्क्रियम् इत्यादि श्रुतिभिः निर्विकारत्वमप्युपपद्यते।
—ब्रह्मसूत्र २ २ ३८ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १०८।

शक्ति, सदाशिव, महेश्वर तथा शुद्ध विद्या। तत्पश्चात् मिश्रित स्वरूप वाली निम्न माया आती है जो वास्तव में संसार तथा शरीरों की प्रत्यक्ष उपादान-कारण है। तत्पश्चात् आते हैं काल, नियति, विद्या, राग तथा माया। दूसरे क्रम में अशुद्ध माया से समस्त संसार तथा जीवित प्राणियों के शरीर आते हैं। इसमें बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियाँ, तन्मात्रा नामक स्थूल पदार्थ के पाँच प्रकार के कारण तथा पदार्थ ये पाँच प्रकार के तत्त्व भी आते हैं। इस प्रकार तेईस तत्त्व हैं। पूर्व के तत्त्वों की गणना कर लेने के पश्चात् कुल छत्तीस तत्त्व बनते हैं। यह तत्त्व शैव मूल ग्रंथों में नाना प्रकार निर्दिष्ट हैं तथा उनकी वहाँ स्थापना तात्त्विक प्रमाणों से तथा धार्मिक मूल ग्रंथों के प्रमाण के आधार पर नाना में ही हुई है। जैसाकि पहले दिखाया गया है शुद्ध माया तथा अशुद्ध माया में अंतर किया गया है। अशुद्ध माया अपने में समस्त कार्यों, जैसे काल तथा अशुद्ध आत्माओं को सम्मिलित करती है। अव्यक्त शब्द का प्रयोग उपादान कारण अथवा बुद्धि सहित केवल भौतिक संसार के निर्देश के लिए हुआ है।

शक्ति द्वारा भी कभी-कभी शिव के तत्त्व का निर्देश हुआ है।[1] वायवीय संहिता में शिव तत्त्व के लिए केवल शिव का प्रयोग भी हुआ है।

हमने पहले देखा कि शंकर ने ब्रह्मसूत्र के इस विषय की व्याख्या इन भिन्न शैव अथवा माहेश्वर सम्प्रदाय के मत के खंडन के रूप में की है जो ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण मानते थे। श्रीकंठ ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ही है। अपने समर्थन में वह शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता के मूल ग्रंथों को यह दिखाने के लिए प्रस्तुत करते हैं कि वैदिक प्रमाण के अनुसार ईश्वर विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ही है। परन्तु श्रीकंठ कहते हैं कि यद्यपि आगम तथा शैवमत का वैदिक विचार एक ही है क्योंकि दोनों की शिव ने रचना की थी तथापि कुछ आगमों जैसे कामिक में निमित्त पक्ष को अधिक प्रमुखता दी है परन्तु उस प्रमुखता का यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि वह इस विचार का खंडन करती है कि ईश्वर विश्व का उपादान-कारण भी है। यह सत्य है कि शैवमत के कुछ पंथ जैसे कापालिकों अथवा कालमुखों में कुछ कर्मकांड अशुद्ध रूप के हैं तथा उस हद तक वे वेद विरोधी माने जा सकते हैं फिर भी वाराह-पुराण तथा अन्य पुराणों के प्रमाण से शैवमत अथवा पाशुपत योग वैदिक माना गया है। श्रीकंठ तथा अप्पय ने प्राकृत तथा सांस्कृतिक शैवमत के बीच की इस खाई

---

[1] शिव तत्त्व शब्देन तु शिव एवोच्यते। न तु अत्र शिव-तत्त्व शब्दः परशक्तिपरः शक्ति-शब्दस्तत्राय द्वितीय-तत्त्व रूप-शक्तिपरः।

—अप्पय दीक्षित की टीका भाग २ पृ० ११०।

को भरने का प्रयत्न प्रयत्न किया है जिनमें एक ओर शैवमत के वे रूप हैं जो वेदों के प्रमाण पर आधारित एवं प्रथम तीन वर्णों के लिए थे तथा दूसरी ओर वे जो समस्त वर्णों के लिए हैं। शैवों ने यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि प्रस्तुत विषय शैवागमों में प्रतिपादित विचारों के विरोध में निर्देशित नहीं था, जैसाकि शंकर ने व्याख्या की है, वरन उन मतों के विरोध में था, जो वेदान्त के किसी भी भाग में नहीं मानते हैं।

कुछ कल्पसूत्रों में कुछ मूल ग्रंथों के वध प्रमाण के विरुद्ध आरोपों की चर्चा है, परन्तु ये आरोप शिव द्वारा रचित आगमों पर लागू नहीं होते। यह कहा गया है कि शिव विश्व का उपादान कारण नहीं हो सकते क्योंकि उपनिषद् यह मानते हैं कि ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील है तथा इस प्रकार परिणाम-वाद का खंडन करने का प्रयत्न किया है। परिणाम का अर्थ है 'पूर्वावस्था से उत्तरावस्था में परिवर्तन'। पुनः, यह माना गया है कि शक्ति स्वयं में अपरिवर्तनशील है। यदि यह शक्ति 'चेतना' स्वरूप भी हो तब भी ऐसा परिवर्तन अग्राह्य होगा। इस विचार के विरोध में यह माना गया है कि आध्यात्मिक बल अथवा शक्ति (चिच्छक्ति) में सृष्टि अथवा संहार की कामना के अवसर पर परिवर्तन हो सकता है। जो चिच्छक्ति हमारे भीतर है वह बाहर आती है तथा इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आती है एवं यह पदार्थों के हमारे प्रत्यक्षीकरण को स्पष्ट करती है। क्योंकि हम चिच्छक्ति के कार्यात्मक विस्तार (वृत्ति) के सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा अतः यह स्वीकार करना सुगम है कि मूल शक्ति का भी कार्यात्मक विस्तार तथा संकुचन है।[1]

श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित शैव सम्प्रदाय के अनुसार जीव ईश्वर से उत्पन्न नहीं हुए हैं वरन उनका उसके साथ सह-अस्तित्व है। आत्माएँ ब्रह्मन् से चिनगारी के समान निकली हैं। यह कहना कि धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या, इस प्रकार की गई कि आत्माओं का बुद्धि, मन तथा भिन्न शरीरों में केवल बाद में संयोजन होता है। यह भी कहना पड़ेगा कि आत्माएँ इन्द्रियों तथा मन शरीरों के अतिरिक्त मानी जाती हैं। मन की व्याख्या उस ज्ञान के विशेष लक्षण अथवा गुण के रूप में की गई है जो आत्मा को प्राप्त है तथा जिसके कारण वह ज्ञाता है। इस मन का अन्य निम्न प्रकार के मन से भेद करना होगा जो प्रकृति की उत्पत्ति है तथा जो जन्म व पुनर्जन्म की प्रक्रिया में माया की शक्ति के संयोजन द्वारा आत्माओं से संयोजित हो जाता है। यह शक्ति स्वयं ज्ञाता के रूप में एक विशेष गुण दर्शाती है जिसमें यह सूक्ष्म तथा स्थूल का ज्ञान अथवा

[1] तेष्वपि सिसृक्षा-संजिहीर्षादि-व्यवहारेण शिवचिच्छक्ते विकल्पितत्व-प्रत्ययगाहनसिद्धिय मागत' इति चिच्छक्ति-वृत्ति निगम-व्यवहारेण जीव चिच्छक्तेरिव परिणामित्व-माविष्कृतमवेति भाव।

—अप्पय दीक्षित की टीका भाग २ पृ० ११२।

सहन कर सकती है एवं जो शरीर व अहंकार तक सीमित है। इसी मन के कारण आत्मा जीव कहलाती है। जब ब्रह्मज्ञान द्वारा अशुद्धियों से इसके तीन प्रकार के संयोजन को हटा दिया जाता है तब यह ब्रह्म के समान हो जाती है तथा मोक्षावस्था में इसका आत्मज्ञान अपने को अभिव्यक्त करता है। यह ज्ञान लगभग ब्रह्मज्ञान के समान है। इस अवस्था में आत्मा अपने स्वाभाविक आनंद का अनुभव केवल मन द्वारा, बिना किसी आंतरिक अंगों के संयोजन कर सकती है। आनंद के अनुभव के लिए केवल मन ही एक आंतरिक अंग है तथा किसी बाह्य अंग की आवश्यकता नहीं है। जीव तथा ईश्वर में यह अन्तर है कि ईश्वर सर्वज्ञ है तथा जीव को जन्म व पुनर्जन्म की प्रक्रिया के समय ही विशेष रूप से वस्तुओं का ज्ञान होता है। परन्तु मोक्ष की वास्तविक अवस्था में आत्माएँ भी सर्वज्ञ हो जाती हैं।[1] श्रीकंठ यह भी मानते हैं कि समस्त आत्माएं आकार में अणु हैं तथा शुद्ध चित् स्वरूप नहीं हैं वरन उन सबको उनके स्थायी गुण के रूप में ज्ञान प्राप्त है। इन समस्त विषयों पर श्रीकंठ का शंकर से मतभेद है तथा रामानुज से आंशिक रूप में सहमति है। चेतना के रूप में ज्ञान आत्मा का उपलब्ध गुण नहीं है जैसाकि नैयायिकों तथा वैशेषिकों ने माना है वरन इसका सदैव आत्माओं के स्वरूप में सह अस्तित्व है। जैसा कुछ दार्शनिक सिद्धांत मानते हैं जीव केवल प्रातिभासिक कर्त्ता नहीं वरन वे भी अपनी क्रियाओं के वास्तविक कर्त्ता माने जाते हैं। इस प्रकार सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि प्रकृति वास्तविक कर्त्ता है तथा उन सुखों व दुखों की वास्तविक भोक्ता है जो मिथ्या रूप से जीवों पर आरोपित किए जाते हैं। किन्तु श्रीकंठ के अनुसार आत्माएं अपने कर्मों की वास्तविक कर्त्ता तथा वास्तविक भोक्ता दोनों ही हैं। व्यक्ति के संकल्प द्वारा ही क्रिया का संपादन होता है तथा कर्त्ता के अर्थ में कोई मिथ्यारोपण नहीं है जैसाकि सांख्य तथा अन्य विचारधाराएँ मानती हैं। आत्माएँ अंत में ब्रह्म का अंश मानी जाती हैं तथा श्रीकंठ उस अद्वैत विचार के खंडन का प्रयत्न करते हैं जिसमें कारण तथा उपाधि की सीमाओं के द्वारा ईश्वर भ्रमात्मक रूप से जीव प्रतीत होता है।[2]

इस विचार के विषय में कि कर्म अपने फल स्वयं अथवा अपूर्व नामक कुछ प्रभावों की मध्यस्थता द्वारा प्रत्यक्ष उत्पन्न करते हैं श्रीकंठ का विश्वास है कि अचेतन होने के कारण कर्मों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे विभिन्न जन्मों तथा विभिन्न शरीरों

---

[1] तत्सदृश गुणत्वादपगत-संसारस्य जीवस्य स्वरूपानंदानुभवसाधनं मनोरूपमनंतःकरणम-नपेक्षित-बाह्य कारणमस्ति इति गम्यते। ज्ञानी इति जीवस्य अनन्त्वं किंचिज्ज्ञत्वमेव। असंसारिणः परमेश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वमुच्यते। अतः संसारे किंचिज्ज्ञत्वं मुक्तौ सर्वज्ञत्व-मिति ज्ञाता एव आत्मा।

—ब्रह्मसूत्र २ ३-१९ पर श्रीकंठ का भाष्य पृ० १४२ ३।

[2] ब्रह्मसूत्र २ ३ ४२ ५२ पर श्रीकंठ का भाष्य।

म होने वाले अनेक प्रकार के कार्यों का उत्पादन कर सकते हैं। अत यह स्वीकार करना होगा कि क्योंकि कर्मों का संपादन मनुष्य के मूल स्वतंत्र संकल्प के अनुरूप ईश्वरके संकल्प द्वारा अथवा बाद की अवस्थाओं मे उसके अपने कर्म द्वारा निश्चित होता है इस कारण समस्त कर्मों के स्वरूपों का भी, उपयुक्त क्रम म ईश्वर के अनुग्रह द्वारा वितरण किया जाता है।[1] इस प्रकार एक ओर हमारे कार्यों के लिए अन्तत ईश्वर का उत्तरदायित्व सिद्ध होता है दूसरी ओर हमारे कर्मों के अनुसार हमारे सुख-दुःख भोग के लिए भी। हमारी स्वेच्छा द्वारा किए गए कार्यों तथा हमारे कर्मों के अनन्तर भावी फल के लिए हमारे नैतिक दायित्व पर उससे कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

मोक्ष की अवस्था में मुक्त आत्मा, निर्गुण अवस्था म ब्रह्मन से एक नहीं हो जाती। वे उपनिषद जो यह घोषित करते हैं कि ब्रह्मन निर्गुण है, उनकी इस घोषणा से केवल यह अर्थ है कि ब्रह्मन् म कोई भी अनुचित गुण नहीं है तथा उसे वे सभी श्रेष्ठ गुण प्राप्त हैं जो ईश्वर के विषय मे हमारी कल्पना के अनुरूप हैं। जब मोक्ष की अवस्था म मुक्त आत्माएँ ब्रह्मन से एक हो जाती हैं तब इसका केवल यही अर्थ है कि वे ईश्वर के साथ उसके सभी श्रेष्ठ गुणों की भागी होती है, परन्तु वे कभी समस्त गुणों से रहित नहीं हो पाती जैसाकि शंकर की अद्वैतवादी व्याख्या अवबोध कराती प्रतीत होती है। यह पहले ही इंगित किया जा चुका है कि ईश्वर म एक ही समय म अनेक विशेषताएँ हो सकती है तथा ऐसा विचार स्व विरोधी नहीं होगा यदि यह न कहा जाय कि उसम एक ही समय मे अनेक परस्पर विरोधी गुण हैं। इस प्रकार कमल को हम श्वेत, सुगंधित तथा वृहत कह सकते है परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि एक ही समय म वह नीला तथा श्वेत है।[2]

श्रीकंठ यह मानते है कि केवल वे कर्म जो फल देने की अवस्था म परिपक्व हो चुके है (प्रारब्ध कर्म), निरंतर फल दिए जाएगे तथा वे ऐसा तबतक करते रहेंगे जबतक कि प्रस्तुत शरीर नष्ट नहीं हो जाता। किसी भी परिमाण म ज्ञान अथवा अनुभूति, हम हमारे द्वारा उपार्जित कर्मों के सुखों अथवा दुखों के अनुभव से नहीं बचा सकते, परंतु यदि हम शिव के उस स्वरूप का, जिसमे हम शिव से एक है, निरंतर ध्यान करके ज्ञान प्राप्त कर लें तब हम उन संचित कर्मों के लिए जो अभी सुख अथवा दुःख के फल देने की अवस्था के लिए परिपक्व नहीं हुए है, जन्म तथा पुनर्जन्म नहीं भोगना पड़ेगा।[3]

जब समस्त मल नष्ट हो जाते है तथा व्यक्ति मुक्त हो जाता है, तब वह उस मुक्त अवस्था म विश्व सृजन की शक्ति के अतिरिक्त समस्त आनंदपूर्ण अनुभवों तथा सभी

---

[1] ब्रह्मसूत्र ३ २ ३७ ४० पर श्रीकंठ का भाष्य।

[2] ब्रह्मसूत्र ३ ३ ४० पर श्रीकंठ का भाष्य।

[3] ब्रह्मसूत्र ४ १ १६ पर श्रीकंठ का भाष्य।

प्रकार की दाक्रियों का भोग कर सकता है। वह निःशरीर रहकर भी केवल अपनी बुद्धि के द्वारा समस्त सुखों का अनुभव कर सकता है तथा वह एक ही समय में ऐसे अनेक आध्यात्मिक पदार्थों का सजीव कर सकता है अथवा उनका पुनर्निर्माण कर सकता है जो प्रकृति के नियमों से परे है तथा उनके द्वारा वह किसी भी ऐसे आनंद का अनुभव कर सकता है जिसकी उसे कामना हो। किंतु किसी भी स्थिति में वह उस अवस्था से कर्म के नियम के अंतर्गत जन्म व पुनर्जन्म भोगने के लिए नहीं लाया जाता वरन अपने में उन भगवान शिव के समान सर्वथा स्वाधीन रहता है जिनके साथ वह सभी प्रकार के सुखकारक अनुभवों में भाग ले सकता है। इस प्रकार वह अपना व्यक्तित्व तथा सुख भोगने की शक्ति रखता है। वह ऐसा केवल अपनी बुद्धि के द्वारा अथवा अपने अमूर्त शरीर तथा इंद्रियों द्वारा करता है। उसके अनुभव कभी भी साधारण मनुष्यों के अनुभवों के समान नहीं होंगे जो विशेष लक्ष्य प्राप्ति के लिए अनुभवों का प्रयोग करते हैं। संसार का उसका अनुभव ऐसा अनुभव होगा जिसका स्वरूप ब्रह्मन के अनुभव के समान होगा।[1]

अध्याय १७

पुराणों में शैव-दर्शन

शिव महापुराण में शैव-दर्शन

शैव धर्म तथा दर्शन की प्राचीनता की व्याख्या हम पृथक खंड में करेंगे। यह दुख का विषय है कि शैवमत के प्राचीनतम काल से निरंतर विकास के इतिहास की खोज अत्यंत कठिन ही नहीं वरन लगभग असंभव है। हम इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते कि शैवमत के विभिन्न संदर्भों में दिए हुए विभिन्न पक्षों का पृथक अध्ययन करें तथा तब उनका एक साथ संकलन कर दें यद्यपि वह पूर्णतः संतोषजनक संकलन नहीं हो पाएगा। इस स्थिति के अनेक कारण हैं। प्रथम तो शैवमत संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में व्यक्त किया गया था। यह भी अभी निश्चित नहीं कि द्रविड़ ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद थे अथवा केवल संस्कृत लेखों से प्रेरित थे। बाद के लेखक यहाँ तक कि पुराण भी यह मानते हैं कि संस्कृत अथवा द्रविड़ सभी शैव धार्मिक पुस्तकों के प्रथाकार शिव थे। निश्चय ही उनका आशय प्राचीनतम लेखों अर्थात् आगमों से है।

हमें प्राचीनतम आगमों के निश्चित काल का ज्ञान नहीं है। 'आगम' शब्द की कुछ व्याख्या की आवश्यकता है। इसका अर्थ है मूल ग्रंथ जो हम तक आए हैं तथा जो ईश्वर अथवा किसी पौराणिक श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा निर्मित माने गए हैं। शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता में हमारे पास अट्ठाईस शिवाचार्यों की सूची है तथा इनका उल्लेख दसवीं शताब्दी ई० तक किया गया है। परंतु इन शैव शिक्षकों की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए कुछ भी नहीं है न ही हम यह जानते हैं कि कौन से आगम हमें उनसे विरासत में प्राप्त हैं। दक्षिण में आर्य सभ्यता के प्रवेश से पूर्व किसी द्रविड़ दार्शनिक सभ्यता के विषय में हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। अतः यह कल्पना करना कठिन है कि संस्कृत रचनाओं के सदृश द्रविड़ रचनाएँ किसी प्रकार हो सकती थीं।

अन्य कठिनाई यह है कि इनमें से पूर्व काल के अनेक आगम ग्रंथ नहीं मिलते हैं। वर्तमान में उपलब्ध आगमों में से अनेक संस्कृत में विभिन्न द्रविड़ लिपियों में लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में उल्लिखित शैवदर्शन के संप्रदायों के अभिलेख अवश्य ही संस्कृत में लिखे गए होंगे परंतु प्रस्तुत लेखक ७वीं व ८वीं शताब्दी में उल्लिखित समस्त संप्रदायों का ठीक-ठीक पहिचान शैवविचार के वर्तमान अभिलेखों में उपलब्ध संप्रदायों से तादात्म्य

बिठावर करने मे पूर्णत असमर्थ है। रामानुज म वैष्णव विचार की पुनर्जागृति के साथ-साथ शैवविचार का वृहत् विकास बारहवीं शताब्दी से हुआ था परतु रामानुज स्वय शैवमत के उन समस्त सम्प्रदाया का उल्लेख नही करते हैं जिनका शकर तथा वाचस्पति मिश्र ने अपनी भामती की टीका म उल्लेख किया है। रामानुज, कालमुखा तथा कापालिकाओं का केवल उल्लेख करते हैं उनके दार्शनिक विचारा के विषय म कोइ साहित्य अब प्राप्त नही है। सभवत कापालिक पथ का अब भी यहाँ-वहाँ अस्तित्व है तथा उनकी कुछ प्रथाओं को देखा जा सकता है परतु कालमुखा का प्रथाओं पर किसी साहित्य की खोज अयतन हम नही कर सके है। परतु हम इस समस्या पर शव विचार करेंगे जब हम शैव विचार की प्राचीनता तथा उसके विभिन्न सप्रदाया का निरूपण करेंगे। वतमान समय म साधारण रूप से ज्ञात दक्षिणी शैवमत के तीन सप्रदाय हैं—वीर शैव शिवज्ञान सिद्धि-सप्रदाय तथा श्रीकंठ द्वारा वर्णित शैवमत का सप्रदाय। हमने दो खडा म श्रीकठ के शैवमत की व्याख्या की है। चौदहवी शताब्दी मे माधव कृत सर्वदर्शन-सग्रह म पाशुपत शैवमत के सप्रदाय का उल्लेख है तथा महाभारत एव अनेक पुराणा म पाशुपत-सम्प्रदाय का उल्लेख है। शिव महापुराण मे, विशेषत उसके वायवीय-सहिता नामक अंतिम खड म हम पाशुपत-दर्शन का वणन मिलता है। अब मैं शिव महापुराण की वायवीय सहिता म प्राप्त पाशुपत प्रणाली के वणन को एकत्रित करने का प्रयत्न करूँगा।

स्वय पुराण के ही प्रमाणानुसार शिव महापुराण स्वय शिव द्वारा लिखी हुई सात भागा म विभाजित एव लाख पद्या की वृहत् रचना है। कलियुग म व्यास ने इस वृहत रचना को चौबीस हजार पद्या म सक्षिप्त किया है। व्यास की ऐतिहासिकता के विषय म हम कुछ भी ज्ञात नही है। पुराणा म से बहुत से उनके लिखे हुए माने जाने हैं। किन्तु वतमान महापुराण म सात खड हैं जिसका कि वायवीय-सहिता नामक अंतिम खड दो भागा म विभाजित है तथा शैवमत के भिन्न सम्प्रदायो के विचारा को स्पष्ट करता माना जाता है। हमारी व्याख्या के अनुसार यह केवल एक सम्प्रदाय अर्थात् पाशुपत शैवमत के ही विभिन्न रूपा का दर्शाता है। जिन रचनाओं को हम अवतक खोज सके है उनम से कोई भी रचना शिव अथवा महेश्वर की नहा ठहराई गई है यद्यपि ब्रह्मसूत्र २ २ ३७ पर शकर अपने भाष्य म महेश्वर द्वारा लिखे सिद्धात ग्रथो का उल्लेख करते है। हमने कुछ आगमो की खोज की है परतु यह आगम सिद्धान्त नही कहलाते हैं न ही वे महेश्वर द्वारा लिखित माने जाते हैं। शिव महापुराण के प्रमाणानुसार अनेक ऐसे शव आचार्य हैं जिन्ह तथा जिनके अनेक शिष्यो को शिव का अवतार माना जाता है। परतु इन पौराणिक आचार्यो के विषय मे हम कुछ भी ज्ञात नही है। शैवमत के सिद्धातो को समझाते हुए एक उपमन्यु नामक आचार्य का उल्लेख वायवीय सहिता के खड मे अनेक जगह मिलता है। उपरोक्त शाकर भाष्य म शैवमत का वणन बहुत अपूर्ण है परतु

उससे यह प्रतीत होता है कि शव, प्रकृति का उपादान कारण तथा शिव को निमित्त-कारण मानते थे, तथा इस उपरोक्त विचार की "ईश्वर कारणियो' के सम्प्रदाय के रूप मे शकर विशेषत आलोचना करत है जिसका यह अथ निकलता है कि ईश्वर के रूप म एव पृथक निमित्त-कारण का विचार उपनिषद सहन नही कर सकते थे। वाचस्पति भी इगित करत हैं कि उपादान कारण होने के कारण प्रकृति का निमित्त-कारण ईश्वर से तादात्म्य नही हो सकता। शवमत मे शकर तथा शवो क मध्य विवाद विषय के समाधान की समस्या हमारे सम्मुख आती है। श्रीकठ के भाष्य की हमारी परिभाषा वह दिशा दर्शाती है जिसम शव, समस्या का समाधान करना चाहते है परतु श्रीकठ का भाष्य सभवत ग्यारहवी शताब्दी से पूव का नही है तथा शैवमत की अनेक अन्य रचनाएँ केवल बारहवी शताब्दी तक ही खोजी जा सकती है। शिव महापुराण के प्रमाण पर जो अवश्य ही शकर से पूव लिखा गया होगा, हम जात है कि शव आचार्यों द्वारा शव रचनाएँ उन लोगो के लिए लिखी गइ थी जो वणाश्रम धम के अनुयायी थे तथा वे जो वर्णाश्रम धम की ओर कोइ ध्यान नही देते थे और जिन्हें वेदो के अध्ययन का विशेषाधिकार नही था। अत दूसरे प्रकार के व्यक्तियो के लिए लिखी गई रचनाएँ अवश्य ही दक्षिण की द्रविड रचनाएँ होगी, जिनम से अनेक अब खो गई हैं तथा जिसकी कुछ परपराए अब सस्कृत आगमो म मिलती हैं। दूसरे खड म हमने पहले ही इनकी व्याख्या कर दी है। हम यह देखने का अवसर मिलेगा कि शवमत का काश्मीरी रूप शकर के लगभग समकालीन था।

शिव महापुराण के रुद्र सहिता नामक दूसरे खड म हम यह बताया गया है कि महाप्रलय के समय, जब समस्त पदाथ नष्ट हो गए थ तब न सूय, न ग्रह, न तारे, न चद्रमा, न दिन न रात्रि थे अपितु केवल अधकार था, समस्त शक्तिरहित केवल शून्यता थी। किसी भी प्रकार की कोई सवेदनशीलता नही थी, यह वह अवस्था थी जिसम न सत्ता थी न असत्ता थी यह बुद्धि एव वाणी तथा नाम व रूप से परे थी। परतु फिर भी उस तटस्थ अवस्था म केवल शुद्ध सत्ता शुद्ध चित् अनत तथा पर आनद था जो अथाह तथा स्वय अपने प्रकार की एक अवस्था मे स्थित था, यह निराकार तथा सवगुण रहित था।[1] यह पूणत शुद्ध चित के स्वरूप का अनादि, अनन्त तथा विकास रहित था। अत शन द्वितीय कामना अथवा सकल्प उदित हुआ जिससे निराकार अपनी स्वय की लीलामय क्रियाओ द्वारा किसी आकार म परिवर्तित हो गया। यह उस सवस्रष्टा शुद्ध शक्ति के रूप म माना जा सकता है जिसने सदश कुछ नहीं है। इस शक्ति

---

[1] सत्य ज्ञानमनन्त च परानन्द पर मह
अप्रमेयमनाधारमविकारमनाकृति ।
निगु ण योगिगम्य च सवव्याप्येककारकम् ।
—शिव महापुराण २ १ ६,२ डी० सी० १८।

द्वारा निर्मित आकार सदाशिव कहलाता है। मनुष्य इसको ईश्वर भी कहते हैं। एकाकी शक्ति ने स्वतः गतिशील होकर स्वयं से अपना नित्य शरीर बनाया जो प्रधान, प्रकृति अथवा माया कहलाता है तथा जो बुद्धि के तत्त्व को उत्पन्न करता है। यह माया अथवा प्रकृति सब प्राणियों की निर्मात्री है तथा यह ईश्वर से भिन्न परम पुरुष शिव जो शंभु भी कहलाते हैं—के सम्पर्क में आने वाली मानी जाती है। यह शक्ति काल भी मानी जाती है।

प्रकृति से महत् अथवा बुद्धि विकसित हुई तथा बुद्धि से तीन गुण सत्व, रजस व तमस तथा इनसे तीन प्रकार के अहंकार विकसित हुए। अहंकार से तन्मात्रा पंचभूत पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मनस विकसित हुए।

शिव महापुराण की कैलाश-संहिता में शैवमत का विचार शिवाद्वैत प्रणाली अथवा शैवमत के अद्वैत सिद्धांत के रूप में वर्णित है।[1] यहाँ यह कहा गया है कि क्योंकि समस्त जीवित प्राणी एक नर भाग अथवा एक मादा भाग से निर्मित हैं अतः मूल कारण का भी संयुक्त नर मादा सिद्धांत से प्रतिनिधित्व होना चाहिए। वास्तव में इसी विचार के आधार पर सांख्य ने मूल कारण को प्रकृति एवं पुरुष के रूप में माना था। परन्तु उन्होंने केवल तार्किक आधारों पर इसकी स्थापना का प्रयत्न किया था आस्तिक दृष्टि से वे इसकी स्थापना करने के इच्छुक नहीं थे। इसी कारण यद्यपि कुछ सांख्य तत्त्व स्वीकार किए गए तथापि पूर्णतया बुद्धिवादी प्रणाली होने के कारण सम्पूर्ण सांख्य का परित्याग किया गया। यहाँ से ब्रह्मन सत् चित आनन्द का समन्वित रूप माना जाता है तथा नपुंसक लिंग में है। ब्रह्मन में सत् की स्थिति का अर्थ है कि वहाँ सत्ता का पूर्ण निषेध नहीं है। इस सत को नपुंसक स्वरूप में मानना यह तथ्य प्रदर्शित करता है कि यह पुरुष है तथा यह पुरुष प्रकाश स्वरूप भी है। सत चित आनंद के ऐक्य में शुद्ध चित् मादा भाग का प्रतिनिधित्व करती है। अतः दो भाग जो नर व मादा माने जाते हैं प्रकाश तथा शुद्ध चित हैं तथा ये दोनों मिलकर संसार के उत्पादक कारण बनते हैं। अतः सतचित व आनन्द के ऐक्य में शिव तथा शक्ति का ऐक्य निहित है। कभी-कभी इस प्रकाश के भी प्रतिबंधक या आवरण आ जाते हैं उसी तरह जिस प्रकार वर्तिका की ज्वाला पर धूम्र तथा अन्य अशुद्धियों का आवरण या प्रतिबंध आ जाता है। मल शिव में नहीं है परन्तु शुद्ध चित की अग्नि में स्थित हैं। इसी कारण चिच्छक्ति अथवा शुद्ध चित् की शक्ति मानव आत्माओं में अशुद्ध अवस्था में दिखती है। इस मल के निष्कासन के लिए ही शक्ति की सर्वकालीन व्यापकता की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार शक्ति बल का प्रतीक है। परमात्मन में शिवपक्ष तथा शक्तिपक्ष दोनों हैं।

---

[1] उत्पाटयाज्ञान सम्भूत संशयाख्य विष द्रुमम्
शिवाद्वैत महा-कल्प-वृक्ष भूमियया भवेन।   —तत्रैव ६ १६ २।

शिव तथा शक्ति के समिलन के कारण ही आनद होता है। आत्मन शुद्ध चित है तथा यह चित अपने मे सवनान तथा सवशक्ति धारण करती है, यह स्वतत्र एव स्वाधीन है तथा यह उसका प्रकृति है। शिव-सूत्र म नान का वणन वधन के रूप मे हुआ है परतु वहा 'नान शब्द स तात्पय केवल अनित्य सीमित तथा अशुद्ध नान से है जा समस्त मनुष्या म है तथा केवल इसी अथ म नान का बधन माना जा सकता है।

शक्ति स्पद भी कहलाती ह। नान, गति तथा सकल्प शिव के तीन पक्षा के समान हैं तथा मनुष्यों का इन्हा से प्रेरणा मिलती है। जसाकि हमने ऊपर कहा है सयुक्त शिव तथा शक्ति पराशक्ति प्रदान करत ह तथा इस पराशक्ति से चेतना की शक्ति अथवा चिच्छक्ति विकसित होती है। इसस शक्ति अथवा आनद अथवा आनद शक्ति का विकास होता है तथा इसस इच्छाशक्ति तथा उसस नान शक्ति एव क्रियाशक्ति विकसित होत ह। *शिव के पक्ष मे स्पन्द का प्रथम तत्त्व शिव-तत्त्व कहलाता है। ससार तथा जीव* का पूण रूप स शिव के साथ तादात्म्य है तथा इसका नान प्राप्त करना मोक्ष की ओर प्रवत्त करता है।

परम प्रभु अपने को सकुचित कर लेत है तथा अपने आपको उन जीवा मे अभिव्यक्त करते हैं जा प्रकृति के गुणा के भाक्ता है। पाँच प्रकार की कलाओं की प्रक्रिया द्वारा यह भोग होता ह। एक कला व्यक्ति का क्रिया करने की ओर प्रवत्त करती है, दूसरी उसे द्विविध विद्या क वस्तुसत्य का नान कराती है, तीसरी उस रागा स अनुरक्त करती है, काल वस्तुआ का क्रम स घटित करवाता है नियति (जा प्रारब्ध के लिए नही वरन अन्तःकरण के लिए एक विशेष अथ म प्रयुक्त हुई है) वह तत्त्व है जो यह उस निश्चित करने की प्रेरणा देता है कि मनुष्य का क्या करना चाहिए क्या नही करना चाहिए।[1]

पुरुष अथवा जीव का सचित रूप म नान के गुणसकल्प आदि प्राप्त है। तथा कथित चित्त अथवा मानसिक स्तर का निर्माण प्रकृति म स्थित विभिन्न गुणा द्वारा हुआ है। बुद्धि से विभिन्न इन्द्रिया तथा सूक्ष्म पदाथ का विकास होता है।

उपयुक्त विचारधारा अथात शिवाद्वैत प्रणाली बहुत अव्यवस्थित रीति से निबद्ध है। इसे सक्षेप म इस प्रकार विभिन्न स्थाना पर प्राप्त विवेचन मे व्यक्त किया जा सकता है। एक तो ब्रह्म को यह मत उस सत्ता की एक निगुण सत्ता या असत्ता के रूप म मानता ह जबकि विश्व म सूय के अतिरिक्त कुछ नही होता इस सत्ता-असत्तात्मक ब्रह्मन से एक ऐसा तत्त्व उत्पन्न होता है जा स्वय म नरमादा की उस शक्ति

---

[1] इद तु मम कतव्यमिद नेति नियामिका नियतिस्स्यात्।
—शिव महापुराण ६ १६ ८३।

में दो तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है जो समस्त जीवित प्राणियों में व्यापक है। इस तत्व अर्थात् शिव से एक ओर, जीव उद्भूत होते हैं जो परमेश्वर के स्वरूप की एक संकुचित अभिव्यक्ति है तथा दूसरी ओर सांख्य के सिद्धांत की तरह ही मायाशक्ति-रूप "प्रकृति" से उद्भूत समान संसार है। पुरुष में पाँच प्रकार के तत्त्व माने जाते हैं जिनके द्वारा वह अपने तथा संसार के समागम के सुख तथा दुःख का भोग कर सकता है। संकुचित रूप में आ जाने के कारण, जीव अशुद्ध रूप में दिखलाई पड़ते हैं जिस प्रकार वर्तिका की शिखा में धूम्र आदि अशुद्धियाँ या प्रतिबिंब दिखलाई देते हैं। इस प्रकार पूर्णरूप से प्रत्ययवादी न होते हुए भी संपूर्ण प्रणाली एक प्रकार के एकतत्त्ववाद की ओर प्रवृत्त है। श्रीकंठ के दर्शन में इसकी समीपता अथवा सादृश्य तुरन्त स्पष्ट हो जायगा यद्यपि व्यक्त करने की पद्धति में अंतर है। कुछ गद्यांश ऐसे हैं जो हम काश्मीर शैवमत के कुछ उन रूपों का स्मरण दिलाते हैं जो यद्यपि एकतत्त्ववादी थे तथापि यहाँ व्यक्त किए हुए एक तत्त्ववाद से विशेषकर भिन्न थे। हम यहाँ काश्मीर शैवमत के स्पन्द सिद्धांत का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इसके बावजूद हम यह नहीं समझना चाहिए कि एक तत्त्ववादी शैवमत प्रथम बार इस पुराण अथवा इस अध्याय में प्रतिपादित किया गया था। हम अन्यत्र यह प्रतिपादित करेंगे कि ईसा की पहली शताब्दी के आसपास स्पष्टतः एक तत्त्ववादी शैवमत का अस्तित्व था। बहरहाल काश्मीर शैवमत संभवतः सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रांत प्रांत विकसित हुआ। अतः यह माना जा सकता है कि
1 शिव पुराण का उल्लिखित अध्याय नवीं अथवा दसवीं शताब्दी के समीप किसी समय लिखा गया होगा जो श्रीकंठ का काल भी माना जा सकता है। यद्यपि यह भी हो सकता है कि वह रामानुज के बाद ग्यारहवीं शताब्दी में किसी समय हुए हों। यथा स्थान हम इन विषयों पर अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

शिव महापुराण की रुद्र-संहिता के द्वितीय अध्याय[1] में शिव का यह कथन आता है कि परम तत्त्व, जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराता है शुद्ध चेतना है तथा उस चेतना में आत्मन तथा ब्रह्मन् के मध्य कोई भेद नहीं है।[2] परन्तु आश्चर्य है कि शिवभक्ति तथा ज्ञान का तादात्म्य करते प्रतीत होते हैं। भक्ति के बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।[3] जहाँ भक्ति है वहाँ ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने में जातिभेद बाधक नहीं

---

[1] शिव महापुराण, २.२.२३।

[2] परतत्त्व विजानीहि विज्ञानं परमेश्वरि
द्वितीय स्मरणं यत्र नाहं ब्रह्मेति शुद्धधी।

—शिव महापुराण २.२.२३.१३।

[3] भक्तौ ज्ञानं न भेदो हि
विज्ञानं न भवत्येव सति भक्ति विरोधिनि।

है। वहाँ शिव भक्ति के विभिन्न भेदा का वणन भी करत हैं। इस अध्याय म वर्णित भक्ति का स्वरूप यह दर्शाता है कि भक्ति भावात्मक उद्गार नही मानी जाती थी जसाकि हमे भक्ति माग के चतन्य सप्रदाय म मिलता है। शिव के नाम का श्रवण, भजन, उनका ध्यान उनकी पूजा एव अपन को उसका सेवक समझना तथा मित्रता की भावना का विकास करना जिसके द्वारा मनुष्य अपने को भगवान शिव को समपण कर सके यह शवमत म भक्ति का स्वरूप माना गया है। शिव के नाम का भजन पुराणा म दी हुई शिव की कथा के सदभ म किया जाता है। शिव पर चिन्तन इस विचार के आलोक म किया जाता है कि शिव सवव्याप्त तथा सवव्यापी है। भक्ति के द्वारा ही सत्य ज्ञान हो सकता है तथा सासारिक पदार्थों से निवृत्ति हो सकती है।

४४१ म चार प्रकार के मोक्ष सारूप्य सालोक्य, सानिध्य तथा सायुज्य वर्णित है। हमने पहले ही चतुथ भाग म मोक्ष के उन स्वरूपो का निरूपण कर लिया है जो वष्णवो के मध्व सप्रदाय के अनुयायियो ने स्वीकार किए हैं तथा यह मोक्ष केवल शिव द्वारा ही प्रदान किया जाता है जो प्रकृति के गुणो से परे है।

यहाँ (४४१) शिव के स्वरूप का वणन प्रकृति से परे तथा निर्विकारीण के रूप म किया गया है। वह शुद्ध ज्ञान स्वरूप, अपरिवतनशील तथा सवदर्शी के स्वरूप का है। कवल्य नामक पाचवें प्रकार का मोक्ष केवल शिव के तथा उसकी महिमा के ज्ञान द्वारा प्राप्त हो सकता है। सपूण ससार उससे उत्पन्न होता है तथा उसी मे वापस चला जाता है और वह उसम सदव व्याप्त है। वह सत चित् और आनद के ऐक्य के रूप म भी वर्णित है। वह निगुण, निरुपाधिक शुद्ध है तथा किसी प्रकार अशुद्ध नही किया जा सकता। शब्द उसका वणन नही कर सकत तथा विचार उस तक नही पहुँच सकते। यह ब्रह्मन् ही है जो शिव भी कहलाता है। जिस प्रकार आकाश समस्त पदार्थों म व्यापक है उसी प्रकार वह समस्त पदार्थों म व्यापक है। वह माया के क्षेत्र से परे है तथा उदासीन है। ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है परन्तु ज्ञान-माग की तुलना म भक्ति माग का अनुसरण सुगम है। अगले अध्याय (४४२) मे यह कहा गया है कि पुरुष से सयोजित प्रकृति अनन्त ब्रह्मन शिव से उत्पन्न होती है।[1] पुरुष से सयोजित प्रकृति का यह विकास उस रुद्र का तत्त्व कहलाता है जो परम ब्रह्मन् शिव का ही केवल रूपातर है जिस प्रकार स्वण के आभूषण स्वण का रूपातर माने जा सकत है। केवल चिन्तन के लाभ के लिए ही निराकार शिव को साकार माना गया है।

विश्व म श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ म जो हम देखत या जानते है वह शिव का रूप ही

---

[1] तस्मात्प्रकृतिरुत्पन्ना पुरुषेणाऽसमन्विता।

—तत्रैव ४४२-३।

है तथा पदार्थों के नानागुण युक्त धर्म उससे निर्मित होते हैं। सृष्टि के पूर्व तथा प्रलय के समय, शिव की ही एक अपरिवर्तनशील सत्ता रहती है। शुद्ध शिव केवल तब सगुण माने जाते हैं, जब कोई उन्हें उस शक्ति का अधिकारी मानता है जिससे कि उनका वास्तव में तादात्म्य है। ईश्वर के संकल्प द्वारा ही संसार में सब व्यापार चल सकते हैं। उसे सबका ज्ञान है, परन्तु उसका ज्ञान किसी को नहीं है। संसार की सृष्टि करके वह उससे परे रहता है तथा इससे ग्रस्त नहीं होता। परन्तु शुद्ध चित् के अपने रूप में वह संसार में संसारियों को दिखलाई देता है, जिस प्रकार सूर्य अपने प्रतिबिम्बों में दिखता है। वास्तव में शिव इस परिवर्तनशील संसार में प्रवेश नहीं करता। वास्तव में शिव ही पूर्ण संसार है यद्यपि संसार के दृश्य विपरिवर्त्त होते हुए अलग अलग देशकाल में घटित होते हुए प्रतीत होते हैं। अज्ञान का अर्थ केवल भ्रमात्मक ज्ञान है, तथा यह कोई पदार्थ नहीं है जो ब्रह्मन के साथ द्वैत सत्ता के रूप में माना जा सके।[1]

वेदान्तियों के अनुसार सत्ता एक है तथा वह जीव जो ब्रह्मन का केवल एक अंश है, अविद्या द्वारा भ्रमित हो जाता है तथा अपने को ब्रह्मन से भिन्न समझता है। परन्तु जब अविद्या के चंगुल से मुक्त हो जाता है तब यह शिव से एकाकार हो जाता है। जैसा हमने पहले कहा है शिव वास्तव में वस्तुओं में न होते हुए भी समस्त वस्तुओं में व्यापक है। वेदान्त द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुकरण करने से मोक्ष प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार अग्नि, जो लकडी में रहती है लकडी को निरंतर रगडने से उत्पन्न हो सकती है, उसी प्रकार भक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शिव को प्राप्त किया जा सकता है परन्तु मनुष्य को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जो कुछ है वह शिव है तथा केवल भ्रम द्वारा ही विभिन्न नाम व रूप हमारे सम्मुख आते हैं।[2] जिस प्रकार सागर अथवा स्वर्ण का टुकडा या मिट्टी का टुकडा विभिन्न आकारों में दिख सकते हैं, यद्यपि वास्तव में रहते वही हैं उसी प्रकार केवल विभिन्न उपाधियों के कारण ही, जिनसे हम वस्तुओं की ओर देखते हैं, वे इतनी विभिन्न प्रकट होती हैं, यद्यपि वे शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वास्तव में कारण तथा कार्य में कोई भेद नहीं है।[3] *यद्यपि भ्रम द्वारा मनुष्य किसी वस्तु को कारण तथा किसी अन्य वस्तु को*

---

[1] अज्ञान च मतभेदो नास्त्यन्यच्च द्वयं पुन ।
दर्शनेषु च सर्वेषु मतिभेद प्रदर्श्यते ।
—शिव महापुराण ४ ४२, ९ सी० डी० ।

[2] भ्रान्त्या नाना-स्वरूपो हि भासते शंकरस्सदा ।
—तत्रैव ४ ४३, १५ सी० डी० ।

[3] कार्य-कारणयोर्भेदो वस्तुतो न प्रवर्तते,
केवलं भ्रान्ति-बुद्धय व तदभावे स नश्यति ।   —तत्रैव ४ ४३ १७ ।

कार्य समझता है। बीज में भिन्न रूप में प्रतीत होता हुआ अंकुर बीज से निकलता है, परन्तु अंत में अंकुर वृक्ष के रूप में विकसित होता हुआ फलता है, पुनः वह अपने को फल तथा बीज में परिवर्तित कर लेता है। बीज बच जाता है और वह अन्य अंकुर उत्पन्न करता है तथा मूल वंश नष्ट हो जाता है। तत्त्वदर्शी बीज के समान है जिसमें से अनेक रूपांतर होते हैं तथा जब ये समाप्त हो जाते हैं तब पुनः तत्त्वदर्शी ही बच रहता है। अविद्या के हट जाने से मनुष्य अहम् से विलग होकर शुद्ध हो जाता है तथा तब वह भगवान शिव के अनुग्रह द्वारा वह बन जाता है जो वह वास्तव में है अर्थात् शिव। जिस प्रकार दर्पण में मनुष्य अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देख सकता है उसी प्रकार मनुष्य अपनी शुद्ध बुद्धि अर्थात् शिव में जो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव महापुराण ४.४३ में वर्णित शैवमत के इस सम्प्रदाय में शैवमत एकेश्वरवादी है जो बहुत कुछ शंकर के अद्वैतवाद के समान है। यह विश्वास करता है कि आभास की अनेकता असत्य है तथा ब्रह्म अथवा शिव ही केवल एक सत्ता है। यह इस पर भी विश्वास करता है कि यह भ्रमात्मक आभास अविद्या की बाधा के कारण है। यह कार्य तथा कारण में कोई भेद स्वीकार नहीं करता परन्तु फिर भी यह इस एकेश्वरवादी विश्वास पर दृढ़ प्रतीत होता है कि भगवान अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान कर सकते हैं यद्यपि यह इसका निषेध नहीं करता कि उपनिषदों द्वारा निर्देशित मार्ग से ब्रह्म की प्राप्ति की जा सकती है। यह कहता है कि भक्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है भक्ति से प्रेम तथा प्रेम से मनुष्य को शिव की महिमा के उपाख्यान सुनने का अभ्यास हो जाता है और उससे मनुष्य सत पुरुषों के संपर्क में आता है एवं उससे मनुष्य अपना गुरु प्राप्त कर सकता है। जब इस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। गुरु की पूजा की रीति भी यहां उपस्थित की गई है। यह कहा गया है कि यदि किसी को उत्तम तथा सत गुरु मिल जाता है तब उस गुरु की इस प्रकार पूजा करनी चाहिए मानो वह स्वयं शिव हो तथा इस प्रकार शरीर की अशुद्धियां हट जाएँगी तथा इस प्रकार भक्तों के लिए ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो जाएगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अध्याय में यद्यपि शैवमत की व्याख्या पूर्णतया वेदान्ती रीति से की गई है तथापि आस्तिकवाद तथा गुरु-पूजा के सिद्धांत को भी इसमें किसी प्रकार प्रवेश मिल गया है यद्यपि इसमें सिद्धांत शंकर के औपनिषद अद्वैतवाद के अनुकूल नहीं हैं। अतः यह प्रणाली शैवमत का एक ऐसा रूप उपस्थित करती है जो शिव महापुराण के दूसरे खंड में दिए हुए रूप से भिन्न है तथा श्रीकंठ व अप्पय दीक्षित द्वारा विवेचित शैवमत के दर्शन से भी भिन्न है।

शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता में शैव-दर्शन

शिव-पुराण, सात संहिताओं में विभक्त है जिनमें शिव-पूजा के विभिन्न पक्ष शिव की पौराणिक कथाएं तथा शैवमत के दर्शन की व्याख्या की गई है। यद्यपि शैवमत की विभिन्न प्रणालियाँ अपने शैवदर्शन के मूल सिद्धान्तों में साधारण रूप से समान हैं तथापि इन सिद्धान्तों में प्राय: ऐसे विशेष अन्तर परिलक्षित होते हैं जिनकी ओर शैवमत के विस्तृत अध्ययन के लिए ध्यान देना चाहिए। विशेष रूप से इस कारण कि किसी भी दार्शनिक पद्धति का वाङ्मय जिसका प्रचार एवं विस्तार इतने सुदूर अतीत से लेकर बाद तक न संपूर्ण भारत में दूर-दूर तक होता रहा था इतना परिवर्तित रूपान्तरित, क्षतविक्षत और विलुप्त नहीं हुआ जितना कि शैवमत। वेदों और उपनिषदों में तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में कुछ अभिलेख शैवदर्शन के उपलब्ध हैं, परन्तु ईसा पूर्व समय से लेकर नवीं अथवा दसवीं शताब्दी ईसवी तक के इस वाङ्मय के प्राय: समस्त ग्रन्थ आज लुप्तप्राय हैं। संस्कृत तथा द्रविड भाषा में लिखी हुई अधिकांश रचनाएँ अब प्राप्त नहीं हैं तथा आठवीं शताब्दी ईसवी में शंकर द्वारा उल्लिखित शैवविचार की प्रणालियों का पहचानना भी अब कठिन हो गया है। अत: शैवमत की हमारी व्याख्या में यहाँ वहाँ से एकत्रित किए हुए केवल अवशेष होंगे तथा इसका कोई उचित ऐतिहासिक स्वरूप भी नहीं होगा। कम से कम जहाँ तक संस्कृत रचनाओं का संबंध है ग्यारहवीं अथवा चौदहवीं व पन्द्रहवीं शताब्दी के लेखक भी सन्दर्भित मूल ग्रंथों तथा उनके परस्पर संबंध का सही संदर्भ नहीं दे पाए हैं। द्रविड मूल ग्रन्थों तथा उनके ग्रंथकारों के विषय में जो कुछ लिखा गया है उसमें से बहुत सा या तो पौराणिक है अथवा अनैतिहासिक है। शिव-पुराण भी भिन्न कालों में लिखी मिश्रित रचना प्रतीत होती है। यह एक दूसरे से प्राय: विभिन्न विचारों का संग्रह मात्र है तथा शैवमत की प्रवृत्ति के भिन्न भिन्न स्तरों को इंगित करता है। अत: शिव महापुराण की सम्पूर्ण रचना का सुसंगत विवरण देना संभव नहीं है। तदनुसार मैंने अध्याय २, ४, ६ तथा ७ में वर्णित शैवमत के मूल्यांकन का प्रयत्न किया है। परन्तु क्योंकि सातवीं संहिता अर्थात् वायवीय संहिता का दार्शनिक स्तर शिव महापुराण के दार्शनिक स्तर से कुछ भिन्न प्रतीत होता है अत: मैं उस वायवीय संहिता के विषयों का संक्षिप्त सिंहावलोकन करने का प्रयत्न करूँगा जो पाशुपत शैवमत का एक सम्प्रदाय माना जा सकता है। मैं बाद में शैवमत के अन्य रूपों का जहाँ तक वे मुझे प्राप्त हो सके हैं मूल्यांकन करने का प्रयत्न करूँगा।

वायवीय-संहिता के ७.१.२.१६ में परमेश्वर को मूल कारण, पालनकर्ता, आधार तथा सब पदार्थों के संहार के भी कारण के रूप में माना है। वह परम पुरुष ब्रह्म अथवा परमात्मन कहलाता है। प्रधान अथवा प्रकृति उसका शरीर मानी जाती है तथा वह कर्त्ता भी माना जाता है जो प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न करता

है।[1] वह अपने को तइस तत्त्वों में अभिव्यक्त करता है तथा फिर भी सर्वथा निर्विकार तथा अपरिवर्तित रहता है। यद्यपि संसार की सृष्टि तथा पालन परमेश्वर द्वारा हुआ है तथापि माया अथवा अविद्या के विभ्रम से मनुष्यों को उसका ज्ञान नहीं है।

७ १-३ में यह कहा गया है कि अंतिम कारण वह है जो मन और वाणी से परे है तथा उसी से ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र देवता समस्त स्थूल पदार्थ तथा इंद्रिय शक्तियों के साथ उत्पन्न हुए। वह समस्त कारणों का कारण है तथा किसी अन्य कारण द्वारा उत्पादित नहीं है। वह सर्वव्यापक तथा सबका प्रभु है। परमेश्वर वृक्ष के समान एक ही स्थान पर मौन अवस्थित हैं तथा इसके उपरांत भी वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। मूल कारण ब्रह्म के अतिरिक्त विश्व में समस्त वस्तुएँ गतिमान हैं। वह अकेला ही समस्त जीवों का अंतर्यामी नियंत्रक है, परंतु इसके उपरांत भी वह इस रूप में पहचाना नहीं जा सकता, यद्यपि उसे सबका ज्ञान है। अनन्त शक्ति, ज्ञान तथा क्रिया स्वाभाविक रूप में उसमें हैं। जिन सबका हम क्षर तथा अक्षर के रूप में ज्ञान है, वह उस परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी इच्छाशक्ति या विचार के कारण वे अस्तित्व में आए हैं। माया के मन में जीवों के लोप होने के साथ विश्व शून्य हो जाएगा।[2] सब शक्तिमान मंत्राकार के समान महाप्रभु ने जगदाभास का पटल पर चित्रित किया है तथा वह आभास अंत में उसमें वापस लीन हो जाएगा। प्रत्येक जीव उसके नियंत्रण में है, तथा केवल परम भक्ति द्वारा ही उसका अनुभव किया जा सकता है। केवल यथार्थ भक्त ही उससे किसी प्रकार का वास्तविक सभाषण कर सकता है। सृष्टि स्थूल तथा सूक्ष्म है, स्थूल सबके लिए दृश्य है तथा सूक्ष्म केवल योगियों के लिए, परंतु उनसे परे एक अपरिवर्तनशील महाप्रभु है जिसे अनंत ज्ञान व आनंद प्राप्त है। ईश्वर के प्रति भक्ति भी ईश्वर के अनुग्रह के विस्तार के कारण है। वास्तव में अनुग्रह भक्ति से उत्पन्न होता है तथा भक्ति अनुग्रह से उत्पन्न होती है जिस प्रकार पौधे से पेड़ तथा पेड़ से पौधा उत्पन्न होता है।

जब किसी को अपने आप में परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है तब ऐसे मनुष्य को उसका अनुग्रह प्राप्त होता है तथा यह उसके गुणों में वृद्धि करता है एवं उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। अनेक जन्मों के पापों का प्रायश्चित्त करने की दीर्घ प्रक्रिया के अनन्तर ही ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति उत्पन्न होती है। फलस्वरूप अधिकाधिक अनुग्रह का

---

[1] नमः प्रधान-देहाय प्रधान क्षोभ-कारिणे
त्रयो विंशति भेदेन विकृतायाविकारिणे।

—वायवीय संहिता, ७ १ २ १६।

[2] भूयो यस्य प्रसादेन विश्व माया निवर्तते।

—तत्रैव ७ १ ३ १३।

प्राप्त होना है तथा उसके कारण सांसारिक कार्य करते रहने पर भी मनुष्य अपने कर्मों के फलों की समस्त कामनाओं का त्याग कर सकता है।

कर्मफलों की निवृत्ति से मनुष्य शिव के प्रति विश्वास से सर्यान्वित हो जाता है। यह गुरु के माध्यम से अथवा बिना गुरु के भी हो सकता है। पूर्वोक्त उत्तरोक्त की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। शिव के ज्ञान से मनुष्य जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्र के दुःखों का सार भी प्राप्त कर लेता है। इसके फलस्वरूप समस्त इन्द्रिय विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है। इससे महाप्रभु के प्रति भाव उत्पन्न होता है तथा इस भाव द्वारा चिंतन की प्रवृत्ति होती है तथा तब मनुष्य स्वाभाविक रूप से कर्मों का परित्याग करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार जब मनुष्य शिव के स्वरूप पर एकाग्रचित्त होता है तथा चिंतन करता है तब वह योग की अवस्था प्राप्त कर लेता है। पुनः इस योग के द्वारा ही भक्ति की अधिक वृद्धि होती है तथा उसके द्वारा ईश्वर के अनुग्रह का अधिक विस्तार होता है। इस दीर्घ प्रक्रिया के अन्त में जीव मुक्त हो जाता है तथा तब वह शिव के समान (शिव सम) हो जाता है परन्तु वह कभी शिव नहीं हो सकता। संबंधित पुरुष की योग्यता के अनुरूप मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया भिन्न हो सकती है।

७.१.५ में वायु का यह कथन बतलाया जाता है कि पशु अर्थात् जीव पाश अर्थात् बंधन तथा पति अर्थात् परमेश्वर इन सबका ज्ञान समस्त ज्ञान तथा विश्वास का अंतिम लक्ष्य है तथा केवल यही परम सुख की ओर प्रेरित कर सकता है। समस्त दुःख अज्ञान से प्रवृत्त होते हैं तथा उन्हें ज्ञान द्वारा हटाया जाता है। ज्ञान का अर्थ *विषयता द्वारा* मर्यादित होना है। ज्ञान द्वारा यह विषयीकरण जड़ तथा अजड़ के संदर्भ में हो सकती है। परमेश्वर दोनों का नियंत्रण करता है। जीव अविनाशी है अतः अक्षर कहलाता है बंधन (पाश) नश्वर है अतः क्षर कहलाता है तथा जो इन दोनों से परे है वह महाप्रभु है।

विषय की आगे व्याख्या करते हुए वायु कहते हैं कि प्रकृति क्षर के रूप में मानी जा सकती है एवं पुरुष, अक्षर के रूप में महाप्रभु दोनों को क्रिया के लिए गतिमान करता है। पुनः, प्रकृति का माया से तादात्म्य है तथा पुरुष माया से घिरा हुआ माना जाता है। ईश्वर की निमित्तता से मनुष्य के पूर्व कर्मों द्वारा माया तथा पुरुष में सम्पर्क होता है। माया का वर्णन ईश्वर की शक्ति के रूप में किया गया है। मल वह शक्ति है जिससे आत्माओं की चेतना में स्वरूप का आवरण होता है। इस मल से रहित होने पर पुरुष अपनी मूल स्वाभाविक शुद्धता में वापस चला जाता है। जैसा हमने पहले कहा है *माया के आवरण का आत्मा से संयोजन पूर्व कर्मों के कारण है, तथा यह* हम हमारे कर्मफलों को भोगने का अवसर देता है। इस संबंध में ज्ञान का अर्थ रखते हुए कला के तत्त्व राग काल तथा नियति की ओर भी ध्यान देना चाहिए। जीव अपने बंधन की अवस्था द्वारा इन सबका अनुभव करता है। वह अपने शुभ तथा अशुभ

कर्मों के सुख तथा दुःख का अनुभव भी करता है। मल से संबंध अनादि हैं, परंतु मोक्ष-प्राप्ति से इसे नष्ट किया जा सकता है। हमारे समस्त अनुभवों का उद्देश्य हमारी बाह्य तथा आंतरिक इंद्रियों के द्वारा तथा हमारे शरीर द्वारा अपने कर्मफलों का अनुभव करना है।

यहाँ विद्या की परिभाषा उससे की गई है जो दिक् तथा क्रिया को अभिव्यक्त करे। (दिक् क्रिया-व्यंजका विद्या)। काल वह है जो सीमित करता तथा अनुभव करता है, (कालावच्छेदक) एवं नियति वह है जो पदार्थों का क्रम निश्चित करती है तथा राग मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करता है। अव्यक्त वह कारण है जिसमें तीन गुण निहित हैं, इनसे सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा इसी में सब वापस चले जाते हैं। यह प्रकृति जो प्रधान अथवा अव्यक्त भी कहलाती है, अपने को सुख-दुःख तथा स्तब्धता के रूप में अभिव्यक्त करती है। प्रकृति की अभिव्यक्ति की विधि कला कहलाती है। तीन गुण सत्व, रजस, तमस् प्रकृति में से उत्पन्न होते हैं। शास्त्रीय सांख्य सिद्धांत से भिन्न यह स्पष्ट रूप से एक नवीन विचार है। शास्त्रीय सांख्य सिद्धांत में प्रकृति केवल तीन गुणों की साम्यावस्था है तथा वहाँ प्रकृति के तीन गुणों की समता से निर्मित होने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सूक्ष्म अवस्था में यह गुण प्रकृति में व्याप्त रहते हैं जिस प्रकार तिलों में तेल व्याप्त रहता है। अव्यक्त अथवा प्रधान के रूपांतर में से ही पाँच तन्मात्रा, पाँच स्थूल पदार्थ तथा पाँच ज्ञानेंद्रियाँ व पाँच कर्मेंद्रियाँ तथा मनस अस्तित्व में आते हैं। यह कारण अवस्था ही है जो अव्यक्त कहलाती है। रूपांतरों के रूप में कार्य व्यक्त कहलाते हैं जिस प्रकार मिट्टी का लोंदा अव्यक्त माना जा सकता है तथा उससे निर्मित मिट्टी के बर्तन व्यक्त माने जाते हैं। संसार के विविध व्यक्त कार्य अव्यक्त प्रकृति में एकता प्राप्त करते हैं तथा समस्त शरीर, इंद्रियों आदि का भोग पुरुष ही करता है ऐसी मान्यता है।

विषय की आगे व्याख्या करते हुए वायु कहते हैं कि यद्यपि एक सार्वलौकिक आत्मा को स्वीकार करने के लिए किसी उचित कारण की खोज करना कठिन है तथापि एक ऐसी सार्वलौकिक सत्ता को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ता है जो बुद्धि, इंद्रियों तथा शरीर से भिन्न है। यह सत्ता समस्त मानव अनुभवों की शरीर के नष्ट होने पर भी, स्थाई भोक्ता है (अयावाद देह वेदनात)। यह सार्वलौकिक सत्ता ही है जो समस्त अनुभव योग्य पदार्थों का अनुभव करती है तथा वेदों व उपनिषदों में इसे अंतर्यामी नियंता कहा गया है। यह सब पदार्थों में व्याप्त है फिर भी अपने आप को विशेष परिस्थितियों में अभिव्यक्त करती है तथा यह स्वयं अदृश्य है। यह नेत्र अथवा किसी अन्य इंद्रियों द्वारा देखी नहीं जा सकती। बुद्धि के उचित विवेक द्वारा ही इस महान आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। यह समस्त परिवर्तनों में अपरिवर्तनशील है तथा यह सब पदार्थों की द्रष्टा है एवं स्वयं इसका प्रत्यक्ष नहीं किया

जा सकता। ऐसी महान आत्मा शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न है एवं वे जो इसको शरीर से तादात्म्य मानते हैं इसको देख नहीं सकते। शरीर से संबंधित होने के कारण, यह समस्त अशुद्धियों और दुःखों से समन्वित हो जाती है तथा अपने स्वयं के कर्मों द्वारा ही जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्र में भी फँस जाती है। जिस प्रकार एक जल से परिपूर्ण खेत नवीन अंकुर उत्पन्न करता है उसी प्रकार अज्ञान के खेत में कर्म प्रस्फुटित होने प्रारंभ हो जाते हैं तथा उनसे शरीर उत्पन्न होते हैं जो समस्त दुःखों के उद्गम हैं। जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्र द्वारा मनुष्य को अपने कर्मफलों का अनुभव करना पड़ता है तथा इस प्रकार प्रक्रिया चलती रहती है। यह सार्वलौकिक सत्ता अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है तथा भिन्न व्यक्ति में विभिन्न वृत्तियों के रूप में अभिव्यक्त होती है।[1] हमारे समस्त मानव संबंध लकड़ी के उन बहते हुए टुकड़ों के समान, आकस्मिक तथा प्रासंगिक हैं जो लहरों द्वारा पास आकर फिर पृथक हो जाते हैं। पौधों से लेकर *ब्रह्म तक समस्त जीव इस पुरुष के पशु अथवा अभिव्यक्तियाँ हैं। पुरुष* सुख तथा दुःख के बंधन में बंधा है तथा परमेश्वर के निर्लीन के समान, यह अज्ञानी तथा अशक्त है और अपने सुख की व्यवस्था अथवा दुःख के निवारण का प्रबंध नहीं कर सकता।

हमने पहले ही पशु तथा पाश का स्वरूप देख लिया है। पाश शिव की वह शक्ति है जो अपने को प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त करती है यह भौतिक संसार आत्मगत संसार के साथ उन सुखों व दुःखों का विकास करता है जो भिन्न उपाधियों तथा परिस्थितियों में अनेक प्रतीत होते हुए सार्वलौकिक आत्मा पशु को बंधन में बाँधती है। हम यह ध्यान दिए बिना नहीं रह सकते कि यहाँ पुरुष अथवा आत्मन सांख्य के अनेक *पुरुषों अथवा न्याय की अनेक आत्माओं या अवमत की अन्य प्रणालियों के समान अनेक* नहीं है। वेदांती अद्वैतवाद का उत्कृष्ट विचार यहाँ उपस्थित किया गया है तथा इस सिद्धांत में पुरुष का एक ऐसा स्वरूप वर्णित है जो भिन्न परिस्थितियों में भिन्न शरीरों में अनेक प्रतीत होता है। यह एक पुरुष सर्वव्यापी है तथा अनेक उपाधियों द्वारा प्रतिबिम्बित होने के कारण ब्रह्म से लेकर घास की पत्ती तक, यह पदार्थों के अनेक विभिन्न आकारों में प्रतीत होता है।

परन्तु यह परम ईश ही पशु और पाश दोनों का सृजक है जिसमें असंख्य उत्तम और आकर्षक गुण हैं। उसके बिना विश्व की कोई सृष्टि सम्भव नहीं हो सकती थी क्योंकि पशु और पाश दोनों ही जड़ और ज्ञानहीन हैं हमें यह याद रखना चाहिए कि

---

[1] चादितश्च वियुक्तश्च शरीरेषु लक्ष्यते,
चन्द्र बिम्बवदाकाशे तरलैरभ्र संचय
अनेक-देह भेदेन भिन्ना वृत्तिरिहात्मन ।

—शिव महापुराण, ७ १ ५ ५६ ।

सांख्य के अनुसार पुरुष शुद्ध चेतन्य से भिन्न कुछ भी नहीं है, परन्तु यहां उन्हें विभिन्न अवस्थाओं या परिसरों में इसकी सत्ता के प्रतिबिम्बित होने के द्वारा अनेकों में व्यक्त होते हुए एक चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब माना गया है। प्रकृति से लेकर परमाणु तक, विभिन्न रूपों में प्रवेश करते हुए केवल जड पदार्थ ही प्राप्त होते हैं। यह सम्भव नहीं था यदि ये एक चेतन रचयिता द्वारा रचे और ढाले न जाते। खंडों से युक्त यह विश्व एक कार्य है और इसलिए इसके निर्माण के लिए एक कर्त्ता होना ही चाहिए। परम ईश रचयिता के रूप में यह कर्तृत्व शिव से सम्बद्ध है, आत्मा या बन्धन से नहीं। आत्मा स्वयं ईश्वर की इच्छा से गतिशील होती है। जब कोई व्यक्ति अपने को अपने कर्म का कर्त्ता समझता है, तो यह कारण की प्रकृति का अन्यथा ज्ञान ही है।

जब मनुष्य स्वयं को वास्तविक प्रेरक कर्त्ता से भिन्न समझने लगता है केवल तब ही मनुष्य अंत में अमरत्व प्राप्त कर सकता है। क्षर व अक्षर अर्थात् पाश व पशु सब परस्पर संयोजित हैं, तथा उन दोनों या उनके व्यक्त एवं अव्यक्त रूप में पालन महेश्वर द्वारा होता है। तथाकथित अनन्तता भी महेश्वर द्वारा व्याप्त है। केवल ईश्वर ही सबका प्रभु तथा शरणदाता है। यद्यपि वह एक है तथापि वह अपनी अनेकरूप शक्तियों द्वारा विश्व का आलम्बन हो सकता है।

वायवीय संहिता के प्रथम भाग का यह छठा अध्याय मुख्यतः श्वेताश्वतर उपनिषद् से प्राप्त विषयों की व्याख्या करता है तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के दर्शन का विस्तार माना जा सकता है। ईश्वर स्वयं सब पदार्थों में व्याप्त है तथा उसमें किंचित मात्र भी अशुद्धि नहीं है। इसी उद्देश्य के लिए उपनिषद् के अनेक वाक्य भी इसमें समाविष्ट किए गए हैं तथा ब्रह्मन् से शिव का तादात्म्य किया गया है। इस ग्रन्थ के पिछले भागों में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि ब्रह्मसूत्रों, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याकारों के सम्प्रदायों की अनेक टीकाओं में भी संबद्ध ग्रंथकारों के विशेष विचारों के अनुसार उपनिषदों की व्याख्या की गई है। शिव महापुराण में भी हम शैवमत के दर्शन की घोषणा के लिए उपनिषदों के अनुसरण का प्रयत्न पाते हैं। इसे बारम्बार प्रमुखता दी गई है कि केवल एक ही ईश्वर है तथा उससे अन्य कोई नहीं है इसके उपरांत भी जगदाभास का रूपांतर स्पष्ट करने के लिए माया अथवा प्रकृति का विचार उपस्थित किया गया है। हमने पहले देखा है कि माया ब्रह्मन् की शक्ति मानी जाती है। परंतु ईश्वर के साथ इस शक्ति के संबंध के विषय में अधिक तर्क नहीं दिए गए हैं। उपनिषदों के अनुसार यह भी कहा गया है कि ईश्वर में स्वाभाविक रूप से ज्ञान तथा बल निहित है। परंतु हम यह ज्ञात किए बिना दार्शनिक संतोष नहीं होता कि ज्ञान तथा बल का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा इस बल का प्रयोग किस प्रकार होता है, एवं इस महेश्वर के संबंध में ज्ञान का अर्थ क्या हो सकता है जिसके कोई इंद्रियाँ तथा कोई मनस् नहीं हैं।

७ १ ६ ६७ मे ईश्वर का वर्णन इस रूप में है कि वह जो काल उत्पन्न करता है समस्त गुणों का प्रभु है, तथा समस्त बंधनों से मुक्तिदाता है। काल के स्वरूप के विषय में एक प्रश्न उठता है। ऐसे प्रश्न के उत्तर मे वायु कहते हैं कि काल हमारे सम्मुख क्रमानुसार, क्षणों तथा अवधि के रूप में प्रकट होता है। काल का यथार्थ सार शिव की शक्ति है। अतः चाहे जो भी हो, किसी जीव द्वारा काल का उल्लंघन नहीं हो सकता। यह तो जैसे ईश्वर की आज्ञा देने की शक्ति है।[1] इस प्रकार काल शिव की वह शक्ति है जो उससे उत्पन्न होती है तथा सब पदार्थों मे व्याप्त है। इस कारण प्रत्येक वस्तु काल द्वारा शासित है। परन्तु शिव काल के बंधन मे नहीं है। वह समस्त काल का स्वामी है। ईश्वर का अप्रतिबंध अधिकार काल द्वारा व्यक्त होता है तथा इसी कारण कोई मनुष्य काल की सीमा के परे नहीं जा सकता। किसी भी परिमाण मे हम विवेक काल से परे नहीं ले जा सकता तथा जो भी कर्म काल में किए जाते हैं उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यह काल ही है जो मनुष्यों के कर्मों के अनुरूप उनका भाग्य तथा प्रारब्ध निश्चित करता है इसके उपरांत भी कोई नहीं कह सकता कि काल के सार का स्वरूप क्या है।

हमने अभी तक यह देखा है कि ईश्वर के अटल सकल्प तथा आज्ञा द्वारा पुरुष के निरीक्षण मे प्रकृति हमारे सम्मुख संसार के रूप में विकसित होती है। प्रकृति अथवा अव्यक्त के तत्वों के क्रम की शास्त्रीय सांख्य से अधिक समानता है। सांख्य की सुप्रसिद्ध शास्त्रीय विचारधारा में सृष्टि अव्यक्तावस्था से विकास अथवा उत्पत्ति की प्रक्रिया है तथा प्रतिगमन की प्रक्रिया द्वारा प्रलय होता है जिसमे वही प्रक्रिया तबतक विपरीत दिशा में होती रहती है तबतक कि संपूर्ण जगदाभास अव्यक्त अथवा प्रकृति में वापस नहीं चला जाता।

पुनः महेश्वर शिव के स्वरूप तथा कार्य के विषय में यह कहा गया है कि दूसरों की सहायता की प्रवृत्ति के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे शिव का आवश्यक स्वरूप माना जा सके। दूसरों को उनके कर्मों द्वारा उनकी सर्वोत्तम श्रेय की प्राप्ति में सहायता देना ही उसका कार्य है। पशु तथा पाश से युक्त संसार की सेवा के अतिरिक्त उसका कोई अन्य विशेष लक्षण नहीं है। ईश्वर के अनुग्रह के इस विस्तार को प्रायः उसके आज्ञापनकारी संकल्प के रूप में वर्णित किया है। ईश्वर के संकल्प की पूर्ति के लिए ही मनुष्य को किसी ऐसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा जिसके शुभ के लिए ईश्वर का संकल्प अग्रसर होता है। इस कारण ईश्वर को अपने संकल्प के संपादन के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं कहा जा सकता। उसके संकल्प में तथा उसके द्वारा ही वस्तुएँ कर्मानुसार क्रमबद्ध प्रक्रिया में अस्तित्वगत तथा अग्रसर होती हैं। ईश्वर की

---

[1] नियोगरूपमीशस्य बलं विश्वं नियामकम्। —शिव महापुराण, ७ १ ७ ७।

स्वतन्त्रता के अर्थ हैं कि वह किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है। निर्भरता का अर्थ वह अवस्था है जिसमें एक वस्तु दूसरे पर निर्भर है।[1]

संपूर्ण संसार अज्ञान पर निर्भर माना जाता है तथा संसार के आभास में कोई वास्तविकता नहीं है। धर्म ग्रन्थों में वर्णित शिव की सब विशेषताएँ केवल सोपाधिक धारणाएँ हैं, वास्तव में ऐसा कोई आकार नहीं है जिससे शिव को विशेषित किया जा सके।[2]

संसार के विकास के विषय में जो सब अब तक कहा गया है वह तर्कयुक्त अनुमान पर ही आधारित है जबकि ईश्वर की अनुभवातीत सत्ता तर्क से परे है। हमारी आत्मा के स्वरूप के कुछ समान ही ईश्वर की कल्पना करने के कारण हम उसकी महा-प्रभुत्व से विभूषित करते हैं। जिस प्रकार अग्नि लकड़ी से भिन्न होते हुए भी उसके बिना या बाहर नहीं देखी जा सकती उसी प्रकार हम शिव को उन मनुष्यों में तथा उनके माध्यम से सर्वशक्तिमान के रूप में देखते हैं जिसमें वह अभिव्यक्त होता है। विचार की इसी प्रक्रिया के विस्तार से शिव की प्रतिमा को शिव समझा जाता है तथा उसकी पूजा की जाती है।

शिव सर्वदा समस्त जीवों की सहायता करता है तथा किसी को हानि नहीं पहुँचाता है। यदि ऐसा प्रकट हो कि उसने किसी को दंडित किया है तब वह केवल दूसरों के शुभ के लिए ही होता है। अनेक दृष्टान्तों द्वारा विदित होता है कि ईश्वर द्वारा प्रदान किया हुआ दण्ड संबंधित जीवों की अशुद्धियों को शुद्ध करने के लिए होता है। समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का आधार ईश्वर की आज्ञा में मिल सकता है जिसमें मनुष्य का व्यवहार निर्धारित किया गया है। शुभ का अर्थ उसके संकल्प के अनुरूप आज्ञा पालन है। जो सदैव दूसरों का शुभ करने में संलग्न रहता है वह आदेशों का पालन कर रहा है, तथा उसे अशुद्ध नहीं किया जा सकता। ईश्वर केवल उन्हीं को दंडित करता है जो किसी अन्य विधि द्वारा उचित मार्ग पर नहीं लाए जा सकते। यह अवश्य है कि उसका दंड कभी भी क्रोध अथवा द्वेष की भावना के कारण नहीं होता। वह उस पिता के समान जो अपने पुत्र को उचित मार्ग की शिक्षा देने के लिए ताड़ना देता है। वह जो दूसरों पर अत्याचार करता है ताड़ना का भागी है। ईश्वर दूसरों को पीड़ा देने के लिए व्यथित नहीं करता, वरन केवल उनको ताड़ना देने के लिए तथा उन्हें उचित मार्ग के उपयुक्त बनाने के लिए ऐसा करता है। वह एक चिकित्सक के समान

---

[1] अतः स्वातन्त्र्यं स्यादनधीनत्वलक्षणम्।　　　　—तत्रैव ७।१।३१।७।

[2] अप्रमाणाधिष्ठितं शम्भोर्न किञ्चिद्धि विद्यते
यतोपलभ्यतेऽस्याभिसंसक्तेनापि निष्फलम्।

—शिव-महापुराण ७।१।३१।६।

है जो रोग को आरोग्य करने के लिए कड़वी औषधि देता है। यदि ईश्वर जीवों के अवगुणों व पापों से उदासीन रहे, तो यह उसके लिए अनुचित होगा, क्योंकि वह मनुष्यों को अनुचित मार्ग के अनुसरण के प्रोत्साहन का एक मार्ग होगा, तथा इससे उन अन्य मनुष्यों की उचित सुरक्षा भी सम्भव नहीं हो पाएगी, जिनकी सुरक्षा होनी चाहिए। अतः उन्हें ईश्वर सुरक्षित करता है। भगवान शिव अग्नि के समान है, उनसे सम्पर्क होने से समस्त अशुद्धियाँ समाप्त हो जाती है। जब एक लोहे का टुकड़ा अग्नि में रखा जाता है तब लोहा नहीं वरन् अग्नि जलती है इसी प्रकार महेश्वर शिव समस्त जड़ पदार्थों में व्याप्त है तथा केवल वही समस्त आभासों द्वारा प्रज्वलित होते हैं।

शिव का अनुग्रह मित्रता उदारता आदि साधारण गुणों के समान नहीं है। इसको शुभ तथा अशुभ गुणों के रूप में नहीं देखा जा सकता। इसका अर्थ ईश्वर के केवल उस संकल्प से है जो समस्त जीवों को लाभ के लिए प्रवृत्त है। उसके आदेशों का पालन, परम शुभ के पर्याय के रूप में माना जा सकता है परम कल्याण उसके आदेशों का पालन ही है। अतः ईश्वर केवल व्यक्ति का नहीं वरन सबका शुभ करता हुआ माना जा सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत शुभ समस्त मानवता के शुभ से संबंधित है तथा यह केवल तब ही क्रियान्वित हो सकता है जब समस्त जीव ईश्वर के आदेशों का अनुसरण करें। संसार के पदार्थ अपने विशेष स्वभावानुसार अपनी स्वयं की रीति के अनुसार व्यवहार करेंगे। यह ईश्वर का कार्य है कि जहाँ तक उसके स्वभाव से सम्भव हो वह उनका एक दूसरे के अनुरूप विकास करे। वस्तुओं का प्राकृतिक स्वभाव इस विकास के क्षेत्र के लिए एक आवश्यक सीमा है। स्वर्ण को कोयले से नहीं वरन केवल अग्नि से जलाया जा सकता है। इसी प्रकार ईश्वर केवल उन्हीं को मुक्त कर सकता है जिनकी अशुद्धियाँ दूर हो चुकी हैं, उनको नहीं जो अभी भी अशुद्ध अवस्था में है। वे वस्तुएँ जो स्वाभाविक रूप से ही किसी दूसरी वस्तु में विकसित होती है केवल ईश्वर के संकल्प द्वारा ऐसा कर सकती है। अतः ईश्वर का संकल्प केवल तभी क्रियान्वित हो सकता है जब वह वस्तुओं की स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा प्रभावी सीमाओं के सहयोग में कार्य करे। जीव स्वाभाविक रूप से अशुद्धियों से परिपूर्ण है तथा यही कारण है कि ये जन्म व पुनर्जन्म के चक्र में होकर निकलते हैं। वास्तव में आत्मा का कर्म तथा भ्रम से संयोजन ही वह संसार कहलाता है जो जन्म तथा पुनर्जन्म का पथ है। क्योंकि शिव किसी ऐसे कर्म से संबंधित नहीं है तथा नितांत शुद्ध है अतः वह जीव तथा निर्जीव संसार के विकास की प्रेरणा का वास्तविक कर्ता हो सकता है। आत्मा की अशुद्धि आत्मा के लिए आकस्मिक नहीं वरन स्वाभाविक है।

ईश्वर-कृष्ण की कारिका तथा सांख्य सूत्र में प्रदर्शित शास्त्रीय सांख्य सिद्धांत में उस सृष्टिकारणता को प्रकृति में स्थित किया गया है, जो स्वयं अपनी आवश्यकता से

प्रकृति का उस सूक्ष्म तथा भौतिक संसार के दो प्रकार से विकास करने के लिए प्रेरित करती है। पुरुष संसार में दो प्रकार के कार्य करते हैं अर्थात् सुख व दुःख के भोग तथा ज्ञान द्वारा कैवल्य प्राप्ति। इस अर्थ में प्रकृति पुरुषों के उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिमान मानी जाती है। सांख्य के पातंजल सम्प्रदाय में, जिसे योग सूत्र भी कहा जाता है व्यास तथा वाचस्पति की व्याख्या के अनुसार प्रकृति का निर्माण करने वाले गुणों में एक स्वाभाविक बाधा आ जाती है, जो उनके विकास के क्षेत्र को सीमित कर देती है। यह माना जाता है कि ईश्वर के स्थाई संकल्प के अनुसार मनुष्यों के कर्मानुसार वस्तुएँ अमुक अमुक विशेष दिशाओं में विकसित होंगी। प्रकृति की अथवा गुणों की शक्ति स्वाभाविक रूप से उसी दिशा में अग्रसर होती हैं जहाँ से बाधाएँ हटा दी गई हों। ईश्वर स्वयं प्रकृति को किसी विशेष दिशा की ओर नहीं बढ़ाता। उसका कार्य विशेष दिशाओं में विकास के मार्ग से प्रतिबन्धकों को हटाने का है। यदि ऐसी बाधाएँ न होतीं अथवा यदि समस्त बाधाएँ पहले से ही हटी हुई होतीं, तो प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु हो सकती थी। उस स्थिति में विकास का कोई निश्चित क्रम ही नहीं बन पाता तथा विभिन्न उपाधियों, दिक् एवं काल की कोई सीमा नहीं होती। जिस प्रणाली की हम व्याख्या कर रहे हैं उसमें यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि व्यक्तियों में ये स्वाभाविक बाधाएँ अशुद्धियों के अस्तित्व के कारण ही होती हैं तथा यह माना गया है कि ईश्वर की सर्वव्यापी प्रकृति द्वारा आत्माओं को मोक्ष इन नैसर्गिक बाधाओं (प्रतिबंधकों) को हटाने के द्वारा ही प्राप्त करवाया जाता है। इस उद्देश्य के लिए जीव स्वयं भी कठोर परिश्रम करते हैं तथा ईश्वर के सामीप्य से शांति की प्रक्रिया क्रियान्वित होती है। यह ईश्वर का अनुग्रह कहलाता है, शब्द के साधारण अर्थ में नहीं वरन् एक ऐसी विश्वजनीन प्रक्रिया के अर्थ में जो समस्त पदार्थों तथा मनुष्यों को उनकी अपनी योग्यताओं के अनुसार उनके विकास में सहायता देती है। ईश्वर का आदेश एक कृत्रिम ईश्वर के आदेशों के समान नहीं है परन्तु इसका अर्थ केवल सबके शुभ के लिए विश्वजनीन प्रक्रिया को अग्रसर करते रहना है। इस प्रक्रिया को करते समय कुछ मनुष्यों को अपने स्वयं के शुभ के लिए दुःख सहन करना होगा तथा कुछ मनुष्य अपनी योग्यतानुसार पारितोषिक भी प्राप्त कर सकते हैं। ईश्वर स्वयं संसार के आभासों से परे है, वह वास्तव में अपने संकल्प से किसी पदार्थ को प्रभावित करने का प्रयत्न नहीं करता, परंतु यह तथ्य है कि वह समस्त पदार्थों में व्याप्त है, उनकी अशुद्धियों को हटा देता है, ताकि संपूर्ण विश्व का विकास उसकी इच्छा के अनुकूल हो सके।

यद्यपि आत्मा एक ही है तथापि कुछ आत्माएँ बंधन में है तथा कुछ मुक्त अवस्था में है। वे आत्माएँ जो बंधन में हैं उन्नति की विभिन्न स्थितियों में भी हो सकती हैं तथा तदनुसार उन्हें विभिन्न प्रकार के ज्ञान तथा बल प्राप्त हो सकते हैं। आत्मा से संयुक्त अशुद्धियों को आम तथा पक्व माना जा सकता है तथा उनके द्वारा जो भी कर्म

किए जाते हैं उनका फल भोगने के लिए वे इन दो रूपों के अनुसार जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में फंसती है। यद्यपि आत्माएँ मल से संयुक्त हैं तथापि वे शिव में तथा शिव उनमें व्याप्त है। जैसे-जैसे मल हटते जाते हैं वैसे-वैसे शिव का सामीप्य अधिक व्यक्त होता जाता है तथा मनुष्य अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है और अन्तत: वह शिव के समान हो जाता है। आत्माओं की भिन्नता का कारण केवल मलरूपी उपाधि का अनुपात है। मल के स्वरूप तथा उपाधि के कारण एक आत्मा दूसरी से भिन्न प्रतीत होती है। संसार में समस्त दुःखों का मूल कारण अशुद्धियाँ हैं तथा एक दैवी चिकित्सक की भाँति शिव का यह कार्य माना गया है कि वह हमें ज्ञान द्वारा अशुद्धियों से दूर ले जाए। केवल ज्ञान ही ऐसा साधन है जिससे समस्त पाप दूर हो सकते हैं। यह आपत्ति की जा सकती है कि, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान होने के नाते क्या नहीं मनुष्यों को बिना दुःख सहन किए मोक्ष प्राप्त करा सकता है। इस प्रश्न का यह उत्तर प्रस्तावित किया गया है कि कष्ट तथा दुःख, संसार के स्वरूप का निर्माण करते हैं जो जन्म और पुनर्जन्म के रूप में प्रकट है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, उन पदार्थों की स्वाभाविक उपाधियों द्वारा सीमित है जिन पर ईश्वर का संकल्प कार्य करता है। मलों का स्वरूप दुःख तथा कष्टरूपी होने के कारण यह सम्भव नहीं कि उन्हें कष्ट रहित बनाया जा सके, तथा इस कारण उस अवधि में जिसमें मनुष्य संसार में मलों की शुद्धि की प्रक्रिया में से निकलता है उसे आवश्यक रूप से कष्ट सहना पड़ेगा। जीव स्वाभाविक रूप से अशुद्ध तथा दुःख-पूर्ण होते हैं तथा ईश्वर के आदेश की अनुपालना को क्रियान्वित कर, जो औषधि का कार्य करता है, ये जीव मुक्त होते हैं। उन समस्त अशुद्धियों का कारण जो संसार को उत्पन्न करती हैं माया तथा भौतिक संसार हैं एवं शिव के सामीप्य के अतिरिक्त ये किसी और विधि से गतिमान नहीं हो सकते। जिस प्रकार चुम्बक की निकटता के कारण, बिना उसके कुछ किए, लोह के टुकड़े गतिमान हो जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर के अव्यवहित सामीप्य से अपने लाभ हेतु संसार प्रक्रिया गतिमान होती है। यद्यपि ईश्वर अनुभवातीत है तथा उसे संसार का ज्ञान नहीं होता तथापि उसके सामीप्य के तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वह संसार का निरीक्षक भूत कारण है। संसार की समस्त गति शिव के कारण है। जिस शक्ति से वह संसार का नियन्त्रण करता है वह उसका आज्ञा देने वाला संकल्प ही है जो उसके सामीप्य के समान ही है। यह विचार-सरणि वाचस्पति द्वारा उनके योगसूत्र भाष्य में उपस्थित किए हुए तर्क का हमें स्मरण दिलाती है जिसमें यह कहा गया है कि यद्यपि पुरुष कुछ नहीं करता तथापि इसका सामीप्य प्रकृति में एक विशेष प्रकार की योग्यता उत्पन्न करता है जिसके कारण प्रकृति पुरुष के उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिमान होती है। इसी संबंध में चुम्बक तथा लौहचूर्ण का उदाहरण भी दिया गया है। क्योंकि समस्त संसार केवल शिव की शक्ति की अभिव्यक्ति है अतः हम यह कल्पना कर सकते हैं कि जब संसार में कुछ नहीं था, तब वह अपना

महिमामय आदेश और सकल्प लिए हुए अकेला ही अस्तित्व म था तथा उस सकल्प के क्रियान्वय मे वह सासारिक अशुद्धियो द्वारा दूषित नही होता था।

इस सबध म वायु का यह कथन उद्धत है कि ज्ञान परोक्ष तथा अपरोक्ष दो प्रकार का होता है। जो तर्क अथवा निरीक्षण द्वारा ज्ञात किया जाता है वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान केवल उच्च स्तर की अभ्यास साधना द्वारा ही उदित हो सकता है, तथा ऐसे अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष नही मिल सकता।

वायवीय-सहिता ७ २ के प्रस्तुत खड मे हम पिछले खड म व्यक्त दार्शनिक विचार का रूपान्तर देखते है, तथा यह विशेष ध्यान देने योग्य है। पिछले खड म यह कहा गया था कि जीवो की अशुद्धिया उनके लिए स्वाभाविक हैं तथा ईश्वर को अपने सकल्प से जीवो की स्वाभाविक सीमाओ के अनुरूप उनका पुनर्निर्माण, अथवा पुन रूपान्तर या जन्म व पुनर्जन्म के चक्र द्वारा अशुद्धियो की शुद्धि करनी पडती है जिसमे यद्यपि ईश्वर का सकल्प सब पर समान रूप से कार्य करता है तथापि उसका परिणाम सब म समान नही होता। मनुष्यो के दुख विभिन्न आत्माओ की स्वाभाविक अशुद्धियो द्वारा जनित बाधाओ तथा प्रतिरोधो के कारण हैं। इसलिए ईश्वर के लिए यह सम्भव नही है कि वह सब आत्माओ को बिना जन्म पुनर्जन्म का दुख सहन करवाए मुक्त कर दे।

यह विचार, कि आत्माएँ स्वाभाविक रूप से अशुद्ध होती हैं, जैनो तथा पचरात्र सम्प्रदाय के अनुयायियो म भी मिलता है।[1] शाकर वेदात के अनुसार जीव ब्रह्म के समान ही समझे जाते हैं परतु फिर भी यह माना जाता है कि जीव उस अनादि अविद्या से युक्त है जो बाद म आत्मा के यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार द्वारा नष्ट की जा सकती है। अत एक प्रकार से जीव अनादि काल से अशुद्धि के आवरण म रहते हैं। परतु वायवीय सहिता के द्वितीय भाग म (जिसकी हम व्याख्या कर रहे है) यह कहा गया है कि ईश्वर स्वय समस्त जीवो को माया आदि अशुद्धियो द्वारा बाधता है तथा केवल वह अपनी इच्छानुसार सयमित जीवो की भक्ति के अनुरूप उन्हे मुक्त कर सकता है।[2] साख्य के समस्त चौबीस तत्व माया की क्रिया[3] से जनित माने जाते हैं तथा जो विषय

---

[1] जैन मत का प्रासगिक अश देखिए भाग १ पृ० १६६ म तथा पचरात्र का मुख्यत अहिर्बुध्न्य सहिता का दर्शन भाग ३ म पृ० २१ तथा ४।

[2] मलमायादिभि पाशै स बध्नाति पशून पति
स एव मोचकस्तेषा भक्त्या सम्यगुपासित।

—शिव महापुराण, ७-२ २ १२।

[3] माया दो प्रकार की है प्रकृति तथा शुद्ध माया। शुद्ध माया म ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र देवता उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का स्वरूप वही है जो साख्य म वर्णित है जिसम

कहलाते हैं वे ऐसे पाश अथवा बंधन हैं जिनसे मनुष्य बंधे हुए हैं। घास की पत्ती से लेकर ब्रह्मन तक सब जीवों को बांधकर महाप्रभु परमेश्वर उनसे उनके कर्तव्य करवाता है। प्रभु की आज्ञा से ही प्रकृति पुरुषों की सेवा के लिए बुद्धि उत्पन्न करती है तथा बुद्धि में अहंकार इंद्रियाँ, तन्मात्र तथा स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी की आज्ञानुसार विभिन्न जीव विभिन्न उपयुक्त शरीरों से संयुक्त होते हैं। ईश्वर के संकल्प से संसार चक्र की निमित्त प्रक्रिया परिलक्षित होती है। ईश्वर के इस संकल्प अथवा आज्ञा से परे होना किसी के लिए भी संभव नहीं है। सब प्रक्रियाओं का नियंत्रण करने वाले ईश्वर के इस आदेश के अनुसार ही पापियों को दंड मिलता है एवं उत्तम कर्मों का संपादन करने वाले मान तथा धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। केन उपनिषद के एक दृष्टांत को यह दिखाने के लिए उद्धृत किया है कि समस्त देवों की सामर्थ्य तथा स्वाभाविक शक्तियां ईश्वर से उत्पन्न हुई हैं। अन्ततः संपूर्ण संसार को भगवान शिव की अभिव्यक्तियाँ माना जा सकता है।

विभिन्न रूपों कार्यों तथा नियन्त्रणकारित्व के स्वरूपों के अनुसार भगवान शिव के विभिन्न नाम हैं। इस प्रकार जब वह पुरुष तथा प्रकृति को भोगता है तब ईशान कहलाता है। यह ईशान आठ प्रकार के रूपों में प्रकट होता है जिसे शास्त्रीय भाषा में अष्टमूर्ति कहा गया है। ये इस प्रकार हैं—क्षिति जल, पावक, वायु, आकाश, आत्मा सूर्य तथा चंद्रमा। अन्य ये विभिन्न कार्यों का संपादन करते हैं। शार्वी, भावी, रौद्री आदि नाम, इन विभिन्न मूर्तियों के पर्यायवाची शब्द भी प्रचलित हैं जैसे—रौद्री वह रूप है जिसमें समस्त संसार स्पंदित होता है। आत्मा स्वयं शिव का एक रूप है जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

शिव की सर्वोत्तम पूजा इस प्रकार की जा सकती है कि समस्त मनुष्यों की भय से सुरक्षा की जाए प्रत्येक का शुभ किया जाए तथा प्रत्येक की सेवा की जाए आदि। समस्त मनुष्यों को संतुष्ट करने से ईश्वर संतुष्ट हो जाता है। किसी भी जीवित प्राणी को हानि पहुँचाने का अर्थ स्वयं ईश्वर के रूपों में से एक को हानि पहुँचाना होता है।

हमने उपर्युक्त परिच्छेदों में स्पष्ट किया है कि समस्त संसार ईश्वर का एक भौतिक स्वरूप है। यह विश्वेश्वरवाद शंकर तथा उसके अनुयायियों द्वारा व्याख्यात वेदांत के एकतत्त्ववाद से भिन्न है। वेदांत में सच्चिदानंद के रूप में ब्रह्मन की ही सत्ता है,

---

सब जीव वापस जाते हैं तथा इसी कारण प्रकृति लिंग कहलाती है, जबकि शास्त्रीय सांख्य लिंगपद को 'महत्' के अर्थ में ही प्रयुक्त करता है तथा प्रकृति को अलिंग कहता है। वहाँ महत् लिंग कहलाता है क्योंकि उससे अपने किसी मूल कारण की ओर इंगित होता है तथा अनन्त कारण होने के कारण प्रकृति अपने पीछे कोई मूल कारण इंगित नहीं करती।

है, तथा प्रत्येक अन्य पदार्थ जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं, केवल ब्रह्म की सत्ता पर एक प्रत्याभास है। अतः वे सभी मिथ्या हैं। जब मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है तब यह मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। संसार आभासित तो होता है, परन्तु एक समय ऐसा आ सकता है जबकि वह एक मुक्तजन के समक्ष पूर्णतया लुप्त हो जाय। किन्तु यहाँ जीव तथा निर्जीव विभिन्न रूपों में स्थित भौतिक संसार को केवल ईश्वर के विभिन्न स्वरूप ही माना है, जो ईश्वर द्वारा नियन्त्रित हैं। इन स्वरूपों का उन आत्माओं के लाभ के लिए ईश्वर गतिमान करता है जो ईश्वर के रूप ही हैं।

इस सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि ईश्वर नर तथा मादा की शक्तियों के रूप में संसार में किस भाँति व्याप्त है। इस प्रश्न के उत्तर में उपमन्यु यह उत्तर देते हैं कि 'शक्ति' या महादेवी, महादेव की ही शक्ति है तथा समस्त संसार उन दोनों की अभिव्यक्ति है। कुछ पदार्थ चेतना के स्वरूप के हैं तथा कुछ पदार्थ अचेतन स्वरूप हैं। वे दोनों ही शुद्ध अथवा अशुद्ध हो सकते हैं। जब चेतना अचेतन तत्वों से संयुक्त होती है तब जन्म तथा पुनर्जन्म के चक्रों से होकर जाती है तथा अशुद्ध कहलाती है। जो इन सम्बन्धों से परे है शुद्ध है। शिव तथा उसकी शक्ति एक साथ रहते हैं एवं समस्त संसार उनके शासन में है। जिस प्रकार चन्द्रमा तथा चाँदनी में अन्तर करना संभव नहीं उसी प्रकार शिव तथा शक्ति में अन्तर करना असम्भव है। इस प्रकार शक्ति अथवा शक्तिमान का बल तथा शक्ति का अधिकारी परमेश्वर परस्पर निर्भर हैं। शिव के बिना शक्ति नहीं हो सकती तथा शक्ति के बिना शिव नहीं हो सकते। इसी शक्ति से प्रकृति, माया तथा तीन गुणों की प्रक्रिया द्वारा समस्त संसार की सृष्टि होती है। प्रत्येक स्थान पर शक्ति का कार्य कला शिव के संकल्प द्वारा नियन्त्रित है तथा अन्त में यह शिव में वापस चली जाती है। शिव में निहित इस मूल शक्ति से क्रियाशील शक्ति (क्रियाख्या शक्ति) उत्पन्न होती है। मूल साम्यावस्था में जब बाधा उत्पन्न होती है तो नाद उत्पन्न होता है उससे बिंदु से सदाशिव, सदाशिव से महेश्वर और उनसे शुद्ध विद्या उत्पन्न होती है, तथा यह वाणी की शक्ति कहलाती है। यह अपने आपको वर्णमाला की ध्वनियों में भी अभिव्यक्त करती है। माया की इस अभिव्यक्ति से काल नियति कला तथा विद्या उत्पन्न होती है। पुनः इस माया से अव्यक्त का निर्माण करने वाले तीन गुण उत्पन्न होते हैं। जैसाकि सांख्य में वर्णित है अव्यक्त से तत्वों का विकास होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शरीर में आन्तरिक नियन्ता प्रवेश करता है उसी प्रकार शिव अपनी शक्ति के रूप में समस्त संसार में प्रवेश करता है। इसी कारण सब जीव तथा निर्जीव केवल शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। परमेश्वर जो विद्या, क्रिया तथा संकल्प से संयुक्त होकर तथा इन सबके द्वारा समस्त संसार में व्याप्त है, तथा उसका नियन्त्रण करता है। संसार का क्रम तथा संसार प्रक्रिया भी उसके संकल्प द्वारा निश्चित होती है।

परमेश्वर जिसे कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, उसे अपनी इच्छा शक्ति द्वारा कार्य-रूप में निर्मित करते हैं अतः जिस प्रकार तीन अभिव्यक्त शक्तियाँ के रूप में तीन गुण उसमें उदित होते हैं, उसी प्रकार संसार भी जो शिव के साथ तादात्म्य है, उसकी शक्ति का ही एक रूप है क्योंकि यह उसकी शक्ति द्वारा अस्तित्वगत है।[1] शिव की यह शक्ति माया है।

शिव महापुराण, शैवागमों का उल्लेख, शिव द्वारा शिवा को दिए हुए उपदेशों के रूप में करता है। अतः यह प्रतीत होता है कि शैवागम शिवमहापुराण से बहुत पूर्व लिखे गए थे तथा शैवागमों का सार शिवमहापुराण में पाशुपत विचार स्पष्ट करने के लिए संकलित किया गया है। शैवागमों के उपरान्त शिव के भक्तों की सुविधा के लिए शिव के अनुग्रह द्वारा परम शुभ की प्राप्ति के निमित्त के रूप में दिए गए माने जाते हैं।[2]

जहाँ तक प्रत्यक्ष अथवा अनुभूत ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का सम्बन्ध है इस बारे में शिव का कहना है कि उनके प्रति शुद्ध हृदय की श्रद्धा ही उन तक पहुँच हो सकती है। तप भजन अथवा आसना, यहाँ तक कि शिक्षा तथा ज्ञान द्वारा भी नहीं। श्रद्धा वह आधार है जिस पर मनुष्य को दृढ़ रहना चाहिए तथा इस श्रद्धा की प्राप्ति वर्णाश्रम के स्वाभाविक धर्मों के अनुसरण द्वारा हो सकती है। इस प्रकार श्रद्धा का स्वच्छंद भाव नहीं, वरन प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिए निर्धारित धर्मों के दीर्घ परम्परागत अभ्यास के परिणाम के रूप में माना जा सकता है।

शैव धर्म में ज्ञान कर्म कठोर चर्या तथा योग सम्मिलित हैं। ज्ञान का अर्थ आत्मा के स्वरूप विषय तथा परमेश्वर के ज्ञान से है। कर्म का अर्थ गुरु के उपदेशानुसार शुद्धि है। चर्या का अर्थ शिव द्वारा निर्देशित वर्णानुरूप अधिकारों के अनुसार शिव की उचित पूजा है। योग का अर्थ समस्त मानसिक अवस्थाओं का निरोध है। ईश्वर का निरन्तर चिंतन इसमें शामिल नहीं। ज्ञान वैराग्य से उत्पन्न होता है तथा ज्ञान से योग उत्पन्न होता है। यम तथा नियम पापों को दूर करते हैं तथा जब

---

[1] एवं शक्तिसमायोगाच्छक्तिमानुच्यते शिवः
शक्ति शक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत। शिव महापुराण ७ २ ४ ३६।

[2] श्रीकण्ठेन शिवेनोक्तं शिवाय च शिवागमं,
शिवाश्रितानां कारुण्याच्छ्रेयसामेकसाधनम्। —तत्रैव ७ २ ७ ३८।

यह कहना कठिन है कि यह उल्लेख शैव विचार के महा कारुणिक सम्प्रदाय की ओर संकेत करता है अथवा नहीं क्योंकि शंकर भाष्य में शंकर ने शैवमत की आलोचना के उपरान्त विषय में दिया है।

—ब्रह्मसूत्र २ २।

मनुष्य को सांसारिक विषयों के प्रति निवृत्ति होती है तब वह योगमार्ग की ओर जाता है। इस सम्बन्ध में सार्वलौकिक उदारता अहिंसा, सत्यता, प्रत्याहार, परम श्रद्धा शिक्षा यज्ञ सपादन की क्रिया तथा ईश्वर के साथ स्वयं के तादात्म्य का चिंतन स्वाभाविक उपादान माने जाते हैं। इसी कारण जो मोक्ष प्राप्ति की कामना करते हैं उन्हें अपने को गुण व अवगुण, उचित व अनुचित से दूर रखना चाहिए। जिन्होंने वह अवस्था प्राप्त कर ली है जिसमें पाषाण तथा स्वर्ण का एकसा ही मूल्य है अथवा कोई मूल्य नहीं है, उन्हें ईश्वर की पूजा की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि वे मुक्त जीव हैं।

मानसिक शुद्धता शारीरिक शुद्धता से सौ गुनी उत्तम है क्योंकि मानसिक शुद्धता के बिना कोई भी शुद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर केवल मनुष्य के आंतरिक भावों को ही स्वीकार करता है, जो कुछ शुद्ध भावना के बिना किया जाता है वह नकली है, अनुसरण मात्र है। ईश्वर के प्रति भक्ति भावना निःस्वार्थ होनी चाहिए किसी लाभ के लिए नहीं। किन्तु यदि मनुष्य किसी लाभ की प्राप्ति के लिए भी ईश्वर से अनुरक्त हो तब भी उसकी भक्ति भावना और श्रद्धा की गहनता के अनुसार ईश्वर उससे प्रसन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट होता है कि भक्ति भावना की शारीरिक अभिव्यक्तियां के रूप में भावनाओं का बाह्य प्रदर्शन, शिव की भक्ति कथा के श्रवण में रुचि, गला भर आना, अश्रुप्रवाह तथा निरंतर चिंतन एवं ईश्वर पर निर्भरता सभी यथार्थ भक्ता के महत्वपूर्ण लक्षण समझे जाते हैं चाहे समाज में उसका कोई भी वर्ण अथवा स्तर हो।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्माओं के स्वरूप का ज्ञान, उनके बंधनकारी तथ्य तथा परमेश्वर के ज्ञान की प्राप्ति यही मोक्ष का वास्तविक और व्यावहारिक मार्ग है। इस ज्ञान के साथ ही गुरु के उपदेशानुसार आचरण करना चाहिए। इसे क्रिया नाम दिया गया है। गुरु का शैवपंथ के अनुसार शिव का अवतार माना जाता है। धर्म प्रथा में निर्धारित विभिन्न वर्णाश्रमों के लिए निर्दिष्ट धर्मों के आचरण द्वारा जिसे चर्या नाम दिया गया है और जिसमें ईश्वर की पूजा भी सम्मिलित है इस क्रिया की पूर्ति करनी पड़ती है। जबकि अन्य समस्त मानसिक अवस्थाओं का अवरोध हो चुका हो तब शिव को ध्यान का केन्द्र मानकर भक्तिपूर्ण चिंतन की प्रक्रिया भी इस क्रिया के साथ होनी चाहिए। इन विषयों की व्याख्या करने वाले धर्म ग्रंथ दो प्रकार के हैं एक वेदमूलक तथा दूसरे स्वतन्त्र मूल के। स्वतन्त्र मूल के धर्म-ग्रंथ (आगमों के समान) अट्ठाईस प्रकार के हैं जो कामिक इत्यादि कहलाते हैं जिन्हें सिद्धान्त के नाम से भी पुकारा जाता है।[1]

---

[1] एच० डब्ल्यू० शोमरस अपनी शैव सिद्धांत पुस्तक पृ० ३ में कहते हैं कि शिव ज्ञान-बोध की एक टीका के अनुसार जिसकी व्याख्या हम आगे करेंगे, शैवमत के ६ तथा १६

७ १ ३२ म कुछ ऐसी गोपनीय तथा गूढ शारीरिक प्रक्रियाएँ वर्णित हैं जिनके द्वारा मनुष्य शिव अर्थात् महादव म निहित अमरत्व स सम्यक स्थापित कर सकता है।[1]

७ २ ३७ मे योग को पाँच प्रकार का बताया है—मत्रयोग स्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग तथा महायोग। मत्रयोग वह है जिसम कुछ मत्रो की निरतर आवत्ति द्वारा मानसिक स्थिति स्थिर हो जाती है। जब इसका प्राणायाम से सयुक्त कर लते है तब इसे स्पर्शयोग कहते हैं। जब यह अवस्था आगे विकसित होती है तथा जब मत्रा के उच्चारण की आवश्यकता नही रहती है तब इसे भावयोग कहते हैं। योग की इस प्रक्रिया को अधिक उन्नत करने पर अपने विभिन्न स्वरूपा मे जगदाभास सवथा लुप्त हो जाता है तथा इसे अभावयोग कहते हैं। इस स्थिति म योगी का ससार से कोई सबध नही रहता। वह स्वय को शिव का स्वरूप तथा तादात्म समझने लगता है तथा उसका समस्त उपाधियो स सम्बध विच्छेद हो जाता है। इसको महायोग की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था म मनुष्य की सासारिक विषयो से विरक्ति हो जाती है चाहे व इद्रियो द्वारा अनुभव किए गए विषय हो, अथवा धार्मिक प्रथा मे निर्धारित रीतिरिवाज हो। निसदेह योग के इस अभ्यास म योगसूत्रो म निर्धारित यम तथा नियम के अभ्यास विभिन्न आसनो के अभ्यास, प्रणायाम, प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि सम्मिलित हैं। विभिन्न प्रकार के योगो तथा उनके उपादानो की प्रक्रिया शव धम ग्रथ एव कामिक तथा अन्य आगमो म भी उल्लिखित है। जहाँ तक शिवमहापुराण का सम्बध है हम इसमे वर्णित विभिन्न उपादानो जसे यम नियम आसन आदि के अभ्यासो म तथा पतजलि के योग शास्त्र म वर्णित यमनियमादि प्रकारो म अधिक अतर नही पाते। केवल एक

सम्प्रदाय हैं। ऑमरस द्वारा उल्लेखित यह सम्प्रदाय इस प्रकार है—

(१) पाशुपत महाव्रतवाद (?) कापालिक, वाम भैरव और एकयवाद।

(२) ऊर्ध्व शव अनादिशव आदिशव महाशव भेदशव अभेदशव अन्तरशव, गुणशव निगुणशव, अध्वनशैव, योगशव, ज्ञानशव, अनुशव क्रियाशव नालुपादशव (?) और शुद्धशव।

हम इसका ज्ञान नही है कि शवमत के इन विभिन्न सम्प्रदायो के क्या विषय थे। शैवमत के इन सम्प्रदायो म से किसी के विचारो का उल्लेख करने वाला कोई भी विशेष मूलग्रथ हम नही मिलता। अपनी व्याख्या म हमने विभिन्न प्रकार के शवमतो का उल्लेख किया है तथा उनम से अनेक पाशुपत शवमत के नाम से जाने जाते हैं परन्तु प्रकाशित अथवा अप्रकाशित निश्चित सामग्री के अभाव म हमारे लिए यह निश्चय करना असम्भव है कि यह पाशुपत प्रणाली भी विभिन्न नामो के विभिन्न सम्प्रदायो म विभाजित थी।

[1] देखिए पृष्ठ ४५ ५६ (७ १ ३२)।

महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि, पतजलि के योग मे मन को पहले स्थूल पदार्थों पर, तत्पश्चात तनमात्र, तदुपरात अहकार तथा उसके बाद बुद्धि पर केंद्रित करना पडता है जबकि शैवयोग मे योगी को शिव के दैवीस्वरूप का चिंतन करना पडता है। योगशास्त्र मे भी यह निर्धारित है कि मनुष्य ईश्वर का चिंतन कर सकता है तथा उसके प्रति भक्ति द्वारा किसी भी योगी का मोक्ष प्राप्त हो सकता है। योगशास्त्र म योगी के लिए दो प्रकार के माग हैं-प्रथम ईश्वर का चिंतन तथा द्वितीय, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों की ओर निरतर अग्रसर होता हुआ चितन जिसके फलस्वरूप बुद्धि समस्त भौतिक प्रवत्तियो तथा प्रभावो से सवथा रहित हो जाती है तथा अत म स्वय प्रकृति मे लुप्त हो जाती है और वहाँ से पुरावतन नही होता। अत पतजलि के योग म साख्यसिद्धात व साख्यतत्व दशन का समन्वय बौद्ध मतानुयायी पूव प्रचलित योग प्रणाली के साथ करने का प्रयास परिलक्षित होता है तथा 'ईश्वर' सिद्धात वाले आस्तिक पथ को भी समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है जिसका योग प्रणाली के साथ, येन-केन प्रकारेण मोटे रूप मे सामजस्य निठलाया गया है।

शिवमहापुराण आगे प्राणायाम का वणन करता है, जो इस प्रकार है--पूरक जिसमे नासिका से वायु लेकर समस्त शरीर मे भरते है। रेचक, जिसम वायु शरीर स निकालते हैं तथा कुम्भक, जिस प्रक्रिया म शरीर में वायु भरने के पश्चात् उसे स्थिर रखते हैं। प्राणायाम की प्रक्रिया से मनुष्य शरीर का इच्छानुसार त्याग कर सकता है।

प्राणायाम का विकास शन शनै श्वास प्रश्वास के समय को बढाने से होता है। इस प्रकार प्राणायाम के चार स्तर हैं जिन्हें कन्यक, मध्यम, उत्तम तथा पर कहते है। सवेगात्मक भाव आनन्द की अभिव्यक्ति के कारण कम्प, स्वेद प्रकट होते ह। इसी कारण कभी उन्मुक्त अश्रुप्रवाह तथा कभी-कभी असगत वाणी या स्वरभग तथा मूर्च्छा तक आ जाती है। यह ध्यान देने की बात है कि एसी अवस्थाएँ पतजलि के योग म न तो वर्णित हैं और न आवश्यक हैं। इसी सदभ मे प्राणायाम का विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा पाच प्रकार की वायु शक्तियो के विषय में बतलाया गया है जिन्हे प्राण अपान, समान उदान तथा व्यान कहा गया है। प्राणवायु मे पाँच प्रकार की वायु सम्मिलित हैं जिन्हें नाग कूम कृकर देवदत्त तथा धनजय कहा गया है जो प्राणवायु के विभिन्न कार्यों का सपादन करती हैं। अपानवायु वह शक्ति है जिसके द्वारा जो कुछ भी खाद्य तथा पेय के रूप मे लिया जाता है उस सबका परिपाक हो जाता है तथा वह नीचे के भागो मे चला जाता है। व्यान वह शक्ति है जो समस्त शरीर म व्याप्त है तथा इसका विकास करती है। उदान वह है जो जविक ग्रन्थियो तथा शरीर को प्रभावित करती है। समान वह है जो शरीर को रक्तप्रवाह प्रदत्त करता है। जब योगी के सकल्प के अनुसार इन वायुओ की शक्ति तथा कार्यों का उचित समन्वय हो जाता है तब वह शरीर के सभी दोषो तथा व्याधियो को समाप्त करने मे सफल हो जाता है और अपने स्वास्थ्य की उचित रीति से रक्षा करता है। उसकी परिपाक

शक्ति की वृद्धि हो जाती है एवं परिश्रम कम हो जाता है। उसका शरीर हल्का हो जाता है। शीघ्रता से चल फिर सकता है, उसमें शक्ति आ जाती है तथा उसकी वाणी में श्रेष्ठता आ जाती है। वह किसी रोग से पीड़ित नहीं होता तथा पर्याप्त रूप में उसे शक्ति तथा ओजस्विता प्राप्त हो जाती है। उसे धारण, स्मरण, उपयोगिता, स्थिरता तथा संतुष्टि की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वह संयास व्रतादि ले सकता है। अपने पाप नष्ट कर सकता है, यज्ञ कर सकता है तथा दान दे सकता है जैसा कि मनुष्यों के लिए विहित है।

प्रत्याहार मन का वह नियमण है जिसमें इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले विषयों से बुद्धि को विरत करने का प्रयास किया जाता है। जिसे सुख की कामना हो उसे निवृत्ति के गुण का अभ्यास करना चाहिए तथा सत्य ज्ञान को प्राप्त करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। अपनी इन्द्रियों पर नियमन करने से मनुष्य अपने को ऊपर उठा सकता है। जब इस प्रकार बुद्धि को किसी विषय पर स्थिरतापूर्वक अवहित किया जा सके तब वह धारणा की स्थिति होती है। शिव के अतिरिक्त ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर बुद्धि को स्थिरतापूर्वक अनुरक्त किया जाय। धारणा की उचित अवस्था में बुद्धि को उसके विषय, शिव से एक क्षण के लिए भी पृथक नहीं करना चाहिए। बुद्धि की स्थिरता से धारणा अग्रसर हो सकती है अतः धारणा के निरंतर अभ्यास से बुद्धि को दृढ़ तथा स्थिर बना लेना चाहिए। ध्यान शब्द 'ध्यै' धातु से निकलता है, जिसका अर्थ बाधारहित बुद्धि से शिव का चिंतन है। अतः इस अवस्था को ध्यान कहा गया है। जब मनुष्य ध्यानावस्था में होता है तब उसके चिंतन के विषय की, किसी अन्य विचार के संयोजन के बिना निरंतर एक ही रूप में आवृत्ति होती रहती है। एक ही प्रकार के प्रत्यय अथवा विचार के निरंतर प्रवाह को ध्यान कहते हैं।[1] यह स्मरण रखना है कि मनुष्य को तप अथवा नाम का भजन अथवा मंत्रों का उच्चारण करके ध्यानावस्था में चला जाना चाहिए तथा जब ध्यान टूटे तब तप करते रहना चाहिए तथा उससे फिर ध्यानावस्था में चले जाना चाहिए जब तक कि योग पूर्णतः प्राप्त नहीं हो जाता। समाधि योग की अंतिम अवस्था है जिसमें बुद्धि प्रज्ञा के प्रकाश से आलोकित होती जाती है। प्रज्ञा लोक वह अवस्था है जिसमें यथार्थ में अन्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता तथा जहाँ केवल समाधि में ध्येयविषय असीम शांत सागर के समान प्रज्वलित होता है।[2] बुद्धि को चिंतन के विषय पर केंद्रित करने पर,

---

[1] ध्यायावस्थित चित्तस्य सदृशः प्रत्ययश्च यः
प्रत्ययांतर निर्मुक्त प्रवाहो ध्यानमुच्यते
सर्वम् अन्यत् परित्यज्य शिव एव शिवंकर। –शिवमहापुराण ७ २ ३७(४२ ३)

[2] समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोकः प्रवर्तते,
यदर्थ मात्र निर्भास स्तिमितोदधि वत् स्थितम्,
स्वरूप शून्यवद् भान समाधिरभिधीयते। –तत्रैव ७ २ ३७ (६१ २)।

साधक, बुझती हुई अग्नि के समान दृष्टिगोचर होता है, वह न कुछ श्रवण करता है, न सूंघता है, न कुछ स्पर्श करता है और न उसकी बुद्धि विचार करती है। उसे कुछ बोध नहीं होता, वह तो लकड़ी के टुकड़े के समान है। अतः जब मनुष्य की आत्मा शिव में लीन हो जाती है तब उसे समाधि की अवस्था कहते हैं। वह उस दीपक के समान है जिसकी शिखा स्थिरता से प्रज्वलित रहती है। समाधि की इस अवस्था को साधक कभी नहीं छोड़ता।

किन्तु यह ध्यान देना होगा कि योगाभ्यास के पथ में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं जिन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। इनमें से कुछ ये हैं—

आलस्य, कष्टप्रद रोग, प्रमाद, चिन्तन के विषय के बारे में संशय बुद्धि की अस्थिरता, श्रद्धा का अभाव, काल्पनिक धारणाएँ, पीड़ा, निराशा तथा विषयों पर आसक्ति। आलस्य का अर्थ शारीरिक तथा मानसिक दोनों के आलस्य से है। रोग निश्चय ही तीन धातुओं अर्थात् वात, पित्त तथा कफ में बाधा उपस्थित होने से होते हैं। प्रमाद योग के संपादन के साधनों के सही तरह प्रयोग में न लाने से उत्पन्न होता है। चिंतन के यथार्थ विषय का संशयपूर्ण अन्वेषण स्थान संशय कहलाता है। श्रद्धा के अभाव का अर्थ है उपयुक्त भावना के बिना भी योग प्रक्रिया को चलाते रहना। समस्त दुःख तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। निराशा व्यक्ति की कामनाओं के व्याघात से उत्पन्न होती है तथा दौमनस्य नामक मानसिक कष्ट का कारण है। जब बुद्धि, कामना के विभिन्न विषयों की ओर आकर्षित होती है तब इसे स्फुरण की अवस्था कहते हैं। जब इन बाधाओं पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तब अन्य बाधाएँ अलौकिक शक्तियों के प्रकट होने के मार्ग में आकर उपस्थित हो जाती हैं।

पाशुपत-योग में योग शब्द का प्रयोग, 'युजिर योगे' धातु से माना गया है, न कि मूल 'युज समाधौ' से जैसाकि पतंजलि के योग में किया गया है। चिंतन, चिंतन के विषय तथा चिंतन के उद्देश्य के पूर्ण ज्ञान से ही यथार्थ योग उत्पन्न होता है। शिव के चिंतन के समय व्यक्ति को शिव की शक्ति का भी चिंतन करना चाहिए, क्योंकि समस्त संसार उन दोनों से व्याप्त है।

उन चमत्कारिक शक्तियों में से, जो योग की उन्नति के मार्ग में बाधा समझी गई हैं, प्रतिभा भी एक है जो सूक्ष्म पदार्थों, भूतकालिक वस्तुओं, हमारे नेत्रों से दुर्बोध वस्तुओं तथा भविष्य में आने वाली वस्तुओं की ज्ञान शक्ति है। न्याय मंजरी में जयंत ने प्रतिभा शब्द का उल्लेख सर्वथा भिन्न अर्थ में किया है। उनका वहाँ प्रतिभा से अर्थ भविष्य में घटित होने के ज्ञान की अस्पष्ट अनुभूति से है उदाहरणार्थ कल मेरे भ्राता आएँगे। बिना प्रयत्न समस्त प्रकार के नादों के बोध की शक्ति संसार में किसी भी प्राणी द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जाय उसे समझने की शक्ति तथा दिव्य दृष्टि की शक्तियाँ इसमें सम्मिलित हैं। अतः इन अद्भुत शक्तियों द्वारा मनुष्य दिव्य गुण तथा उच्चकोटि

के स्पर्श एवं घ्राण के उत्कृष्ट सुख प्राप्त कर सकता है। अतः मनुष्य समस्त प्रकार की अद्भुत शक्तियां प्राप्त कर सकता है तथा उनका उन समस्त वस्तुओं पर पूर्ण अधिकार हो जाता है, जिनकी उसे कामना हो। विभिन्न प्रकार की ऐसी अद्भुत शक्तियों का और अधिक स्पष्ट करना अनावश्यक है जिन्हें योगी प्राप्त कर सकता है किन्तु जो उसे उसके महायोग अर्थात् शिव से ऐक्य के उन्नत मार्ग से विमुख कर सकती है।

परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाशुपत योग के उसी अध्याय में कुछ ऐसी विधियां प्रस्तुत की गई है जो पातञ्जल-योग में नहीं मिलती हैं। अतः ७.२.३८ में योग के एक विशेष आसन के वर्णन में मनुष्य को नासिका के छोर पर ध्यान केन्द्रित करने तथा इधर उधर न देखने का परामर्श दिया गया है। मनुष्य पाषाण के समान स्थिर होकर बैठ जाता है तथा शिव व शक्ति का ध्यान अपने आप में करने का प्रयत्न करता है मानो वे उसके हृदय में स्थापित हो तथा उसको अपने साथ तादात्म्य का चिंतन करता है। मनुष्य अपनी नाभि गला तालु तथा भौहों के बीच के स्थान पर भी ध्यान केन्द्रित कर सकता है। मनुष्य को एक ऐसे कमल का जिसमें दो, छः, दस, बारह अथवा सोलह पखुड़ियाँ हों, अथवा एक प्रकार के चतुर्भुज का ध्यान करना चाहिए जिसमें मनुष्य शिव को स्थापित कर सके। भौंहो के बीच के स्थान के कमल की दो पखुड़ियाँ विद्युत के समान उज्ज्वल हैं। इसी प्रकार उन अन्य कमलों में जिनमें अधिक पखुड़ियाँ होती है उनमें नीचे से ऊपर की ओर प्रत्येक पखुड़िया के साथ स्वर प्रतीक रूप में संयोजित होते हैं। क से प्रारम्भ तथा ट से अंत होने वाले व्यंजन अक्षर भी कमल से प्रतीक रूप में संयोजित माने जाते हैं तथा उन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। एक प्रकार की दुर्बोध विधि से भिन्न भिन्न व्यंजन अक्षर काल्पनिक कमलों की भिन्न भिन्न पखुड़ियों के प्रतीक रूप में संयोजित माने जाते है तथा मनुष्य को स्थिरता से पखुड़ियों के अक्षरों के प्रतीक रूप में शिव तथा शक्ति का चिंतन करना चाहिए।

योग मार्ग पर अग्रसर होने हेतु शैव धर्म ग्रंथो में उल्लेखित शिव प्रतिमाओं का ध्यान भी आवश्यक है जैसे शिव की भिन्न भिन्न स्थूल प्रतिमाओं का दर्शन और ध्यान।

ध्यान पहले किसी पदार्थ पर से आरम्भ होना चाहिए, तत्पश्चात् यह पदार्थरहित हो जाता है। परन्तु बुद्धिवादियों का कहना है कि ध्यान की पदार्थरहित स्थिति कभी हो ही नहीं सकती। अतः यह कहा जाता है कि ध्यान में बौद्धिक विस्तार होता है।[1]

---

[1] तत्र निर्विषयं ध्यानं नास्तीत्येव सतां मतम्
बुद्धेर्हि संततिः काचिद् ध्यानमित्यभिधीयते।

—शिव महापुराण ७.२.३९.५।

इसी कारण ध्यान की अवस्था में केवल बुद्धि का प्रवाह होता है और उसे प्राय निर्विषय माना जाता है। अत जिसे निर्विषय ध्यान कहते है, वह केवल सूक्ष्म तत्वों पर चिंतन है। यह भी प्राय कहा जाता है कि जब शिव के किसी विशेष आकार पर चिंतन होता है तब उसे सविषय कहते है तथा जब यह आत्मज्ञान के विस्तार के रूप में निराकार अवस्था में होता है तब इसे निर्विषय कहते हैं, इस विषय ध्यान को सबीज भी कहते है तथा निर्विषय ध्यान निर्बीज कहलाता है। प्राणायाम तथा ध्यान के फल-स्वरूप बुद्धि पारदर्शक हो जाती है तथा शिव के विचार का निरंतर स्मरण होता रहता है। जैसा हमने पहले कहा है, ध्यान का अर्थ शिव के आकार के निरंतर प्रवाह के अतिरिक्त कुछ नही है।[1] बुद्धि का यह निरंतर प्रवाह ही ध्यान का विषय माना जाता है। आनन्द तथा मोक्ष दोनों ध्यान से उत्पन्न होते हैं, इसी कारण मनुष्य को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान से अधिक उच्च कुछ भी नही है।[2] जो ध्यान करते हैं वे शिव के प्रिय है न कि वे जो केवल कर्मकाण्ड करते है।

---

[1] बुद्धि प्रवाह रूपस्य ध्यानस्यास्यावलम्बनम
ध्येयमित्युच्यते सद्भिस्तच्च साम्ब स्वय शिव ।
—शिव महापुराण ७ २ ३९ १९ ।

[2] नास्ति ध्यानसम तीर्थ नास्ति ध्यानसम तप
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद ध्यान समाचरेत ।
—वही, २ ३९ २८ ।

अध्याय २८

शैव-दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ

पाशुपत सूत्रों का सिद्धांत

शैवमत की पाशुपत प्रणाली के कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बंधित खंडों मे विवरण किया गया है। परन्तु प्रणाली के आचार सम्बन्धी तथा कर्म-कांड सम्बन्धी पक्षो के प्रामाणिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है जिनका प्राय अन्य स्थानों मे उदाहरणार्थ, सर्वदर्शन-संग्रह की शैवमत की व्याख्या म, उल्लेख किया गया है। यह पाशुपत-सूत्रों मे जिन पर कौडिण्य का भाष्य है मिलती है, जिसका प्रकाशन १९४० म त्रिवेन्द्रम के ट्रैवनकोर विश्वविद्यालय के प्राच्य हस्तलेख पुस्तकालय द्वारा हुआ था। यह कहा जाता है कि शिव ने नकुलीश के रूप म अवतार लिया था, अत वे पाशुपत-सूत्रों के निर्माता थे। कौडिण्य का भाष्य भी बहुत प्राचीन है जसा कि इसकी लेखन पद्धति से निर्धारित किया जा सकता है। पाशुपत-सूत्रों के संपादक ए० शास्त्री का विचार है कि कौडिण्य चौथी तथा छठी शताब्दी के मध्य वतमान हो सकते है। कौडिण्य के भाष्य के साथ पाशुपत सूत्र हम शवमत का कोई दशन नही देते हैं। वह लगभग पूणतया कर्मकांड अथवा जीवन के आचार की व्याख्या करते है। यह भी बहुत सम्भव है कि जीवन के ऐसे वैराग्याचार प्राचीनकाल से ही प्रचलित हो, तथा शवमत का दशन इनके साथ बाद मे जोड दिया गया हो। यद्यपि जीवन के ऐसे वैराग्य आचारों का बाद म प्रतिपादित शैव-दशन से कोई सम्बन्ध नही है तथापि सामान्य मानव-शास्त्रीय दृष्टि से तथा धार्मिक दृष्टि से वे रुचिकर अध्ययन का विषय हो सकते हैं क्योंकि वैराग्य के यह आचार उन मनुष्यों के जीवन से सम्बंधित हैं जो शैव-दशन म विश्वास करते हैं। माधव के सर्व-दर्शन-संग्रह म पाशुपत प्रणाली को दशन की किसी पद्धति के रूप म नही वरन विभिन्न प्रकारों की वैराग्य-साधना के रूप म वर्णित किया गया है। जब शंकराचार्य शैव प्रणाली का खंडन करते हैं तब वह उसे विस्तृत रूप के किसी दार्शनिक सिद्धात के रूप मे विशेषत उल्लिखित नही करते। वे शैवों को ईश्वरकारणी कहते हैं जो ईश्वर को ससार का सृष्टा मानते हैं। निसंदेह नयायिक भी ईश्वरकारणिन हैं तथा वे भी इस तरह शैव ही हुए। नयायिकों के अन्य सिद्धात मुख्यत वशेषिक से लिए गए हैं, तथा शंकर ने न्याय वैशेषिक की अपनी सम्मिलित आलोचना मे उनका उल्लेख किया है। अत जहाँ तक धार्मिक मान्यता का प्रश्न है नयायिकों का पथ शैवों के समान ही है। परन्तु जहाँ

पाशुपत-सम्प्रदाय के शैव, वैराग्य के कर्मकाण्ड को प्रमुखता देते हैं, वहाँ नैयायिक तार्किक शास्त्रार्थ को प्रमुखता देते हैं। अत यदि यहाँ पाशुपत पथ के वैराग्य-पक्ष की सामान्य रूपरेखा का विवेचन किया जाए तो वह अप्रासंगिक नहीं होगा, यद्यपि यह दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं माना जाएगा।

टीकाकार कौण्डिन्य ने अपने भाष्य के आरम्भ में, उस पशुपति की स्तुति से मंगलाचरण किया है जिसने ब्रह्मा से आरम्भ कर सम्पूर्ण संसार की सृष्टि सबके शुभ के लिए की है। उनके अनुसार पाशुपत प्रणाली में तर्क के पाँच विषय-कार्य, कारण, योग विधि तथा दुखान्त हैं।[1]

पाशुपत प्रणाली का उपदेश सब प्रकार के दुखों के सम्पूर्ण विनाश के लिए है तथा यह उपदेश केवल अधिकारी शिष्यों को ही दिया जा सकता है। जब प्रभु द्वारा निर्धारित वैराग्य के आचारों का शिष्य अनुसरण करता है तब वह उसके (प्रभु को) अनुग्रह द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। यह पहले स्पष्ट किया गया है कि शिव महाकारुणिक कहलाते हैं। शैव विचार का स्पष्टीकरण करते हुए हमने करुणा के सिद्धान्त का पूर्ण परीक्षण किया है, तथा यह भी देखा है कि अनुग्रह का यह सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म सिद्धान्त से सम्बन्धित है, जो कर्म सिद्धान्त में निहित न्याय की धारणा के अनुरूप है। परन्तु पाशुपत-सूत्र में हमें यह बताया गया है कि मोक्ष शिव के अनुग्रह से प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। 'पशु' शब्द का अर्थ सत्ता तथा समस्त शक्तिमानों के अलावा समस्त चेतन प्राणियों से है। उनका पशुत्व इस तथ्य में निहित है कि वे निर्बल हैं तथा उनकी निर्बलता उनका बंधन है। यह बंधन, अर्थात् उनकी कारण शक्ति पर सम्पूर्ण निर्भरता अनादि है। 'पशु' शब्द 'पाश' से सम्बन्धित है जिसका अर्थ 'कारण तथा कार्य' है तथा जो शास्त्रीय भाषा में 'कला' कहलाता है। इस प्रकार समस्त पशु कारण व कार्य, एन्द्रिय पदार्थों एवं उनके विषय में बंधे हैं तथा उनसे अनुरक्त हो जाते हैं। 'पशु' शब्द 'पश्यति' से निकला है। यद्यपि समस्त पशु सर्वव्यापक तथा शुद्ध चेतन स्वरूप हैं तथापि वे केवल अपने शरीरों का ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं, उन्हें कारण तथा कार्य के स्वरूप का बोध नहीं है तथा वे उनके परे नहीं जा सकते। पशुपति का अर्थ यह है कि वह सब जीवों की रक्षा करता है। कौण्डिन्य निश्चयपूर्वक कहते हैं कि दुखों से मुक्ति

[1] पाशुपत-सूत्रों के सम्पादक नकुलीश से आरम्भ कर गुरुओं की निम्नलिखित सूची देते हैं—नकुलीश, कौशिक गार्ग्य मैत्रय, कौरुष्य ईशान, परगार्ग्य, कपिलानन्द मनुष्यक, कुशिक अत्रि पिंगल, पुष्पक बृहदार्य, अगस्ति सन्तान राशिकर (कौण्डिन्य) तथा विद्यागुरु। सत्रहवें गुरु राशिकर को सम्पादक ने कौण्डिन्य माना है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि बृहदारण्यक उपनिषद् ६ २ ४ में कौण्डिन्य गोत्र के नाम के रूप में आता है।

केवल ज्ञान, वैराग्य धर्म ऐश्वर्य एवं त्याग के द्वारा नहीं वरन केवल प्रसाद से ही प्राप्त हो सकती है।[1]

शवानुशासन ग्रहण करने का अधिकारी तीक्ष्ण बुद्धि वाला ब्राह्मण होता है। भक्ति सम्बन्धी आचारों की ओर प्रवृत्त करने वाला निम बनने की कामना उत्पन्न करता हुआ गुरु उपदेश, उदारता और अनुग्रह की भावना से उन्हें दिया जाता है जो समस्त दुःखों के विनाश की कामना करते हैं।

योग शब्द का प्रयोग आत्मा का ईश्वर में संयोग निर्देशित करने के लिए किया गया है (आत्मेश्वर संयोग योग)। इस प्रकार संयोग का अर्थ है कि जो मनुष्य अन्यथा संलग्न था वह अपने को ईश्वर के श्रेष्ठ विषय की ओर अग्रसर करता है अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि ईश्वर तथा मनुष्य दोनों का एक-दूसरे से सम्पर्क होता है जब तक वे पूर्णतः मिल न जायें। सांसारिक पदार्थों से विरक्ति होना योग की प्रथम आवश्यकता है।

योग की प्राप्ति केवल ज्ञान द्वारा नहीं हो सकती बल्कि मनुष्य को योग विधि नामक एक निश्चित प्रकार के कर्म का पथ ग्रहण करना पड़ता है। विधि का अर्थ कर्म है। इस प्रकार हमारे पास सुख व दुःख के विनाश के रूप में कार्य कारण, योग तथा विधि एवं पाँच तत्व हैं जो पाशुपत शास्त्र के विचार विमर्श के विषय हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन करते हुए कौण्डिन्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा आत्म प्रत्यक्ष में भेद करते हैं। इन्द्रियों द्वारा मनुष्य विभिन्न प्रकार के ऐन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकता है। जैसे कि शब्द स्पर्श रूप रस, गंध तथा वे पदार्थ जिनमें ये स्थित हैं। वास्तव में बहुत से प्रत्यक्ष इन्द्रिय पदार्थ के संनिकर्ष द्वारा होते हैं तथा अपनी सम्पूर्णता में ऐसे सम्पर्क द्वारा अनेक पक्षों में अभिव्यक्त होते हैं और प्रमाण माने जाते हैं। आत्म प्रत्यक्ष का अर्थ सम्बन्ध की यह सम्पूर्णता है जो चित्त, अन्तःकरण मन तथा बुद्धि द्वारा उत्पन्न होती है। अनुमान स्वाभाविक रूप से प्रत्यक्षीकरण पर आधारित है। मन, बुद्धि तथा आत्मा का सम्बन्ध अपने को अनेक रूपों में व्यक्त करता है और संस्कार तथा स्मृतियाँ उत्पन्न करता है। यह अन्य प्रकार के ज्ञान अथवा उनसे अनुमित होने वाले ज्ञान चेतनाओं की ओर प्रवृत्त करता है।

अनुमान, दृष्ट (प्रत्यक्षीकृत) तथा सामान्यतोदृष्ट (सामान्यों द्वारा प्रत्यक्षीकृत) दो प्रकार का होता है। दृष्ट अनुमान दो प्रकार का होना है—पूर्ववत् तथा शेषवत्।

---

[1] तस्मात्प्रसादात् स दुःखान्त प्राप्यते। न तु ज्ञान वैराग्य धर्मैश्वर्य त्याग मात्रादित्यर्थ।
—पाशुपत सूत्र (टीका पृ० ६।

पूववन् वह है जो पूव अनुभवो से सम्बन्धित है। इसके छ अगुलिया देखी गई थी तथा अब भी हमे इसके छ अगुलिया दिखती हैं, अत यह वही है जो पहले था। यह पूववत दृष्टानुमान है। जबकि एक पशु को उसके सीगो तथा लटकती हुई अयाल के प्रमाण पर गाय के रूप मे पहचानते हैं, तब उसे शेषवत अनुमान कहते हैं। शेषवत अनुमान का उद्देश्य एक जाति की वस्तुओ का दूसरो से भेद करना है। सामान्यतो दृष्ट (सामान्या द्वारा प्रत्यक्षीकरण) के उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि क्योकि एक पदाथ की स्थिति अनेक स्थानो पर नहीं हो सकती अत मनुष्य यह अनुमान कर सकता है कि चद्रमा तथा तारे जो स्थान परिवतन करते हैं—आकाश म घूम रहे हैं। आगम अथवा शब्द प्रमाण वह शास्त्र प्रमाण है जो हमे महेश्वर से उनके शिष्यो द्वारा प्राप्त हुआ है। पाशुपत सूत्र केवल प्रत्यक्षीकरण, अनुमान तथा शब्द प्रमाण स्वीकार करता है, अय प्रकार के प्रमाण इन्ही के अतगत आ जाते है।

प्रमाणो द्वारा पदार्थों की सिद्धि प्रत्यक्ष करने वाले दृष्टा के लिए की जाती है। प्रमाणो के नियम पाच प्रकार के तत्व हैं काय, कारण, योग, विधि तथा दुख का विनाश चेतना अथवा विचार उत्पत्ति सविद सचितन अथवा सबोध कहलाते ह। इन्ही के द्वारा ज्ञान प्रकट होता है। प्रारभ के प्रथम क्षण से ज्ञान की पूर्ति तक ज्ञान की प्रक्रिया चलती रहती है।

आचारो के विषय म यह कहा गया है कि मनुष्य को भस्म सग्रहीत करनी चाहिए तयार करनी चाहिए तथा शरीर पर प्रातकाल मध्याह्न तथा तीसरे पहर उस भस्म का लेप करना चाहिए। किन्तु यथाथ स्नान सदगुणो की प्राप्ति द्वारा ही होता है, जिससे आत्मा शुद्ध हो जाती है। मनुष्य को भस्म पर लेटना भी चाहिए किन्तु जागत रहना चाहिए क्योकि जिस व्यक्ति को जन्म व पुनज म के चक्र से भय है उसके पास निद्रा के लिए समय नही हो सकता। शुद्धि के लिए तथा शव चिह्न धारण करने की दृष्टि से जल के स्थान पर भस्म का प्रयोग होना चाहिए। अत भस्म लिंग कहलाती है अर्थात् पाशुपत वरागी का चिह्न। यहा हम ध्यान देना होगा कि लिंग शब्द, जो शव सिद्धात के सम्बन्ध म प्राय लिंग पूजन सम्बन्धी चिह्न के लिए प्रयोग होता है यहाँ पर मनुष्य को केवल पाशुपत वरागी सूचित करने वाले चिह्न के रूप म प्रयुक्त हुआ है। जिस भस्म से शरीर पर लेप होता है वह मनुष्य को पाशुपत वरागी के रूप म दर्शाती है। अत भस्म न लिंग मानी जाती है। यह भस्म पाशुपत वैरागी को अय पथो के अनुयायियो से पृथक करती है।

पाशुपत योगी ग्राम जगल अथवा किसी तीथ-स्थान म रह सकता है, तथा वहाँ वह अपने को ओम शब्द के उच्चारण हँसने, गाने नृत्य करने तथा अपने मुह व होठो से विशेष प्रकार की ध्वनियाँ निकालने म मग्न कर सकता है। नैतिक गुणों का प्रतिपादन करने वाले तथ्यो म अत्यधिक प्रमुखता यमो को दी गई है जिनम अहिंसा ब्रह्मचय

सत्य तथा अपरिग्रह सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् नियम हैं जिनमें अक्रोध, गुरु-सेवा, शुद्धता हल्का भोजन तथा अप्रमाद सम्मिलित हैं। यम तथा नियम में से यम अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। जैनियों की तरह अहिंसा को अत्यधिक प्रमुखता दी गई है तथा यह सर्वोत्तम मानी गई है। वास्तव में ब्रह्मचर्य का अर्थ सब प्रकार के इन्द्रिय नियन्त्रण से है विशेषकर स्वाद तथा प्रजनन के इन्द्रियों के नियमन से। स्त्रियों से सम्पर्क का बहुत तिरस्कार किया गया है। सत्य में सच बोलना भी शामिल है तथा उसकी प्रशंसा भी की गई है किन्तु सत्य का वास्तविक मापदण्ड यही माना गया है कि उसके बोलने से अधिकाधिक जन-कल्याण होना चाहिए। अशुद्ध कथन अथवा मिथ्या कथन भी यदि समस्त जीवों के लाभ के लिए हैं, तब उसे कठोर सत्य कथन से श्रेष्ठ मानना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि पाशुपत प्रणाली समस्त प्रकार के वाणिज्य कर्म तथा व्यापार का निषेध करती है क्योंकि इनसे परस्पर व्यवहार करने वाले व्यक्तियों को कष्ट पहुँच सकता है। ऊपर अक्रोध की गणना, सद्गुण के रूप में की गई है। इसके अन्तर्गत ईर्ष्या, शत्रुता, दर्प एवं मनुष्य के मन में दूसरों के अशुभ की कामना इत्यादि सभी बातों से पूर्णतः उदासीनता सम्मिलित है। साथ ही इनके अनुरूप किया गया कोई भी कर्म, अक्रोध में ही शामिल माना जाता है। पाशुपत योगी को भिक्षावृत्ति से अपना जीवन-यापन करना पड़ता है।

ऊपर यह कहा गया है कि पाशुपत वैरागी को ब्राह्मण होना चाहिए। विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त उसके लिए स्त्रियों तथा शूद्रों से सम्भाषण का निषेध है। ऐसी विशेष परिस्थितियों के आ जाने पर उसे अपनी शुद्धि भस्म स्नान प्राणायाम, रौद्री गायत्री के उच्चारण द्वारा करनी चाहिए। यदि किसी को स्त्री अथवा शूद्र से मिलकर उससे सम्भाषण करना पड़ता है तब उसके लिए प्राणायाम आदि का निर्धारण वैरागी की शुद्धि के लिए किया गया है क्योंकि अन्यथा उनसे मिलने के लिए विवश होने पर वैरागी की बुद्धि में क्रोध उत्पन्न हो सकता है तथा उससे उसकी स्वयं की बुद्धि को आघात पहुँच सकता है।

जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है तथा मनुष्य परम प्रभु महेश्वर के साथ योग मार्ग पर अग्रसर होता है तब मनुष्य को अनेक अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[1]

महेश्वर जो ब्रह्मन भी माने जाते हैं, अनादि तथा अविनाशी हैं वे अजन्मा हैं तथा सब प्रकार के रोगों से रहित हैं। जब मनुष्य को उनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब मनुष्य को उनमें शरण लेनी चाहिए तथा उनके द्वारा शास्त्रों में वर्णित आचारों का अनुसरण करना चाहिए।

---

[1] देखिए पाशुपत सूत्र १,२१ ३७।

महेश्वर अपने लीलामय स्वरूप से समस्त पदार्थों की सृष्टि तथा संहार करने वाले बतलाए गए हैं। ईश्वर महान है क्योंकि वह समस्त जीवों की गतियों तथा प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है। उसकी नित्यता उसके निरंतर ज्ञान तथा क्रिया में है, जिसके द्वारा वह सब में व्याप्त है। वह रुद्र कहलाता है क्योंकि वह सबको भय से संयोजित करता है।[1]

महाप्रभु स्वस्थित (अपने आप में स्थित) विश्व की सृष्टि पालन तथा संहार करता है अर्थात् उसमें ही आकाश में तारों के समान विश्व प्रकट तथा लुप्त हो जाता है। ईश्वर अपनी संकल्प शक्ति से संसार की सृष्टि करता है क्योंकि कार्य रूप समस्त संसार उसके स्वयं के बल तथा शक्ति में अवस्थित है तथा उसकी शक्ति के कारण ही निरन्तर स्थित रहता है।

इस विषय के पुनः स्पष्टीकरण के लिए भाष्य (२ ५) में यह कहा गया है कि महेश्वर का तत्व सर्व-व्यापक है तथा पुरुष प्रधान आदि तत्व महत्तत्व के ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार, आत्मा का तत्व होने के कारण पुरुष तत्व भी सर्व-व्यापक है, तथा प्रधान आदि के चौबीस तत्व पुरुष द्वारा ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार तत्वों के क्षेत्र में भी, बुद्धि सर्वव्यापक है तथा अहंकार से प्रारम्भ होकर अन्य बाईस तत्व बुद्धि द्वारा ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार अहंकार भी सर्वव्यापक है तथा ग्यारह इन्द्रियाँ इसके द्वारा ओतप्रोत हैं, पुनः इसी प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ सर्वव्यापक हैं तथा सूक्ष्म पाँच तन्मात्र उनके द्वारा प्रवेश करते हैं। इसी प्रकार स्थूल पदार्थों में भी आकाश वायु तेजस आदि को उन्हीं प्रक्रियाओं से व्याख्यात किया जा सकता है।

कारण तथा कार्य के प्रारम्भिक मूल भेद के विषय में प्रश्न उठता है। भाष्य (२ ५) के लेखक का कथन है कि इनका बोध हल्दी तथा जल के मिश्रण के सादृश्य से कराया जा सकता है हल्दी के जल में एक ओर जल के गुण हैं तथा दूसरी ओर हल्दी के गुण। इस प्रकार जब महेश्वर समस्त जीवों का उनके दिए हुए सुखों, दुःखों तथा उन शरीरों जिनसे वह उन्हें सम्बन्धित करता है, संयोजित माना जाता है, तब हमें पूर्णता का ख्याल होता है। इस प्रकार ईश्वर प्रकृति के सुखों व दुःखों से संयोजित हो सकता है, यद्यपि वह स्वयं सर्वथा अपरिवर्तनशील है। इसी दृष्टान्त से प्रधान व प्रकृति के अन्य तत्वों का भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। सर्वव्याप्त होने के कारण परमेश्वर स्वाभाविक रूप से कारण तथा निमित्त अवस्था दोनों में व्याप्त है। कारण से तादात्म्य होने के कारण कार्य नित्य है, कारण अर्थात् ईश्वर नित्य है तथा समस्त सृष्टि उसमें तथा उसके द्वारा होती है। इस प्रकार के तर्क से संसार नित्य हो जाता है, क्योंकि

[1] रुतस्य भयस्य द्रावणात् भयाज्जनाद् रुद्र।

—पाशुपत-सूत्र २-४ (टीका)।

यदि रक्षक नित्य है, तब रक्षा की जाने वाली वस्तुएँ अवश्य नित्य होंगी। संसार के नित्य होने के कारण ईश्वर उसके विभिन्न विभागों को यथोचित क्रम में संयोजित करता है। विविध विभागों का उचित संयोजन करने में ईश्वर का अनुग्रह ही कारण है।

ईश्वर की संकल्प शक्ति के सर्वशक्तिमान तथा निःसीम होने के कारण वह अपनी इच्छानुसार संसार तथा मनुष्यों के प्रारब्ध में परिवर्तन घटित कर सकता है। वह आवश्यक रूप से मनुष्य अथवा उसके कर्म पर निर्भर नहीं है।[1] ईश्वर का संकल्प विकास की प्रक्रिया के रूप में अथवा पदार्थों की अवस्था में बंधन अथवा मुक्ति का प्रवेश कराते हुए हस्तक्षेप द्वारा कार्य कर सकता है। किन्तु ईश्वर के संकल्प के निष्पादन में एक सीमा यह है कि मुक्त आत्माएं पुनः दुःख से संयोजित नहीं होती हैं। कार्य रूप संसार की सीमा यह है कि इसकी उत्पत्ति, सहायता तथा संहार अथवा परिवर्तन, कारण तत्व अर्थात् परमेश्वर द्वारा होना है। अतः यह कारण तथा कार्य का क्षेत्र है। जो समस्त दुःखों का अन्त करना चाहते हैं उन्हें स्वयं को किसी अन्य की नहीं, वरन् भगवान शिव की पूजा में संलग्न कर लेना चाहिए।

यह परामर्श दिया गया है कि पाशुपत योगी को अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति पर बहुत अधिक प्रसन्न नहीं होना चाहिए। तीर्थ-स्थान व मंदिरों में तथा साधारण मनुष्यों के मध्य दोनों ही स्थानों में उस योगी को समान भस्म का लेप तथा मन्दहास आदि व्यवहार करते रहना चाहिए। यह चर्या कहलाते हैं। इस चर्या में योगी का आनन्द अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति के अभिमान के किसी रूप के साथ संयोजित नहीं, वरन् अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्त होना चाहिए।

आध्यात्मिक पूजा की प्रक्रिया केवल तब ही हो सकती है, जब मनुष्य अपने मन में अपने को महेश्वर को समर्पित करने की प्रक्रिया आरम्भ कर दे तथा तब तक यह प्रक्रिया चलती रहे जब तक कि लक्ष्य प्राप्त न हो जाए। जब मनुष्य पूर्णरूप से अपने को केवल शिव को अर्पित कर देता है तब वह मोक्ष की अवस्था से वापस नहीं आता। यही आत्मसमर्पण का रहस्य है।[2]

---

[1] कर्म-कामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते न तु भगवान् ईश्वर कर्म पुरुषं वा पेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः।

—पाशुपत-सूत्र २६ (टीका)।

[2] ऐकान्तिकात्यन्तिक रुद्र समीप प्राप्तेरेकान्तेनैव अनावृत्ति फलत्वादसाधारण फलत्वाच्चात्म प्रदानमतिदानम्।

—वही, २ १५ (टीका)।

महेश्वर, जो वामदेव, ज्येष्ठ, रुद्र के नाम से जाना जाता है काल भी कहलाता है। काल की प्रक्रिया में भिन्न प्रकार के सुख दुःख पूर्ण अनुभवों के साथ भिन्न योनियों में भिन्न जीवों का भिन्न प्रकार के शरीरों से संयोजन कराना, उसके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत है। जीव कार्य कहलाते है, क्योंकि वे ईश्वर अथवा काल में हैं। 'कला' शब्द कार्यों (काल्य) को तथा उनके निमित्तों (कारण) को दिया गया है। इस प्रकार पृथ्वी जल अग्नि पांच तत्व कार्य के रूप में कला कहलाते है। उनके गुणों को भी कला कहते हैं। अहंकार तथा बुद्धि के साथ ग्यारह इंद्रियां कारण कहलाती है। स्वयं ईश्वर विकारण तथा इंद्रियों से रहित है अतः प्रत्यक्षीकरण तथा कार्य करने की उसकी शक्तियां असीम एवं निर्बाध है। यह ईश्वर ही है, जो समस्त पदार्थों तथा जीवों को काल्य तथा कारण के रूप में कलाओं से संयोजित करता है। परमेश्वर सकल तथा निष्कल, अन्तवर्ती तथा अतीत माना जाता है परन्तु उसके परात्पर पक्ष में भी उसमें वे समस्त शक्तियां हैं, जिनसे वह समस्त जीवों के लिए अपने अनुग्रह का विस्तार कर सकता है।

तृतीय अध्याय में यह कहा गया है कि यथार्थ शैव योगी को बाह्य आचारों का त्याग कर देना चाहिए जिससे कोई उस शैव योगी के रूप में नहीं पहचाने तथा समाज में उच्च स्थान नहीं दे। जिन मनुष्यों के मध्य वह रहता है, जब वे उसका इस प्रकार प्रत्याख्यान करेंगे, तब उसका यही अपमान उसके पापों का नाश कर सकेगा। जब योगी अज्ञानी मनुष्यों द्वारा किए हुए अपमान सहता है तब वह स्वाभाविक ही सहनशीलता प्राप्त करता है। मनुष्य प्रायः उसे एक उन्मत्त अथवा एक अज्ञानी मनुष्य या मंद बुद्धि आदि कुवचन कहेंगे तथा ऐसी परिस्थितियों में उसे जनता के ध्यान से दूर हो जाना चाहिए तथा ईश्वर पर अपनी बुद्धि केंद्रित करनी चाहिए। ऐसे व्यवहार से वह न केवल शुद्ध ही होगी, वरन आध्यात्मिक रूप से महान् हो जाएगा। इस प्रकार जब एक मनुष्य नख केश तथा दाढी लिए हुए, भस्म तथा धूल से लिप्त, एक दरिद्र उन्मत्त के समान घूमेगा तथा जब वह स्वच्छता के आचारों का अनुसरण नहीं करेगा, तब उसे स्वाभाविक रूप से बहिष्कृत माना जाएगा। यह उसको निवृत्ति के मार्ग में प्रवृत्त करेगा तथा अपमानों का नम्रता से सहना उसे आध्यात्मिक रूप से उन्नत करेगा।

जब एक मनुष्य यम तथा नियम के अभ्यासों में स्थिर रहता है तथा अन्य मनुष्यों द्वारा किए हुए तिरस्कार तथा दुवचन नम्रता से सहता है तब वह वैराग्य के पथ पर भली प्रकार दृढ है।

पाशुपत सूत्रों के संपूर्ण चतुर्थ अध्याय में पाशुपत व्रत आचार की उस प्रक्रिया के रूप में वर्णित है जिनमें योगी एक उन्मत्त अज्ञानी, अपस्मार के रोगी, मूढ, दुश्चरित्र आदि के समान व्यवहार करता है जिससे अनभिज्ञ जनता द्वारा उस पर दुवचनों के ढेर

लग जाएँ। इससे उसमें समस्त सांसारिक यश, प्रतिष्ठा आदि के प्रति विरक्ति जाग्रत होगी तथा वह तथ्य कि मनुष्य ने उसे अनभिज्ञता में दुर्वचन कहे, उसे धर्म-पथ पर ऊँचा उठा देगा। जब इस क्रिया विधि तथा योग द्वारा मनुष्य परमेश्वर का सामीप्य प्राप्त कर लेता है, तब वह कभी पुनः वापस नहीं लौटता। प्राचीनकाल में भारत ने पाशुपत व्रत धारण किया था यह माना गया है।

पंचम अध्याय में पाशुपत योग की प्रक्रिया का अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। परमेश्वर का उल्लेख अनेक नाम से किया गया है। परन्तु वे सब एक ही परमेश्वर का उल्लेख करते हैं तथा योग का अर्थ आत्मा का उसमें स्थिर होना है। इस उद्देश्य के लिए मनुष्य को समस्त पदार्थों, भूत, वर्तमान तथा भविष्य से पूर्ण विरक्ति होनी चाहिए तथा महेश्वर से भावात्मक अनुराग होना चाहिए।[1] आत्मा का शिव से ऐक्य इतना अंतरंग होना चाहिए कि कोई भी भौतिक कोलाहल अथवा क्षोभ मनुष्य को दूर न ले जा सकें। प्रारम्भिक अवस्थाओं में बुद्धि को अन्य पदार्थों से हटा कर प्रभु पर स्थिर करने से शिव से अनुराग होता है बाद में यह संयोजन सुस्थिर रहता है।

आत्मा की परिभाषा उस सत्ता के रूप में की गई है जो समस्त इन्द्रिय ज्ञानों, समस्त कर्मों तथा पदार्थों के प्रति समस्त राग के लिए उत्तरदायी है। आत्मा का ईश्वर से स्थिर अथवा निरंतर संपर्क उसकी नियतता का निर्माण करता है। सुख दुख, इच्छा, द्वेष तथा चेतना के अनुभवों द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। आत्मा इस ग्रंथ में अजन्मा मानी जाती है कि संवेदनाओं की शृंखला तथा मानसिक क्रियाओं के साथ वह नवीन रूप से जन्म नहीं लेती अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा सकता है कि वह अपने समस्त अनुभवों से गुजरते हुए भी उसी प्रकार बनी रहती है। वह मन इस ग्रंथ में कहलाती है कि जब इसकी समस्त कामनाएँ ▮प तथा प्रयास का अन्त हो जाता हैं तब वह चित्त स्थिरता की अवस्था में रहती है तथा परमेश्वर से अनुरक्त रह सकती है।

उपर्युक्त विरक्ति की प्राप्ति केवल समस्त ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक इन्द्रियों, मनस बुद्धि तथा अहंकार के नियन्त्रण द्वारा ही हो सकता है। इन्द्रियों के नियन्त्रण का वास्तव में यह अर्थ है कि उनकी क्रियाओं को शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त करना चाहिए तथा उन्हें अशुभ कर्मों के संपादन की ओर नहीं भटकने देना चाहिए।[2]

---

[1] एवं महेश्वरे भावस्थितस्तदसंगित्वमित्यर्थ।

—पाशुपत-सूत्र ५.१ (टीका)।

[2] तस्मादकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्वा कामतः कुशले योजितानि (यदा) तदा जितानि भवन्ति। —पाशुपत-सूत्र ५.७ (टीका)।

कौंडिन्य कहते हैं कि सांख्य तथा योग द्वारा दी हुई लक्ष्य की परिभाषा सत्य नहीं है। वह मोक्ष का मार्ग नहीं है। सांख्य तथा योग की शिक्षाएँ अशुद्ध हैं। मुक्त होने का अर्थ समस्त पदार्थों से पृथक होना नहीं वरन् भगवान शिव से संयुक्त होना है।[1]

वैरागी को किसी खाली कमरे में रहना चाहिए, उसे अपने को अध्ययन तथा चिंतन में संलग्न रखना चाहिए तथा अपने को स्थिर करना चाहिए। उसे कम से कम ६ माह तक निरंतर चिंतन में रहना चाहिए। जैसे जैसे वह योग-पथ पर अग्रसर होता है, उसे परमेश्वर के अनुग्रह द्वारा अनेक अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति होना आरम्भ हो जाता है।

पाशुपत वैरागी को भिक्षावृत्ति पर जीवन निर्वाह करना चाहिए तथा पशुओं के समान कठोर शारीरिक कष्ट सहन करने चाहिए। जिस योगी ने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है वह किसी कर्म अथवा पाप से प्रभावित नहीं होता। वह किसी मानसिक कष्ट अथवा शारीरिक रोगों से भी प्रभावित नहीं होता।

संपूर्ण विषय का सार यह कहा जा सकता है कि जब कोई अपने समस्त कर्मों तथा पापों से सर्वथा विरक्त हो जाता है, तब उसको समस्त पदार्थों पर से अपनी बुद्धि हटा कर शिव अथवा किसी प्रतीकात्मक नाम पर केंद्रित करके चिंतन करते रहना चाहिए। हमने पहले ही देखा है कि योग की परिभाषा आत्मा के ईश्वर से निरंतर संयोग के रूप में की गई है, तथा यह सायुज्य अर्थात् ईश्वर का साहचर्य कहलाता है। परमेश्वर को ज्ञान तथा कर्म की नित्य शक्ति प्राप्त है, जिसके द्वारा वह सबका नियन्त्रण करता है तथा इस ईश्वर के निष्कलंक स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। ईश्वर की ओर प्रवृत्ति, इसके किसी गुण का ध्यान में रखकर नहीं करनी चाहिए। यह सूत्र ५-२७ द्वारा व्यक्त किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर वाणी से व्यक्त होने वाली भी वस्तु से संबंधित नहीं है। अतः ईश्वर वाग्विशुद्ध कहलाता है। योगी का श्मशान में ही अधिकतर रहना उत्तम है जहाँ पर कोई संगी साथी न होने के कारण उसके पास चिंतन के लिए अधिक समय होगा तथा जिससे उसे धर्म प्राप्त होगा जो यम नियम से प्राप्त महानता के समान है। इस प्रकार योगी समस्त अशुद्धियों को काटकर पृथक कर देता है। अशुद्धियों को काटकर पृथक करने का अर्थ बुद्धि को समस्त केंद्रिय पदार्थों से हटाकर ईश्वर पर केंद्रित करने के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं है। (यत्रण धारणात्मकश्छेदो दृष्टव्य)। इस छेद अथवा पृथक्करण का अर्थ आत्मा को समस्त अन्य पदार्थों से विलग करना है। इसके द्वारा कारणों का समस्त जाल, जो

[1] अयं तु युक्त एव। न मुक्त इति विशुद्धमेतत् दर्शनं दृष्टव्यम्।
—वही ५ ८ (टीका)।

दोष उत्पन्न करता है, काटकर पृथक कर दिया जाता है। शब्द, स्पर्श आदि की सवेदनाएँ दोष है, क्योकि इनसे हमारी बुद्धि मे कामना, क्रोध लोभ भय निद्रा, राग, द्वेष तथा मोह होता है। ये दोष हम वस्तुओ का उपार्जन रक्षा तथा उनसे राग करने मे तथा दूसरे को आघात पहुचाने को प्रेरित करते रहते हैं। इसके फलस्वरूप मनुष्य स्वय को तथा दूसरे को भी कष्ट देते हैं। जब मनुष्य स्वय को कष्ट देता है, तब दुखी होता है तथा यदि दूसरो को कष्ट देता है तब भी इस अवगुण के कारण वह दुखी होता है। इस प्रकार ऐसे समस्त दुख आत्मा से सयोजित हैं। समस्त इन्द्रिय पदार्थ विष वृक्ष के फलो के समान है जो खाने के समय मीठे प्रतीत होते हैं, परन्तु अत मे बहुत अधिक कष्ट उत्पन्न करते है। मनुष्य के दुख का प्रारम्भ उसके जन्म के समय से होता है तथा जीवनपर्यंत मृत्यु तक निरतर होता रहता है अत मनुष्य को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह पुन जन्म न ले। इन्द्रिय विषयो के भोग के सुखो की रक्षा करना बहुत दुष्कर है व राग उत्पन्न करते है। जब वे अदृश्य हो जाते हैं, तब वे अधिक दुख उत्पन्न करते है। इसके अतिरिक्त बिना अन्य मनुष्यो को आघात पहुचाए इन्द्रिय पदार्थ का भोग करना कदाचित् ही सम्भव है। साधारण वस्त्र पहनने मे भी मनुष्य को अनेक जीवो की हत्या करनी पडती है। अत मनुष्य को समस्त इन्द्रिय पदार्थों के भोग का अन्त करना चाहिए तथा शाकाहार अथवा मासाहार जो कुछ भिक्षा मे मिले उसी से सतुष्ट होना चाहिए।

ऊपर प्रस्तावित विच्छेद को बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण द्वारा करना है जो कि धर्म चिंतन, आदेश तथा ज्ञान से प्रेरित मानी जाती है। बुद्धि चित्त भी कहलाती है। चित्त का अर्थ ज्ञात करना सुख व दुःख के अनुभव देना तथा धर्म व अधर्म एव अन्य सस्कारो को एकत्रित करना है। इस प्रकार क्योकि बुद्धि चित्त कहलाती है अन यह मनस तथा अतःकरण भी कहलाती है। इस प्रकार आत्मा को समस्त इन्द्रिय पदार्थों से बुद्धि को विलग करके रुद्र अथवा शिव से अनुरक्त करना है। जब यह हो जाता है तब धर्म व अधर्म की प्रवृत्ति का अस्त हो जाता है। सर्प की पुरानी केंचुली के समान यह आत्मा से निकल जाता है अथवा पके फल के समान नीचे गिर जाता है। आत्मा, जो इस प्रकार शिव मे स्थिर है निष्क्रिय हो जाती है तथा वह निष्कल भी कहलाती है। इस अवस्था मे बुद्धि शुभ अथवा अशुभ विचारो से रहित हो जाती है। जब यह योग उपलब्ध हो जाता है तब मनुष्य सर्वज्ञाता हो जाता है, तथा तत्पश्चात् वह किसी भी प्रकार के भ्रमपूर्ण विचारो की ओर आकर्षित नही हो सकता। अत इस शैवयोग के अनुसार मुक्त व्यक्ति पातंजल अनुशासन का अनुसरण करने वाले योगी के समान केवलिन नही हो जाता वरन वह सर्वज्ञाता हो जाता है एव उसे कोई दुख नही होता तथा यह ईश्वर के अनुग्रह से होता है। वह सर्वथा मुक्त इस अर्थ मे होता है कि वह अशुभ अथवा काल के किसी भी आक्रमण को रोक सकता है तथा वह किसी पर निर्भर नही है। इस प्रकार वह ईश्वर की महाशक्ति का सहकारी है अथवा उसका

प्राप्त करता है। उसको मा के गर्भ मे होने का अथवा जन्म आदि का कष्ट भी नही होता। अज्ञान से उत्पन्न उन दुखो से वह मुक्त है, जिनसे अहकार उत्पन्न होता है, जो मनुष्य को यह भुला देता है कि वह बधन म है। अत मुक्त व्यक्ति जन्म व पुनजन्म तथा समस्त शारीरिक व मानसिक कष्टो से भी मुक्त हो जाता है।

महेश्वर शिव भी कहलाता है क्योकि वह समस्त दुखो से सवदा पृथक् है।

इस प्रकार हम इस प्रणाली म पाच तत्व देखत हैं। प्रथम पति अथवा ईश्वर है, जो कारण तत्व है जिसक अनेक नाम हैं—वाम देव ज्यष्ठ, रुद्र, कामिन शकर काल, कला विकरण, बल विकरण, अघोर, घोरतर, सव, शव, तत्पुरुष, महादेव, ओकार ऋषि विप्र, महानीश, ईशान, ईश्वर, अधिपति, ब्रह्म तथा शिव।[1] साख्य प्रणाली, कारण के रूप म प्रधान को स्वीकार करती है परन्तु पाशुपत प्रणाली म ईश्वर कारण है जो प्रधान से भिन्न है।

काय तत्व 'पशु' है तथा पशु का ज्ञान, ज्ञान का साधन तथा जीवित प्राणी के रूप म वर्णित किया गया है। उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होत हैं। ज्ञान से तात्पय है—शास्त्र ज्ञान, गुण धम, प्राप्य पदाथ, मूल्य इच्छा आदि जो समस्त दुखो के विनाश की ओर प्रवत्त करत हैं। पशु का द्वितीय तत्व जिसे कला कहा गया है दो प्रकार का है—काय के रूप मे, जसे पृथ्वी, जल, वायु आदि ज्ञान के साधन के रूप म जसे बुद्धि, अहकार, मनस तथा अत करण आदि। पशु अर्थात जीवित प्राणी तीन प्रकार के हैं—देवता मनुष्य तथा पशु। 'प्रधान' तत्व, जो साख्य म कारण माना जाता है, पाशुपत शास्त्र म काय माना जाता है। जो कुछ ज्ञात अथवा दृश्य (पश्यन) है, वह पाश कहलाता है तथा काय माना जाता है। अन्य पुरुष जो अन्य स्थानो म कारण माना जाता है, उसे यहा काय अर्थात् पशु माना जाता है। योग तथा विधि के तत्वो का विवेचन पहल ही किया जा चुका है जो समस्त दुखो के विनाश के साधन हैं।

कौडिन्य के भाष्य के साथ पाशुपत-सूत्रो के अध्ययन से यह स्पष्ट लगने लगता है कि चौदहवी शताब्दी मे माधव द्वारा उनके सव-दशन-सग्रह म उल्लिखित नकुलीश-पाशुपत प्रणाली ही सम्भवत इन सूत्रों की भी प्रणाली है। पाशुपतो की यह वह प्रणाली हो सकती है जिसका शकर ने ब्रह्म सूत्र की द्वितीय पुस्तक के द्वितीय अध्याय पर अपने भाष्य म उल्लेख किया है। यहा पर माया के सिद्धात अथवा शकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धात का कोई उल्लेख नही है। मुक्ति के समय भी मुक्त आत्माएँ परमेश्वर शिव के साथ एक नही होती वरन मुक्ति का केवल यह अर्थ है कि मानसिक स्थिरता के कारण मुक्त शिव के निरतर सम्पक म रहता है तथा यही 'सायुज्य' शब्द

---

[1] पाशुपत-सूत्र ५ ४७ (टीका)।

का ग्रथ है। यहीं यह भी कहा गया है कि यद्यपि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तथापि मुक्त आत्माओं पर उसकी कोई शक्ति नहीं चलती। प्रकटत ईश्वर ने ससार तथा जीवों की सृष्टि की है परन्तु यह पाशुपत प्रणाली इस बात को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न नहीं करती कि ससार अस्तित्व म किस प्रकार आया। इस ग्रथ म शिव को ससार का निमित्त कारण स्वीकार करने के कारण ही यह पाशुपत प्रणाली श्रीकंठ की उस शव प्रणाली तथा वायवीय सहिता की प्रणाली स बहुत भिन्न है, जहाँ अद्व त पक्ष बहुत प्रधान है। यहा एकतत्त्ववाद आतरातीत ईश्वरवाद अथवा सर्वेश्वरवाद नहीं है वरन् एके-श्वरवाद है। यह भी स्पष्ट कर दना उचित होगा कि इस ग्रथ म वर्णित पाशुपत प्रणाली ब्राह्मणवादी प्रणाली लगती है क्योंकि कवल ब्राह्मणों को ही पाशुपत प्रणाली की दक्षा दी जा सकती है ऐसा उल्लेख इसम मिलता है। तथापि यह ब्राह्मणवाद से अनेक दृष्टियों से पृथक होती प्रतीत होती है। यह किन्हीं भी ब्राह्मणों क मान्य कम काडों को प्रस्तावित नहीं करती परन्तु यह कुछ नवीन कम काडों तथा जीवन के मार्गों की दीक्षा देती है जो ब्राह्मण समुदाय म प्रचलित नहीं है। 'ओम्' शब्द पर चिंतन की बात प्रस्तुत करने के कारण इस प्रणाली का ब्राह्मणवादी प्रणालियों से कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है परन्तु ग्रन्य कम काडों के विषय मे यह सवथा वेद विरोधी प्रतीत होती है। यह किसी भी द्राविड ग्रथ का, मूल स्रोत के रूप म, उद्धरण या उल्लख नहीं करती। इसके उपरात भी इसका श्रीकंठ की पाशुपत प्रणाली अथवा वायवीय-सहिता के साथ तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

यह जान लेना भी जरूरी है कि प्रकृति की अवधारणा शक्ति क रूप म या ग्रन्य किसी स्वरूप म जो पौराणिक पाशुपत मत म मिलती है पाशुपत सूत्रों के पाशुपत सिद्धात म नहीं मिलती। यहा साख्य के कोई भी तत्त्व ससार की सष्टि के विषय मे सगत प्रतीत नहीं होते। योग के विषय म भी, पुराणों मे उल्लिखित पाशुपत योग अथवा पाशुपत योगों स तथा पतजलि क योग सूत्र म वर्णित योग से यहा के पाशुपत योग का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। योग शब्द का प्रयोग निरतर सम्पर्क के ग्रथ म हुआ है तथा समस्त मानसिक वत्तियों के निरोध (चित्त वत्ति निरोध) के ग्रथ मे नहीं जैसाकि हम पातजल-योग मे मिलता है। यहा प्रमुखता, प्रत्याहार को अर्थात् बुद्धि को ग्रन्य पदार्थों से विलग कर ईश्वर पर स्थिर करने को दी गई है। ग्रत यहा निरोध समाधि के लिए कोई स्थान नहीं है, जो पातजल-योग म कैवल्य से पूव आती है। यह असम्भव नहीं है कि किसी प्रकार शव प्रभाव पतजलि के योग-सूत्र पर भी पडा हो, जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी बहुत सी सामग्री बौद्ध मत से प्राप्त की है। यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम योग-सूत्र पर व्यास भाष्य की तुलना विश्वबन्धु के अभिधम कोष से करें। जो साख्य-सूत्र हम अब प्राप्त है वह सम्भवत योग सूत्रों स परवर्ती रचना है अत योग सूत्र की यह मान्यता प्रतीत होती

है कि सांख्य तत्व विज्ञान सम्बन्धी अवधारणाओं की व्याख्या बिना ईश्वर की मान्यता के की जा सकती है जिसके विषय में कोई प्रमाण नहीं है। योग सूत्र ने ईश्वर, जो शिव का नाम भी है की सिद्धि करने का प्रयत्न नहीं किया है वरन उसे पूर्वागत मान्यताओं म से एक के रूप म स्वीकार किया है। वास्तव में नयायिकों के अतिरिक्त भारतीय दशन की किसी भी प्रणाली ने तक द्वारा ईश्वर को स्थापित करन का प्रयत्न नहीं किया है तथा परम्परा के अनुसार नयायिक शैव मान जाते ह।

इस सदभ मे उन आगमो का उल्लेख किए बिना जिनका हम आगे जाकर उल्लेख करेंगे दसवी ग्यारहवी तथा चौदहवी शताब्दियो तक पाशुपत प्रणाली के विकास का अध्ययन किया जा सकता है। यह पहले कहा जा चुका है कि शकर द्वारा उल्लिखित 'ईश्वरकारणीनि नयायिका के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा मैं अब एक पाशुपत रचना 'गणकारिका' का उल्लेख करूगा जो हरदत्ताचाय की मानी गई है जिस पर भासवज्ञ ने रत्न टीका नामक टीका लिखी थी। भासवज्ञ ''न्यायसार' के ग्रन्थकार के रूप मे प्रसिद्ध हैं जिस पर उन्होने न्याय भूषण नामक टीका लिखी थी। इसम उन्होने निम्नलिखित विचारका का खडन किया है–दिङनाग, धमकीर्ति, तथा प्रज्ञाकर गुप्त (प्रमाण वार्तिकालकार के ग्रन्थकार जो लगभग दसवें शताब्दी के मध्य मे विद्यमान थ तथा लगभग ९८० ईसवी के रत्नाकर शान्ति न जिनको उद्धृत किया है)। अत भासवज्ञ दसवी शताब्दी के दूसरे भाग म वतमान प्रतीत होते हैं। गणकारिका म आठ पद्य है तथा इसका उद्देश्य वही है जो पाशुपत-सूत्रो का है। जिस पाशुपत सूत्र की हमने व्याख्या की है यह वही है जिसका पाशुपत-शास्त्र के रूप म उल्लेख किया गया है जबकि सवदशन सग्रह पाशुपत शास्त्र का प्रथम सूत्र उद्धृत करता है।[1]

हरिभद्र के षडदशन-समुच्चय पर गुणरत्न अपनी टीका म कहते हैं कि नैयायिक योग भी कहलाते हैं तथा वे अपने को कम्बल से ढक कर छोटा कौपीन पहनकर लम्बा दण्ड लेकर चलते हैं। उनके जटाएँ होती हैं भस्म से शरीर का लेप करते हैं यज्ञोपवीत रखते हैं जलपात्र रखते हैं तथा साधारणत जगलो मे अथवा वृक्षो के नीचे रहते हैं। वे विशेष रूप मे फल मूल खाते हैं तथा सदव आतिथ्यकारी होते हैं। कुछ के पत्निया होती हैं तथा कुछ के नही। जिनके नही होती वे उत्तम माने जाते हैं। वे अग्नि के याज्ञिक नियमो का पालन करते है। उच्च अवस्था म वे नग्न घूमने ह, वे अपने दात तथा भोजन को जल से स्वच्छ करते हैं तीनो समय भस्म का शरीर पर लेप करते हैं तथा शिव का चिंतन करते हैं। उनका मुख्य मत्र ओम् नम शिवाय है। इसी से वे अपने गुरु का अभिवादन करते हैं तथा उनके गुरु भी इसी विधि मे उत्तर देते हैं। अपने उपदेशो मे व कहते हैं कि वे पुरुष अथवा स्त्रिया जो शवदीक्षा के अभ्यास

---

[1] सव-दशन-सग्रह नकुलीश-पाशुपत दशन तत्रेदमादि-सूत्रम् 'अथात पशुपत पाशुपत-योग विधि व्याख्यास्याम इति।

का बारह वर्ष तक अनुसरण करते हैं अंत में निर्वाण प्राप्त करते हैं। संसार के स्रष्टा तथा संहारक सर्वज्ञशिव को ईश्वर माना गया है। शिव के निम्नलिखित अठारह अवतार हैं—नकुलीश, कौशिक गार्ग्य, मैत्रेय, कोरुष, ईशान, परगार्ग्य, कपिलाण्ड, मानुष्यक, कौशिक अत्रि, पिंगल, पुष्पक बृहदार्य, अगस्ति, सतान, राशीकर तथा विद्या गुरु। वे उपरोक्त संतों का सम्मान करते हैं।

वे आगे कहते हैं कि जिस परम सत्ता की वे पूजा करते हैं, उस शिव में कोई भी पौराणिक लक्षण नहीं है जैसे कि केश की जटाएँ अथवा केशों में अर्ध चन्द्र आदि। वह परम सत्ता इस प्रकार के समस्त लक्षणों तथा वासनाओं से रहित है। जो सांसारिक सुख की कामना करते हैं वही ऐसे गुणों वाले राग जैसे गुणों से संयोजित अनुराग युक्त शिव की उपासना करते हैं। परन्तु जो वास्तव में सर्वथा विरक्त हैं, वे शिव की विरक्त रूप में पूजा करते हैं। मनुष्य केवल उसी प्रकार के फल प्राप्त करते हैं जिनकी वे कामना करते हैं तथा जिस रीति से वे देवता की पूजा करना चाहते हैं।

गुणरत्न कहते हैं कि वैशेषिक भी उसी प्रकार के बाह्य चिह्न तथा वस्त्रों का अनुसरण करते हैं क्योंकि वैशेषिकों तथा नैयायिकों की दार्शनिक मान्यताओं में बहुत समानता है। गुणरत्न आगे कहते हैं कि चार प्रकार के शैव हैं—शैव पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख। इनकी शाखा प्रशाखाएँ भी हैं। कुछ ऐसे हैं जो भरत कहलाते हैं तथा जो जाति नियम स्वीकार नहीं करते हैं। जो शिव की भक्ति करता है वह भरत कहला सकता है। न्याय साहित्य में नैयायिक शैव कहलाते हैं क्योंकि वे शिव की पूजा करते हैं, तथा वैशेषिक पाशुपत कहलाते हैं। अत नैयायिक दर्शन शैव के नाम से तथा वैशेषिक पाशुपत के नाम से ज्ञात है। गुणरत्न कहते हैं कि जैसा उन्होंने देखा अथवा सुना है वैसा ही वह वर्णन करते हैं। उनकी मुख्य तर्क विद्या सम्बन्धी रचनाएँ न्याय-सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, उद्योतकर की वार्तिक वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका तथा उदयन की तात्पर्य परिशुद्धि है। भासर्वज्ञ की न्याय सार एवं उसकी टीका न्याय-भूषण, जयंत की न्याय कलिका तथा उदयन की न्याय कुसुमांजलि का भी महत्वपूर्ण रचनाओं के रूप में उल्लेख किया गया है।

शैवों के विषय में गुणरत्न के कथन की पुष्टि राजशेखर के षड्दर्शन समुच्चय में उसके द्वारा किये गये शैव विचार के वर्णन से होती है। राजशेखर आगे कहते हैं कि अक्षपाद जो न्याय सूत्र के लेखक माने गए हैं पाशुपतों के न्याय सिद्धांत के प्रथम शिक्षक थे। वे चार प्रकार के प्रमाण, प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, सादृश्यानुमान तथा शब्द प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथा वे तर्क के निम्नलिखित सोलह पदार्थ स्वीकार करते हैं। प्रमाण, प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टांत सिद्धांत अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितंडा हेत्वाभास छल, जाति तथा निग्रह स्थान। केवल यही विषय अक्षपाद के न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में उपस्थित किए गए हैं। समस्त दुखों का विनाश मोक्ष के लिए अंतिम लक्ष्य है। उनकी मुख्य तर्क शास्त्रीय रचनाएँ जयंतकृत उदयनकृत एवं भासर्वज्ञ कृत हैं।

पाशुपत-सूत्रों पर कौंडिय की टीका बहुत प्राचीन काल की प्रतीत होती है तथा यह कथन अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह रचना ईसा काल के प्रारम्भिक समय की थी। परन्तु कौंडिय तथा राशीकर एक ही थे यह हम नहीं कह सकते। सर्व दर्शन संग्रह में राशीकर का उल्लेख है और वैसे उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि राशीकर का गोत्र-नाम कौंडिय नहीं हो सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नटीका के अतिरिक्त गणकारिका पर एक भाष्य भी था परन्तु यह भाष्य गणकारिका पर नहीं था, वरन यह पाशुपत-सूत्रों पर कौंडिय का भाष्य था जिसका परीक्षण हम पहले ही कर चुके हैं। गणकारिका में पाँच प्रकार के गुणों के आठ पदार्थों तथा तीन प्रकार के गुणों वाले एक पदार्थ का भी उल्लेख किया गया है। जिस बल से अन्य पदार्थों की प्राप्ति होती है उनके वर्णन में गुरु में विश्वास संतोष (मत प्रसाद) धैर्य, धर्म और अप्रमाद भी है।

स्वभावतः बल के विषय में तब प्रश्न उठता है जब किसी को अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी हो। अतः मोक्ष प्राप्ति की विधि के अनुसरण में बल प्राप्ति का क्या महत्व है इस विषय में प्रश्न किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर है कि अज्ञान दोष आदि के विनाश के लिए निश्चित ही बल की आवश्यकता है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें हैं—समस्त छिपे हुए अज्ञान का विनाश, दोषों का विनाश, उन समस्त पदार्थों का विनाश जो अनुराग की ओर प्रवृत्त करते हैं किसी सम्भावित असफलता से रक्षा तथा ईश्वर के चिंतन द्वारा पशु के रूप में व्यक्ति के अस्तित्व की ओर प्रवृत्त करने वाले समस्त गुणों का अंत।

इस बल का प्रयोग भिन्न अवस्थाओं व परिस्थितियों में किया जा सकता है। प्रथम, जब मनुष्य अपने शरीर पर भस्म का लेप करके भस्म पर लेटने आदि द्वारा अपने को पाशुपत पंथ का सदस्य प्रदर्शित करता है इत्यादि। द्वितीय गुप्त अवस्था में जब मनुष्य दूसरों से यह तथ्य छिपाता है कि वह पाशुपत पंथ का सदस्य है तथा जब वह साधारण ब्राह्मण के समान व्यवहार करता है। तृतीय अवस्था वह है जब मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसके उपरांत इसकी अवस्था वह है जिसमें समस्त आकर्षण समाप्त हो जाते हैं। इनमें पाशुपत योगों के, ऐसे व्यवहार सम्मिलित हैं जैसे नृत्य करना तथा उन्मत्त के समान आचरण करना। अन्तिम अवस्था सिद्धि अर्थात् अन्तिम मुक्ति की अवस्था है।

पाँचवीं कारिका दीक्षा की प्रक्रिया का उल्लेख करती है जिसके अन्तर्गत आवश्यक पूजा सामग्री, उचित समय, उचित कर्म निर्लिंग तथा गुरु सम्मिलित हैं।

आगे की कारिकाएँ भिन्न प्रकार के लाभों का वर्णन करती हैं। इनमें ज्ञान प्रधान है। इस ज्ञान की नियमपूर्वक प्राप्ति ज्ञेय पदार्थों की गणना तथा तत्पश्चात्

उनके विस्तृत वर्णन द्वारा की जा सकती है जैसाकि हमें न्यायसूत्रों में मिलता है। इसमें विभिन्न प्रकार के प्रमाण, द्रव्य तथा गुणों का अन्तर, उस कर्म की परिभाषा जो समस्त दुःखों से सम्बन्ध विच्छेद रूपी अन्तिम कर्म की ओर प्रवृत्त करता है सम्मिलित हैं। अन्य दर्शनों में दुःखों का विराम केवल एक निषेधात्मक गुण है परन्तु इस प्रणाली में दुःखों के पृथक्करण के अन्तर्गत सिद्धि प्राप्ति भी सम्मिलित है। सिद्धि की यह प्राप्ति, ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति कहलाती है। ज्ञानशक्ति का अर्थ शक्ति के रूप में ज्ञान है। इस क्रियाशक्ति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की गति शक्तियाँ आती हैं। क्योंकि यह प्रणाली स्वतः उद्विकास अथवा स्वतः अभिव्यक्ति में विचार में विश्वास नहीं करती, अतः इन शक्तियों की प्राप्ति, उच्च शक्तियों के संयोग द्वारा होती है। यह गुणों के उद्भव के विषय में न्यायसिद्धान्त के बहुत कुछ समान है। ज्ञान गुण आदि के समस्त पदार्थ प्राप्तव्य के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसमें जीव तथा निर्जीव पदार्थ जैसेकि तत्व पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियां तथा मन सम्मिलित हैं।

ईश्वर पति कहलाता है क्योंकि वह सदैव उच्चतम शक्तियों से संयोजित रहता है। यह शक्तियाँ उसे किसी क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त नहीं है वरन उसमें नित्य रूप से स्थित हैं। इसी कारण वह अपने संकल्प द्वारा कोई ऐसा कर्म अथवा कार्य उत्पन्न कर सकता है जो हमारे सम्मुख सृष्टि के रूप में आता है तथा इसी के कारण संसार की सृष्टि उसकी लीला मानी जाती है। इसी कारण वह अन्य समस्त जीवित प्राणियों से भिन्न है तथा यही उसकी महत्ता है।

विधि अथवा उपयुक्त धार्मिक आचरण की प्रक्रिया में, उस प्रकार के कर्म सम्मिलित हैं जो अन्ततः मनुष्य को शुद्ध करते हों तथा ईश्वर के समीप ले जाते हों। इस सम्बन्ध में पापों के विनाश के लिए तथा गुणों की उत्पत्ति के लिए तप का विधान किया गया है। धर्म जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के कर्मकांड सम्बन्धी आचार आते है ज्ञान प्राप्ति के लिए विहित किया गया है। ईश्वर का निरंतर चिंतन जिसे नित्यता कहा गया है तथा समस्त दोषों से बुद्धि के सम्पूर्ण वियोग जिस स्थिति कहा गया है का भी विधान है। अन्ततः ये ही मोक्ष की प्राप्ति कराते है जब मनुष्य स्वयं शिव के समान अद्भुत शक्तियों से संयोजित हो जाते हैं। अन्य प्रणालियों में मुक्त आत्माओं में कोई अद्भुत चमत्कारी शक्तियाँ नहीं बतलाई गई है, उनके केवल समस्त दुःख विलय हो जाते है।

उपर्युक्त उपलब्धियाँ गुरु के साथ निवास द्वारा अथवा उस स्थान पर जहाँ आश्रम नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति रहते हैं अथवा किसी भी गुप्त स्वच्छ रिक्त स्थान में अथवा श्मशान स्थान में हो सकती है अन्त में मुमुक्षु अपना शरीर त्याग कर महाप्रभु के स्थायी संयोग में रह सकता है।

अब उन साधनों की ओर ध्यान देना ठीक होगा जिनके द्वारा आकांक्षी अपना इच्छित लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इनमें से प्रथम को शास्त्रीय भाषा में वास कहा गया है। इसके निम्नलिखित अनेक अर्थ हैं ग्रन्थों के शब्दों में उचित अर्थों के समझाने की योग्यता, उनका स्मरण अन्य स्थानों से प्राप्त ज्ञान की सहायता से उस ज्ञान की विस्तारपूर्वक योजना तथा पूर्ति अपने स्वयं के सम्प्रदाय के पक्ष में अन्य सम्प्रदायों की शिक्षाओं की आलोचना करने की योग्यता, ग्रन्थों की विभिन्न विविधार्थपरक व्याख्याओं का उचित अर्थ समझने की योग्यता अपने विश्वासों को दूसरों तक पहुंचा सकना बिना व्याघात तथा आवृत्ति तथा किसी प्रकार के मोह के व्याख्यान देने की योग्यता जिससे गुरु सन्तुष्ट हो सके। इसे चर्या, परिचर्या अथवा क्रिया कहा गया है। चर्या शब्द शरीर पर भस्म के लेप आदि जैसी क्रियाओं के लिए भी प्रयुक्त होता है। पाशुपत प्रणाली के अनुसार भस्म से शरीर का स्नान विधिवत अनुष्ठित यज्ञ के समान है। अन्य प्रकार के यज्ञ अनुचित यज्ञ माने जाते हैं।

चर्या के दो या तीन प्रकारों के वर्णन में माधव ने कौण्डिन्य के भाष्य का ही अनुसरण किया है। भस्म का लेपन, भस्म पर लेटना मन्त्रों का उच्चारण आदि व्रत कहलाते हैं, जो सद्गुण उत्पन्न करते तथा दोष हटाते हैं। कौण्डिन्य के भाष्य में वर्णित कम्पन, हंसना ध्वनियाँ करना आदि के विषय में समस्त अन्य विधियों का भी यहाँ उसी प्रकार वर्णन है। वास्तव में गणकारिका तथा रत्नटीका ने भी कौण्डिन्य के भाष्य में उपलब्ध शिक्षाओं का अनुसरण किया करती हैं जो पाशुपत सम्प्रदाय का अत्यधिक विख्यात भाष्य माना जाता है।

इस सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण विषय ध्यान देने योग्य है। ईश्वर स्वयं सर्वथा स्वतन्त्र है। कर्म तथा उसके फलों का सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि कोई कर्म ईश्वर के संकल्प के बिना फल उत्पन्न नहीं कर सकता। समस्त कर्म ईश्वर के संकल्प द्वारा निरर्थक किए जा सकते हैं। अतः कर्म सिद्धान्त जिसको दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है यहाँ अनावश्यक माना गया है। पाशुपत-सूत्रों तथा कौण्डिन्य के भाष्य के समय से चौदहवीं शताब्दी तक जब सर्वदर्शनसंग्रह लिखा गया था, नकुलीश पाशुपत-दर्शन का यही विचार था यह तथ्य पूर्ण रूप से इन ग्रन्थों द्वारा समर्थित होता है। समस्त जीवित प्राणियों के कर्म ईश्वर के संकल्प पर निर्भर हैं। ईश्वर के संकल्प तथा उनके परिणमन के मध्य मध्यस्थ के रूप में कर्म आवश्यक नहीं क्योंकि ईश्वर का स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है जिसकी उसे पूर्ति करनी हो।

अत्यन्त परिश्रम के पश्चात् हम मृगेन्द्रागम की एक प्रति मद्रास राज्य हस्तलेख पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आगम पाशुपत पथ के मुख्य

मूल ग्रन्थों में से एक था। परन्तु जो अंश हम प्राप्त हुए हैं, वे मुख्यतः विभिन्न प्रकार के आचारों की व्याख्या करते हैं, तथा उनमें कोई दार्शनिक सिद्धांत नहीं है।

तिरुवाचक में माणिक्कवाचकर के शैव विचार

प्रस्तुत रचना में इस लेखक ने तमिल, तेलगू तथा कन्नड जैसी द्रविड भाषाओं की सामग्री का प्रयोग नहीं किया है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि लेखक को द्रविड भाषाओं का ज्ञान नहीं है तथा इस आयु में नए सिरे से सीखने का समय भी नहीं है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण जीवन काल लग सकता है। द्वितीय कारण है कि इस इतिहास के पिछले भागों में केवल संस्कृत में प्राप्त सामग्री की ओर ही ध्यान दिया है। तृतीय यह कि हमारे विचार में दार्शनिक दृष्टिकोण से कन्नड साहित्य में कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण सामग्री शायद ही हो जो संस्कृत में प्राप्त नहीं है। किन्तु यदि किसी विख्यात तमिल रचना का कोई विश्वसनीय अनुवाद प्राप्त हो सके तो उस पर विचार किया जा सकता है। सौभाग्य से माणिक्कवाचकर लिखित अत्यन्त सम्मानित पुस्तक तिरुवाचक का एक विश्वसनीय अनुवाद रवरेण्ड जी० यू० पोप ने किया है जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन तमिल के अध्ययन में व्यतीत किया है तथा जिन्हें उस भाषा का एक योग्य विद्वान माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तमिल साहित्य विशेष रूप से काव्य सामग्री में समृद्ध था तथा हमें अनेक भक्ति गीत तमिल तथा कन्नड दोनों में मिलते हैं, किन्तु तमिल अथवा कन्नड में मुझे कोई ऐसी क्रमबद्ध दार्शनिक रचना का ज्ञान नहीं जो संस्कृत में उपलब्ध न हो। तमिल साहित्य में अनेक संतों के विषय में पौराणिक कथाएँ तथा किंवदन्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में हैं जो पुराणों के नाम में ज्ञात हैं जैसे कि पैरिय-पुराण, तिरु-वातवुरार पुराण, नाम्पियादार नम्पि पुराण तथा सक्किलर पुराण।

तिरुवाचक माणिक्कवाचकर कृत एक काव्य पुस्तक है। यह भक्ति भावों तथा दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है परन्तु दर्शन के आधुनिक अर्थों में यह एक दार्शनिक प्रणाली नहीं है। पोप बिना किसी प्रमाण के माणिक्कवाचकर को लगभग सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी का बताना चाहते हैं। आर० डब्लू० फ्रेजर भी अपने द्रविड जाति पर लेख[1] में बिना किसी प्रमाण के उन्हें नवीं शताब्दी में बताते हैं। माणिक्कवाचकर का जन्म मदुरा के निकट माना जाता है। उनके नाम का अर्थ है वह जिसके वचन मणि हों। वह विलक्षण बुद्धि सम्पन्न मनुष्य माने जाते हैं तथा ब्राह्मण धर्म एवं शैवागमों के उत्कृष्ट विद्वान। जैसा हमने अन्य स्थान पर इंगित किया है ये आगम संस्कृत पद्यों के अलावा तमिल में भी लिखे गए हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि

---

[1] हेस्टिंग्स के धर्म तथा नीति के विश्व कोश में।

माणिक्क्वाचक्र के विचार की पृष्ठभूमि सस्कृत पर आधारित थी। माणिक्क्वाचक्र के विषय में तिर विलयाडिल तथा वातवुररपुराण में उपलब्ध पौराणिक कथा का जो पोप द्वारा सक्षिप्त रूप में वर्णित है फिलहाल हम छोड देत ह। ऐसा कहते ह कि उन्होने राजा का मत्री पद त्याग दिया था तथा एक नवयोगी बन गए थे। उनकी बुद्धि उनके चारा ओर के उन व्यक्तियो के दुख स पीडित थी जो जन्म व मृत्यु के चक्र से गुजर रह थे तथा जिन्हें उस शिव के प्रति उत्कट प्रेम नही था, जो उनकी रक्षा कर सक्ता था। अपनी मानसिक व्यग्रता की यह अवस्था, तथा अपन अज्ञान एव यौवन की मूढताओ की स्वीकारोक्ति विशेष रूप से उन्होने अपनी कविताओ में निबद्ध की है।

इसक उपरात स्वय शिव उनसे मिलत हैं तथा उसके पश्चात् वे शिव के शिष्य बन जात है। शिव अपन तीन नत्रा सहित, शरीर पर भस्म का लेप किए हुए मेयकड-देव की विख्यात रचना 'शिव ज्ञान-बोध हाथ म लिए हुए उनके समक्ष प्रकट होते हैं। स्वय पोप स्वीकार करत है कि 'शिव ज्ञान बोध' छठी शताब्दी तक जो माणिक्कवाचकर का समय माना जाता है, नही लिखी गई थी।[1]

अपने जीवन म वह एक तीथ से दूसरे तीथ की यात्रा तबतक करत रहे जबतक वे चिदम्बरम नही पहुँचे, जहाँ उन्होने बौद्धो को शास्त्राथ मे तक तथा सिद्धिशक्तियो के प्रदशन द्वारा पूण रूप स पराजित किया। तब वह अन्य भक्तो के पास वापस लौट गए। उन्होने एक वक्ष के नीचे लिंगम की स्थापना की तथा दिन रात उसकी पूजा की। उसी समय से उन्होन अपनी काव्य रचनाएँ आरम्भ की जो शिव तथा उनके अनुग्रह की महिमा से परिपूण थी। उनकी कविताओ स प्रकट होता है कि पश्चात्ताप क्रन्दन दुख की अनेक अवस्थाओ द्वारा उनकी बुद्धि का विकास किस प्रकार हुआ। उनकी शिव क प्रति भक्ति तथा प्रेम भी इसम स्पष्ट है। माणिक्कवाचकर की कविता पर टीका करत हुए पोप कहते हैं 'कदाचित् ही कभी मानव आत्मा की पवित्रता शाति तथा दवी माहत्म्य क प्रति उत्कठा की इसस अधिक सुन्दर अभिव्यक्ति मिल सके।[2]

ईश्वर की सवव्याप्ति का तथ्य शवगीतो म प्राय शिव की लीला के रूप मे व्यक्त किया गया है। सम्पूण विश्व उसकी मुस्कान स उज्ज्वल तथा उसकी आनन्दपूण गतियो से उत्फुल्ल है। इस विचार को इतनी अधिक प्रमुखता दी गई है कि शिव को प्राय धूत तथा उन्मत्त कहा गया है, तथा पाशुपत प्रणाली म पाशुपत योगियो को उन्मत्त मनुष्यो

---

[1] शिव ज्ञान-बोध मेयकडदेव द्वारा १२२३ ईसवी म अथवा इसक लगभग लिखी गई मानी जाती है। फ्रेजर के धम तथा नीति शास्त्र के विश्व कोश म द्रविड जाति पर लेख देखिए।

[2] पोप का अनुवाद पृ० ३४

के समान व्यवहार करने इधर-उधर नृत्य करने तथा दूसरा के सामने अपने को बुरा दिखाने के लिए छद्म व्यवहार तक करने का, अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करने का एवं अप्रासंगिक ढंग से हँसने का परामर्श दिया गया है। यह भी माना जाता है कि प्राय शिव अपने भक्तों की स्वामिभक्ति की, अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियों में अपने को अत्यन्त प्रतिकूल रूप में प्रदर्शित करके परीक्षा करते हैं। विशेष रूप से शिव का नृत्य सम्पूर्ण विश्व तथा प्रेमपूर्ण हृदयों में उसकी अनन्त अनुग्रह पूर्ण क्रियाओं का प्रतीक है। यह आर्यों से पूर्व काल के श्मशान वासी असुर वतकों का स्मरण दिलाते है।

हम यह मानकर चलते है कि माणिक्कवाचकर की शिक्षाएँ शिव ज्ञान बोध के उपदेश के समान हैं। जिसकी रचना बाद के काल में हुई। शिव ज्ञान बोध पर उमापति की एक टीका है जिसका अनुवाद होईसिंगटन ने १८६५ के 'अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी जरनल' में किया था। इस पुस्तक में विभिन्न प्रकार के मोक्ष वर्णित है। अन्य विचारों से शैवविचार की विभिन्नता देखते हुए भिन्न शैव सम्प्रदायों के विचारों में अनेक अन्तर मिल सकते हैं। इनमें से कुछ अन्तर दक्षिणी शैवमत के भिन्न प्रकारों में पहले ही देखे जा चुके हैं। अनेक विद्वानों का विचार है कि आत्मा के स्वाभाविक दोष हटाए जा सकते है जिससे वह समस्त पाशों से नित्य मुक्ति पा सके। किन्तु शैव सिद्धान्त इस पर बल देता है कि मुक्त अवस्था में भी दोष की सम्भाव्यता रहती है चाहे वह क्रियाशील न हो। यह आत्मा में एक स्थायी कलंक के समान रहती है। इस प्रकार अनित्य जीवों में व्यक्ति का 'स्व' तथा उसकी अपूर्णताएँ परस्पर संयुक्त रहती हैं, तथा उनका मोक्ष में भी कभी विनाश नहीं होता। किन्तु अन्य शैव पंथियों का विचार है कि शिव के अनुग्रह द्वारा आत्मा के स्वाभाविक दोष हटाए जा सकते हैं, जिसका स्वाभाविक निष्कर्ष है कि समस्त बंधनों से नित्य मुक्ति संभव है। अन्य शैवों का विचार है कि मोक्ष में आत्मा अद्भुत सिद्धि प्राप्त कर लेती है, तथा मुक्त मनुष्य ईश्वरत्व तथा तदनुरूप गुणों के सहभागी हो सकते है, तथा सिद्धि नामक अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति तथा संपादन कर सकते है। कुछ अन्य व्यक्तियों का विचार है कि मोक्ष में आत्मा पाषाण के समान जड़ हो जाती है। यह उदासीन अस्तित्व जन्म व पुनर्जन्म के चक्र के दुख व संघर्ष से आत्मा की शरणागार है। हमने पहले ही संबद्ध खंडों में मोक्ष के बहुत से विचारों का विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। परन्तु माणिक्कवाचकर के अनुसार अन्त में शिव के अनुग्रह द्वारा आत्मा तीन प्रकार की अशुद्धता से मुक्त हो जाती है तथा दैवी ज्ञान प्राप्त कर लेती है एवं इस प्रकार ऊपर उठकर शिव के सान्निध्य तथा अनंत आनंद एवं चैतन्यमय अवस्था में रहती है। यही विचार सिद्धांत दर्शन का भी है।[1]

---

[1] पाप।

शैव सिद्धांत मे ईश्वर के अनुग्रह (तमिल मे जो अरुल कहलाता है) के सिद्धांत को बड़ा महत्व दिया गया है। आणवमल की अशुद्धियाँ हटाने तथा मोक्ष पथ प्रदर्शित करने के लिए अनुग्रह देव अथवा गूढ विद्या है। आत्माएँ संचित कर्मों के अधीन हैं तथा उस संयुक्त अवस्था म बंधयुक्त आत्माएँ ईश्वर के अनुग्रह द्वारा ही छोड दी जाती हैं जो धीरे धीरे अपने प्रयत्नो द्वारा अन्त मे मोक्ष प्राप्ति के लिए शरीर धारण कर लेती हैं। समस्त अवस्थाओ म अनुग्रह ही वह गतिशील शक्ति है जो साधक को क्रमश उसके अंतिम लक्ष्य की ओर पहुंचाती है। शिव का अनुग्रह उसकी शक्ति के फलन द्वारा ज्ञान का प्रकाश देता है, जिससे मनुष्य जीवन के कर्मों को करते हैं एव कर्म का संचय करते है, तथा सुख व दुख का अनुभव करते है। भौतिक संसार जड है तथा जीवो को अपने स्वरूप का ज्ञान नही है। शिव के अनुग्रह द्वारा ही मनुष्यो को अपनी अवस्था का बोध होता है तथा तभी वे गुरु ज्ञान प्राप्त करते हैं जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसके उपरांत भी शिव के अनुग्रह का तथा वह किस प्रकार मनुष्य को आवृत करता है इसका ज्ञान उसे नही होता यद्यपि मनुष्य को समस्त इंद्रिय ज्ञान होते है। अनादि काल से मनुष्यो को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता रहा है परंतु वे कभी कभी ही उसके भाजन बनते है तथा इस प्रकार बहुत से मोक्ष के मार्ग से वंचित रहते हैं।

जब उपयुक्त गुरु मिल जाता है तथा जब वह मनुष्य को उचित मार्ग के अनुसरण का उपदेश देता है तब अनुग्रह को क्रियान्वित होते देखा जा सकता है। जब पाप तथा धर्म का संतुलन हो जाता है तब शिव का मुक्तिदायी अनुग्रह अपना कार्य प्रदर्शन करना प्रारम्भ करता है। मोक्ष के लिए मनुष्य को, कर्म के आध्यात्मिक सार का, दो प्रकार के कर्मों के स्वरूप का उनसे संयोजित सुख दुख के स्वरूप का तथा जो कर्मों को निश्चित समय पर परिपक्व करता है, जिससे आत्मा उनके फलो का अनुभव कर सके ऐसे ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए।

जिस प्रकार एक स्फटिक सूर्य के प्रकाश म अनेक रंगो को प्रतिबिम्बित करता है तथा इसके उपरांत भी अपना पारदर्शक गुण सुरक्षित रखता है उसी प्रकार ईश्वर के अनुग्रह के रूप मे शक्ति अथवा ज्ञान प्राप्ति आत्मा को देदीप्यमान करती है तथा संसार म व्याप्त है। शिव के अनुग्रह से प्राप्त गूढ ज्ञान के बिना कोई भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। शिव के बिना आत्मा बुद्धिहीन है। आत्माओ के समस्त कर्म शिव के नियामक भाग प्रदर्शन द्वारा होते है तथा ज्ञान के निमित्त के रूप म इंद्रियो का प्रत्यक्षीकरण भी शिव के अनुग्रह द्वारा ही होता है।

द्वितीय अवस्था मे यह शिक्षा दी जाती है कि आत्मा की शुद्धि के लिए ज्ञान का प्रयोग किस प्रकार होता है। जो मनुष्य सांसारिक अनुभवो के भ्रमात्मक दुखो का सहन करते हैं, वे जैसे ही अपनी अशुद्धियो के विषय म अवगत हो जाते हैं वैसे ही वे

स्वाभाविक रूप से ईश्वर के अनुग्रह में मुक्ति खोजते हैं। पाडु के रोगी को मीठा दूध भी तीखा लगता है परंतु यदि जिह्वा स्वच्छ कर दी जाए, तब तीखापन चला जाता है, उसी प्रकार मौलिक अशुद्धियों के प्रभाव में समस्त धार्मिक आचरण अरुचिकर होते हैं परंतु जब यह अशुद्धियाँ हटा दी जाती हैं तब गुरु की शिक्षाएँ क्रियाशील हो जाती हैं।

परम आनंद जिसका इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, आध्यात्मिक प्रणाली से अनुग्रह द्वारा प्राप्त हो जाता है। ईश्वर का अनुग्रह स्वतः हमारे लिए प्रकट होता है। इस प्रकार परम आनंद अनुग्रह का वरदान है जिसे आत्माएँ स्वयं प्राप्त नहीं कर सकतीं।

केवल वे ही जो इस अनुग्रह के भाजन हैं परम आनन्दस्वरूप शिव के साथ संयुक्त हो सकते हैं। एक दिलचस्प धारणा यह है कि आत्माएं तथा शक्ति स्त्री जाति की है तथा शिव पति है जिनमें रहस्यमय एकता संपन्न होती है। शिव पूर्ण आनंद स्वरूप है। यदि आत्मा तथा ईश्वर में रहस्यमय एकता मान ली जाती है तब आत्मा तथा ईश्वर का द्वैत कहाँ रहा? उन्हें एक हो जाना चाहिए अतः यह मानना होगा कि वे दोनों एक होकर भी विभाजित रहते हैं। जब बंधन हटा दिए जाते हैं तब भक्त अवाक् आनंद की अनुभूति में ईश्वर से एक हो जाता है, तथा उसे यह कहने का अवसर ही नहीं रहता कि उसने शिव को प्राप्त कर लिया है। जो मोक्ष उपलब्ध करते हैं तथा जो समाधि की अवस्था को प्राप्त करते हैं वे प्रभु से कभी पृथक नहीं किए जा सकते। इस अवस्था में उनके समस्त शारीरिक कर्म ईश्वर के पूर्ण नियंत्रण में रहते हैं। इस प्रकार एक अवस्था आती है जिसमें ज्ञाता, गूढ़ ज्ञान तथा शिव कभी पृथक नहीं वरन परस्पर संविलीन प्रतीत होते हैं।

जो इस समाधि की अवस्था में प्रवेश कर लेते हैं वे यद्यपि सर्वज्ञान तथा अन्य गुण प्राप्त कर लेते हैं, तथापि जब तक वे इस पृथ्वी पर हैं तब तक उन्हें अपने गुह्य ज्ञान के विषय परमेश्वर के अतिरिक्त कुछ भी ध्यान नहीं होता। उनकी समस्त इंद्रियों का निरोध हो जाता है तथा वे अपने उद्गम में बहुत गहरी विलीन होती जाती हैं और अपनी संवेदना को प्रकट नहीं करतीं। दैवी अनुग्रह अन्दर और बाहर स्पष्टतः प्रकट होने लगता है। इस गुह्य ज्ञान की अवस्था में भासमान विश्व केवल ईश्वर में ही निहित दृष्टिगोचर होता है।

पोप द्वारा अनुवादित वातवुरार पुराण में चिदम्बरम में माणिक्कवाचकर तथा बौद्ध गुरुओं के मध्य हुए प्रतिवाद का एक वर्णन है। किसी भी पक्ष को बौद्धमत के विषय में अत्यधिक ज्ञान होने की अभिव्यक्ति इस प्रतिवाद से प्रदर्शित नहीं होती। प्रतिवाद नगण्य विषयों पर होता है तथा तार्किक संगति का भी उसमें अभाव है अतः उसका विशद विवेचन करना व्यर्थ है। इसमें भी बहुत संदेह है कि इस प्रतिवाद के कारण

किसी भी प्रकार बौद्धमत के सम्मान में कुछ कमी हुई होगी। इसके ह्रास के तो वस्तुतः अनेक अन्य कारण थे, नवीं शताब्दी के पश्चात् दक्षिण भारत के विभिन्न पंथों का प्रादुर्भाव तथा उनमें परस्पर संघर्ष तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि।

माणिक्कवाचकर तथा शैव-सिद्धांत

शंकर के भाष्य (२.२-३७) में एक जगह उल्लेख आता है कि स्वयं शिव द्वारा लिखे गए सिद्धांत शास्त्र' में शैवसिद्धांत प्रतिपादित हैं। शंकर हमें उसके प्रतिनिधि विचारों का विवरण देते हैं, जो दो प्रत्ययों के अंतर्गत आ सकते हैं (१) वेदांत के इस विचार, कि ईश्वर समस्त सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है तथा उससे परे कुछ नहीं है के विपक्ष में सिद्धांतों का अनुमान है कि ईश्वर निमित्त कारण है। वह (२) शैवसिद्धांत का भी उल्लेख करते हैं, जिसने तीन तत्त्व पति, पशु तथा पाश स्वीकार किए। शैवों में वे महाकारुणिक, कापालिक आदि का उल्लेख करते हैं। जैसा मैंने बहुधा कहा है, किसी ऐसे शैवमत का, जिसे शंकर ने सिद्धांत नाम दिया है निश्चितता से खोज करना तथा उन प्रणालियों की विशेषताओं की जिनका वे खंडन करना चाहते थे, परिभाषा करना भी अत्यंत कठिन है। अब हमारे सम्मुख शैवसिद्धांत के नाम से ज्ञात शैवमत की प्रणाली तथा अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जो शैव 'सिद्धांत संप्रदाय' की रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमें अधिकांश टीकाओं के रूप में तमिल में लिखी गई हैं। इनमें से कुछ संस्कृत में प्राप्त हैं। इसी के समान प्रकार का शैवमत शिव महापुराण के वायवीय-खंड में मिलता है। इस खंड में यह कहा गया है कि इस दर्शन का मौलिक सिद्धांत आगम रचनाओं में लिखा गया था जिनकी रचना शिव के अवतारों ने की थी। वही शिक्षाएँ तमिल आगमों में भी मिलती हैं जिनकी वैसी ही प्रामाणिकता तथा वही विषय हैं। पोप कहते हैं कि शैव सिद्धांत प्रणाली अत्यधिक विस्तृत प्रभावशाली तथा निःसंदेह भारत के समस्त धर्मों से अधिक वास्तविक रूप से मूल्यवान है। मुझे यह एक निरर्थक अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। शैवमत के मौलिक तथ्य वेदांती अद्वैतवाद तथा सांख्य से निकले हैं, तथा कभी कभी न्याय सिद्धांतों का भी प्रयोग किया गया है। जैसाकि अन्य स्थान पर देखा गया है न्याय शैवमत के पाशुपत-संप्रदाय का उल्लेख करता है। यह मानना भी संदेहास्पद है कि यह विशेष रूप से दक्षिण भारतीय तथा तमिल है क्योंकि हमारे पास वायवीय संहिता में भी इसी प्रकार के सिद्धांत तथा उत्तर भारतीय शैवमत में भी ये ही विचार कुछ भिन्न रूपों में पाए जाते हैं। पोप के अनेक ऐसे कथन हैं जिनका कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं है। प्रस्तुत रचना का यदि कोई वाद विवाद-संबंधी उद्देश्य होता, तो उनकी सप्रमाण अधिक आलोचना आवश्यक होती।

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि शैवमत का प्राचीनतम रूप दक्षिण भारत का प्रागैतिहासिक प्राचीन धर्म है परन्तु मुझे आर्यों से पूर्व वर्तमान द्रविड़ धर्म के निश्चित

स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए कोई ऐसा प्रमाण नही मिला है जिसका मैं वर्तमान शैवमत से तादात्म्य कर सकूं। अब भी यह अत्यंत सन्देहास्पद है कि आर्यों से पूर्व द्रविडों या अन्य आदिवासी जातियों में प्रचलित प्रथाओं से भिन्न कोई क्रमबद्ध दर्शन अथवा धर्म था।

हमारे विचार से तो पाशुपत सूत्र तथा भाष्य का उल्लेख शंकर ने किया था, तथा सम्भवत ये ही शैवमत के प्रारम्भिक आधार थे, जैसाकि माल्पनिक उदाहरणों को छोड़ते हुए वास्तविक प्रमाणों द्वारा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। हम यह मान सकते हैं कि हर्षोन्मादपूर्ण धार्मिक नृत्य, असुर पूजा के आचार, तथा अन्य आदिम क्रियाएं उस समय विद्यमान थीं जो यद्यपि मूलत पूर्वजों की पूजा आदि के रूप में प्रचलित थीं तथापि शनै शनै प्राचीनतम पाशुपतों द्वारा भी स्वीकार कर ली गई जिनके व्यवहार तथा आचरण की दृष्टि से तो उनका ब्राह्मणीय सामाजिक क्षेत्र से तालमेल नही बैठता परन्तु ऐसे शैवमत को मानने वाला का ब्राह्मण होना आवश्यक था। जाति अथवा वर्णविहीनता प्राचीन पाशुपत शैवमत का आवश्यक स्वरूप नही था। एक पृथक खण्ड में हम वैदिक काल से लेकर शिव के विषय की अवधारणाओं के विकास के विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। इस कथन का कोई प्रमाण नही है कि भारत के पूर्वी समुद्र तट पर स्थित एक छोटे से ईसाई गिरजाघर ने देश के अति प्रभावशाली शैव तथा वैष्णव धर्मों को प्रभावित किया था। हमने देखा है कि जो संस्कृत संस्कृति के अनुयायी हो वे नियमित रूप से कदाचित् ही बौद्धमत के पाली ग्रंथ पढ़ते हो यद्यपि पाली संस्कृत के इतने अधिक निकट है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि बौद्धों के साथ माणिक्कवाचकर का विख्यात शास्त्रार्थ महत्वपूर्ण नही माना जा सकता, क्योंकि ऐसा प्रतीत नही होता कि माणिक्कवाचकर अथवा श्री लंकावासियों को एक दूसरे के धर्म के विषय में ज्ञान था। पोप का यह कथन सर्वथा अनुचित है कि कुमारिल भट्ट ने दक्षिण में वैयक्तिक देववाद के सिद्धांत का उपदेश दिया, क्योंकि कुमारिल द्वारा प्रतिपादित मीमांसा सिद्धांत किसी ईश्वर अथवा स्रष्टा के प्रत्यय को स्वीकार नही करता।

सम्भवत नवीं शताब्दी के माणिक्कवाचकर शैव सिद्धांत नाम से ज्ञात विचारधारा के सबसे प्रथम संतों में से एक थे। सम्भवत एक शताब्दी पश्चात् नाणसंबधर तथा अन्य भक्त हुए जिन्होंने सिद्धांत का अधिक विकास किया। उनके विषय में किंवदंतियां पेरिय पुराण में हैं। परन्तु यह आश्चर्य है कि धार के राजा भोज जिन्होंने तत्व-प्रकाश नामक अति श्रेष्ठ शैवरचना लिखी थी इन तमिल लेखकों की ओर ध्यान नही देते। इसी प्रकार चौदहवीं शताब्दी में माधव भी तमिल लेखकों में से किसी का उल्लेख नही करते हैं। हमें बताया गया है कि इसके पश्चात् सन्तान गुरु (शिक्षकों का क्रम) नामक चौदह मुनि हुए जिन्होंने शैवसिद्धांत रूप में ज्ञान दर्शन की प्रणाली का उचित विस्तार किया। इनमें से एक उमापति थे जो १३१३ ईसवी में विद्यमान थे।

इस प्रकार व माधव के समकालीन थे तथापि माधव ने उनका कोई उल्लेख नहीं किया है।

नवा तथा श्री वष्णवा द्वारा तेरहवी तथा चौदहवी शताब्दी के काल म ईश्वरवाद का महान् प्रचार हुआ। तिरुवाचकम की व्याख्या करते हुए उमापति कहते हैं कि समस्त वेदा के यथार्थ उद्देश्य का सार, तीन रहस्यमय तत्त्वा–पति, पशु तथा पाश म है। शवसिद्धात प्रणाली के य तीन तत्त्व है। परतु हमने पहले ही इंगित किया है कि शव सिद्धात की कोई विशेष विभाजनात्मक विलक्षणता नहीं थी आठवी शताब्दी म शकर ने इनका उल्लेख किया है, ये शवमत के पाशुपत सम्प्रदाय के प्रधान सिद्धात हैं। शिव महापुराण के वायवीय खड म प्राप्त शवमत के सम्प्रदाया का उल्लेख भी शकर ने किया है। पति, पशु तथा पाश समान रूप से नित्य अपरिवर्तनशील है कालक्रम से परे हैं तथा काल से अप्रभावित हैं। यह पति अन्य कोई नहीं वरन शिव हैं जिनके अपर नाम है जस रुद्र, पशुपति, एव शिव आदि। उमापति कहते हैं कि शिव परम सत्ता है जो न स्थाई रूप से व्यक्त है न अव्यक्त है, वह निर्गुण तथा विशिष्ट चिह्नों से रहित समस्त अशुद्धिया से मुक्त निरपेक्ष तथा नित्य, असख्य आत्माओ के विवेक का उद्गम तथा परिणाम रहित है। यह चेतन रूप तथा शुद्ध आनन्द स्वरूप है। दुष्टो की उन तक पहुँच कठिन है परन्तु जो यथार्थ म उसकी पूजा करते हैं उनका वह अंतिम लक्ष्य है। इस प्रकार शिव निष्कल स्वय म पूर्ण परतु अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व के रूप मे वर्णित है किन्तु बधन उत्पन्न करने वाले अशुद्धि के अनत समूह से तथ्य आत्माओ को देने के लिए वह एक सकल रूप धारण कर लेता है अर्थात एसा रूप जो सूक्ष्म आत्मिक शरीरो के सघो से निर्मित हो। वह निराकार तथा ज्ञान रूप है। वह सृष्टि करता है रक्षा करता है तथा सब कुछ माया का शक्ति का प्रदान कर देता है परतु वह अंतिम कारण दाता है जो हम कभी नही छोडता। उसका सब स्थानो म निवास है तथा वह सबम व्याप्त है जिस प्रकार अग्नि समस्त लकडी म व्याप्त है। वह केवल उन्ही को अपना वरदान देता है जो इसके लिए उसके निकट जाते ह।

जीवो के समूह के लिए जो पशु शब्द से अभिहित है यह कहा गया है कि अनादिकाल से असंख्य आत्माओ ने मुक्ति प्राप्त कर ली होगी। साधारणत तीन प्रकार की अशुद्धियाँ, अर्थात–अधकार कर्म तथा मोह होती है। जब मोह हटा दिया जाता है तब भी अधकार बना रह सकता है। आत्माएँ केवल तब ही अपने इंद्रियो के ज्ञान से पदार्थो का प्रत्यक्ष कर सकती हैं जब उनकी क्रियाओ के साथ कोई स्वाभाविक दैवी शक्ति भी सम्मिलित हो। समस्त जीव मूल अशुद्धियो से दूषित होते हैं। उन तीन प्रकार की अशुद्धियो का शिव को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जो बधनकारी है।

पर शिव अथवा महेश्वर तथा परा शक्ति एक के ही दो रूप हैं। शिव शुद्ध ज्ञान हैं तथा शक्ति शुद्ध क्रिया है। उनके सयोग से निम्नलिखित का विकास होता है–

(१) इच्छाशक्ति जो ज्ञान तथा क्रिया के समान अनुपात की एक संधि है, (२) क्रिया-शक्ति, जो क्रिया की अधिकता के साथ ज्ञान तथा क्रिया की संधि है, तथा (३) ज्ञान शक्ति जो ज्ञान की अधिकता के साथ ज्ञान व क्रिया की संधि है, जिसे अरूल शक्ति भी कहते हैं। अरूल शक्ति ज्ञानशक्ति के रूप में आत्माओं की मुक्ति के समय क्रियात्मक रहती है जबकि तिरोधान शक्ति के रूप में यह उस समय क्रियात्मक रहती है जब आत्माएँ बंधन में बंधती हैं।

संक्षेप में शैवसिद्धांत की स्थिति जहाँ तक हम तमिल रचनाओं के प्रामाणिक अनुवादों से तथा पोप व शोमरस आदि द्वारा लिखित तमिल साहित्य के प्रामाणिक अध्ययनों से ज्ञात कर सकते हैं इस प्रकार निष्कृष्ट की जा सकती है कि ये आत्माएँ जो शरीर में व्याप्त हैं स्वयं जड़रूप हैं तथा ये बौद्धिक साधन भी अचेतन हैं जिनसे वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होता है। चेतन अनुभवों का केवल शिव की शक्ति से ही उद्गम हो सकता है। सूर्य की किरण के समान यह शक्ति मूल शक्ति है जो शिव से अविभिन्न है। शैवसिद्धांत सम्प्रदाय का चार्वाक सम्प्रदाय से प्रत्यक्ष विरोध है जो किसी भी स्रष्टा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। शैवसिद्धांत सम्प्रदाय एक परम सत्ता के अस्तित्व को मानता है और यह तर्क प्रस्तुत करता है कि यही भासमान विश्व की उत्पत्ति, पालन तथा विलय करता है। समस्त जीवों नरों एवं नारियों सहित तथा उन पदार्थों सहित जो निर्जीव हैं परंतु भासमान अस्तित्व के अन्तर्गत हैं सम्पूर्ण विश्व कुछ समय के लिए अस्तित्वगत होता है तथा तत्पश्चात् विलीन हो जाता है, परन्तु इसके उपरांत जैसाकि हमने पहले कहा है इससे भौतिक संसार तथा आत्माओं के स्वरूप के विषय में हमारा ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रारम्भ से किस प्रकार जीव आणवमल नामक अशुद्धियों से संयोजित हुए। आत्माओं की मोक्ष प्राप्ति के पश्चात भी आत्माएँ ईश्वर से एक अथवा संयुक्त नहीं होतीं। इन कठिनाइयों से बचने के लिए शैवमत के कुछ अन्य रूपों ने कुछ भिन्न प्रकार की धाराओं का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि शक्ति शिव का एक अंश मानी गई है तथा इससे तंत्र दर्शन के अनेक रहस्यमय पक्षों का निर्माण हुआ है तथापि ईश्वर से भक्तों का व्यक्तिगत संबंध सेवा भाव तथा सम्पूर्ण आत्मसमर्पण पर आधारित है। इसमें आलवार अर्थात् वैष्णव संतों में देखे गए आनंदपूर्ण प्रेम के श्रृंगारमय पक्ष का नितांत अभाव है।

किसी अंश में तिरुवाचकम माणिक्कवाचकर की आध्यात्मिक जीवन कथा मानी जा सकती है जिसमें उनके जीवन के विभिन्न कालों के अनुभवों का कथन तथा उनकी व्याख्या है। यह रचना उनके धार्मिक अनुभवों तथा उत्साह से परिपूर्ण है तथा इसमें धार्मिक मानसिकता की विभिन्न स्थितियों का भी वर्णन है। इस प्रकार वह कहते हैं—

कर्मों की भीषण ज्वाला अब भी निरंतर दोहरे प्रज्वलित है—
अब मैं क्या करूँ ?
न तो तन द्रवीभूत होकर अस्तित्व खोता है
और न ही 'मिथ्या' धूलिसात होता है।
मन उस रक्तिम ज्वाल के मधु से
एकाकार नहीं हो पाता,
पेरुन तुरई के महान सुन्दर प्रभु।[1]
मैं पुकारूँ, प्रतीक्षा करूँ, नाचूँ, गाऊँ या देखूँ ?
ओ अनन्त। मैं क्या करूँ ?
शिव भी, जो असीम आनन्द से भर देते हैं
परुन तुरई के महान प्रभु की,
सब मेरे साथ विनत होकर वंदना करो।[2]
उन्होंने मुझ में दीन भावना भरकर
जन्म चक्र से मुक्त किया।
मेरी आत्मा में अनिर्वचनीय आनन्द की पुलक भरी
परुन तुरई के प्रभु ने, शिव ने,
असीम अनुकम्पा से मुझे अपना लिया।
मेरी सब पीड़ाओं पर अनुलेप लग गया है
और हुई है अमर दिव्य चिरानन्द की प्राप्ति।[3]
महामहिम, सर्वोपरि असीम प्रभु,
मुझे जो तुम्हारा तुच्छ, नीचातिनीच दास मात्र है
तुमने उस सर्वोच्च आनन्द का भागी बनाया है
जिसे अन्य किसी ने न जाना है न पाया है।
महाप्रभु मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ।[4]
तुम सभी जो उसके सेवक हो गए हो
अपने हर नादान मिथ्या विचार को दूर कर दो।
सुरक्षा के इस दृढ़ दुर्ग इस पावन चिह्न को
अंतिम क्षण तक दृढ़ता से ग्रहण किए रहो।
इस पापांकित देह को विसर्जित कर दो,

---

[1] तिरुवाचकम् पृ० ३३४।
[2] वही।
[3] वही पृ० ३३६।
[4] वही, पृ० ३३६।

शिव अपने लोक में अवश्य ही हम स्थान देंगे ।
भुजगधारी विभूति भूषण अपने चरण कमलो मे
अवश्य शरण देंगे ।[1]

भोज तथा उसके टीकाकारो के अनुसार शैवदर्शन

चौदहवी शताब्दी म माधव अपने सर्व दर्शन-सग्रह म दर्शन की एक प्रणाली शैवदर्शन' का उल्लेख करते हैं जो इस विचार को अस्वीकार करता है कि ईश्वर अपने सकल्प से हमारे लिए समस्त अनुभवो का सृजन करता है और यह मानता है कि ईश्वर ऐसा हमारे अपने कर्मों के आधार पर ही करता है। माधव ने इस दर्शन को शैवागमो पर आधारित बतलाया है जिनकी रचना शिव अर्थात महेश्वर द्वारा की गई मानी जाती है। श्रीकंठ तथा अप्पय के दर्शन का विवेचन करते हुए हमने बतलाया था कि वे अट्ठाईस आगमो का उल्लेख करते है यह माना जाता है कि इन सबको शिव तथा उसके अवतारो ने लिखा था इन सबका तात्पर्य एक ही है चाहे वे द्रविड भाषा म हो अथवा सस्कृत मे। यद्यपि हमारे लिए समस्त आगमो को प्राप्त करना सम्भव नही है तथापि पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप म अनेक आगम उपलब्ध हैं। कुछ आगमो के अपने ही प्रमाण के अनुसार वे सस्कृत प्राकृत तथा स्थानीय प्रादेशिक भाषाओ म लिए गए थे।[2] यद्यपि आगम महेश्वर द्वारा लिखे गए थे तथापि हम यह देखते है कि समस्त आगमो का एक ही उद्देश्य प्रतीत नही होता। इससे शैवागमो की व्याख्या म बहुत भ्रम उत्पन्न होता है। इसके उपरात भी अतर सदैव इतने स्पष्ट नही हैं कि वे शैवमत के विभिन्न उप सम्प्रदायो के विशिष्ट लक्षणो की परिभाषा स्पष्ट कर सकें।

सम्भवत ११वी शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजा भोज ने जिसने सरस्वती कठाभरण' तथा 'योग सूत्र' पर टीका लिखी है तत्व प्रकाश नामक रचना भी लिखी जिसका माधव ने अपने सर्वदर्शन सग्रह म उल्लेख किया है। माधव ने अघोर शिवाचार्य का भी उल्लेख किया है जिनकी 'तत्व प्रकाश' पर टीका अभी तक प्रकाशित नही हुई है परतु उन्होंने श्रीकुमार का उल्लेख नही किया है जिसकी तत्व प्रकाश पर टीका त्रिवेंद्रम ग्रथमाला म तत्व प्रकाश ग्रथ के साथ प्रकाशित हो चुकी है। प्रतीत होता है कि अघोर शिवाचार्य ने मृगेंद्रातम पर मृगेंद्रागम-वृत्ति दीपिका नामक एक अन्य टीका लिखी थी।

---

[1] वही पृ० ३२६।

[2] सस्कृत प्राकृतयश्चापिष्यानुरूपत,
देश भाषाद्युपायश्च च बोधयेत स गुरु स्मृत ।
—शिव ज्ञान सिद्ध (मसूर, हस्तलेख, सख्या ३७२६)।

पनी टीका लिखते हुए अघोर शिवाचार्य कहते हैं कि वह यह टीका इस कारण वश लिख रहे हैं कि अन्य व्यक्तियों ने तत्व प्रकाश की व्याख्या आगम शास्त्रों के सिद्धान्तों से अपरिचित होने के कारण, अद्वैत सिद्धान्त वाली मनोवृत्ति से करने का प्रयत्न किया था। १२३७ में शंकर द्वारा माहेश्वर-सम्प्रदाय के खंडन से हम यह ज्ञात होता है कि उसने माहेश्वरों को ऐसे व्यक्ति माना था जो ईश्वर को संसार का केवल निमित्त कारण मानते थे तथा संसार का उपादान कारण उससे पृथक् ही किसी तत्व को मानते थे। शंकर के अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्मन् संसार का उपादान व निमित्त कारण दोनों है। यथार्थ में संसार ब्रह्मन के अतिरिक्त कुछ नहीं है यद्यपि भ्रम के कारण नानाविध संसार का आभास होता है जिस प्रकार भ्रम द्वारा रज्जु में सर्प का आभास होता है। यह विवर्तवाद कहलाता है जो उस परिणामवाद के विपरीत है जिसके अनुसार एक भौतिक परिवर्तन द्वारा संसार की उत्पत्ति होती है। परिणामवाद सांख्य अनुयायियों द्वारा स्वीकार किया गया है। एक अन्य विचार के अनुसार ईश्वर निमित्त कारण है जो संसार की रचना व निर्माण परमाणुओं अथवा भौतिक शक्ति प्रधान स्थूल माया के द्वारा करता है। नैयायिक मानते हैं कि क्योंकि संसार एक कार्य है तथा यन्त्रवत व्यवस्था की उत्पत्ति है अतः इसका एक बुद्धिमान स्रष्टा होना आवश्यक है जो परमाणु तत्वों की सीमाओं तथा सामर्थ्य से परिचित हो। अतः ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है जिस तरह कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है। यही विचार कुछ शैवागमों जैसे मृगेन्द्र मातंग परमेश्वर आदि का भी है।

तत्व प्रकाश की व्याख्या करने में श्रीकुमार अपनी अस्थिर मनोदशा का परिचय देते हैं कभी वे ईश्वर के निमित्त कारण होने के आगम विचारों का अनुसरण करते हैं तथा वह कभी वेदांत के विवर्तवाद के अनुसार व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। अघोर शिवाचार्य, आगम दृष्टिकोण की एक अधिक निश्चित स्थिति लेते हैं तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं।[1] वायवीय-संहिता में व्याख्यात शैवमत के हमारे विवरण में हमने देखा है कि पौराणिक व्याख्याकारों ने शैवमत को किस प्रकार पूर्ण अद्वैतवाद के निश्चित पथ की ओर अग्रसर किया है, तथा सांख्य की प्रकृति का किस प्रकार ईश्वर की उस शक्ति के रूप में माना है जो न तो ईश्वर से भिन्न है और न उससे तादात्म्य है। ऐसा विचार स्वाभाविक ही एक प्रकार की अस्थिरता की ओर अग्रसर करता है यह प्रासंगिक स्थानों पर देखा जा चुका है। माधव के अनुसार

---

[1] विवादाध्यासितं विश्वं विश्ववित् कर्तृ पूर्वकम् कार्यत्वादावयोः सिद्धं कार्यं कुम्भादिकं यथा इति श्रीमन मातंगेऽपि, निमित्त कारणं तु ईश इति। यय चेश्वर-वादे स्माभि मृगेन्द्र-वृत्ति-दीपिकायां विस्तरेणापि दर्शित इति।

—अघोर शिवाचार्य की तत्व प्रकाश पर टीका (अडयार हस्तलेख)

शवागम पति पशु व पाश नामक तीन तत्त्वों तथा विद्या, क्रिया, योग एवं चर्या नामक चार अन्य तत्त्वों की व्याख्या करते हैं। जीवों की कोई स्वतंत्रता नहीं है तथा बंधन भी स्वयं निर्जीव हैं परन्तु दोनों ईश्वर की क्रिया द्वारा संयुक्त हो जाते हैं।

भोज ने अपनी पुस्तक तत्त्व प्रकाश, शैवदर्शन द्वारा स्वीकृत विभिन्न तत्त्वमीमांसीय तथा अन्य तत्त्वों की व्याख्या करने के लिए लिखी है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व शिव है जो चित् माना जाता है, जिसका अर्थ धवा के अनुसार संयुक्त ज्ञान व क्रिया है।[1] समस्त निर्जीव सत्ताओं का अधीक्षण तथा निरीक्षण करने वाले तत्त्व के रूप में ऐसे चेतन ईश्वर को स्वीकार करना पड़ता है। यह अनंत सत्ता स्वयं सिद्ध तथा एक ही है, यह निःशरीर है तथा किसी पर निर्भर नहीं है, यह एक तथा निरूपम है। यह सर्व व्याप्त तथा नित्य भी है। मुक्त जीव मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् इसी के समान हो जाते हैं, परन्तु ईश्वर सदैव एक ही समान तथा सदैव मुक्त रहता है तथा वह कभी किसी अन्य उच्चतर सत्ता द्वारा निर्देशित नहीं होता। यह समस्त वासनाओं से रहित है। यह समस्त अशुद्धियों से भी रहित है।[2]

मृगेन्द्र अथवा मातंग परमेश्वर की तरह अघोर शिवाचार्य भी शैवागमों का अनुसरण करते हुए यह मानते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व नैयायिक पद्धति के तर्कों से अनुमानित किया जा सकता है। अतः यह तर्क दिया गया है कि ईश्वर ने संसार की सृष्टि की है, वह उसका पालन करता है तथा उसका संहार करेगा। वह हमारी दृष्टि पर आवरण डाल देता है। वही हमें मुक्त भी करता है। ये पांच क्रियाएं अनुग्रह के अन्तर्गत आती हैं। वास्तव में अनुग्रह का अर्थ ईश्वर की उस शक्ति से है जो स्वयं सांसारिक विषयों के रूप में अभिव्यक्त है तथा व्यक्ति के कर्मानुसार उसको बंधन व मोक्ष की ओर प्रवृत्त करती है। बहुत सम्भव है कि शैवमत के कुछ सम्प्रदायों में ईश्वर की क्रियाशीलता को ही अनुग्रह माना गया हो। ये व्यक्ति महाकारुणिक कहलाते थे। इस प्रकार अनुग्रह का अर्थ सृष्टि की क्रिया तक विस्तृत हो जाता है। यदि यह साधारण अनुग्रह होता तब यह केवल उसी समय हो सकता था जबकि संसार पहले से ही अस्तित्व में आ चुका होता।[3] किन्तु इस अनुग्रह में जो क्रियात्मक

---

[1] मृगेन्द्र को उनकी तत्व प्रकाश की टीका से उद्धृत करते हुए अघोर शिवाचार्य कहते हैं चैतन्य दृक् क्रिया रूपमिति "चिद्घन चिदेव घन देह स्वरूप यस्य स चिद्घन। यह चिद्घन वह विशेषण है, जिससे तत्त्व प्रकाश में शिव को विभूषित किया गया है।

[2] माहो मदश्च रागश्च विषाद शोक एव च, वचित्रम चैव हृषश्च सप्तैते सहजा मला।
—तत्व प्रकाश कारिका १ पर अघोर शिवाचार्य की टीका, (अप्रकाशित हस्तलेख)।

[3] अनुग्रहश्चाप्रापलक्षणम्। —वही।

रूप म सृष्टि, पालन, सहार, जीवा की दृष्टि पर आवरण डालना तथा अन्त म उन्ह मुक्त करना सम्मिलित है।[1] श्रीकुमार इस स्थिति का स्पष्टीकरण यह मानकर करते है कि दृष्टि पर आवरण डालने तथा मुक्ति द्वारा ज्ञान देने की क्रियाएँ परस्पर विरोधी नही है क्योकि मुक्ति और ज्ञान केवल उनके लिए है जिन्ह आत्म नियत्रण, इन्द्रिय-नियत्रण धैय एव समस्त भोगो के परित्याग की शक्ति प्राप्त है तथा पूर्वोक्त उनके लिए है जिन्ह यह प्राप्त नहीं।[2] इस प्रकार ईश्वर अपनी पाच प्रकार की क्रियाओ द्वारा, समस्त जीवा के मोक्ष तथा सुखानुभवा के लिए उत्तरदायी है। उसकी चित् उसकी क्रियाओ के अविभाज्य रूप स सबधित है। यद्यपि ईश्वर चित स्वरूप है, तथा उस रूप म जीवो के समान है तथापि ईश्वर उन शक्तियो द्वारा जो जीवा को स्वय प्राप्त नही उन्हे मोक्ष प्रदान कर सकता है। यद्यपि ईश्वर की चित् पूणत क्रिया से सयोजित है तथापि यह उससे अभिन्न है। दूसरे शब्दो म ईश्वर शुद्ध वचारिक गतिविधि है।

शिव की शक्ति एक है यद्यपि इसे इसके विभिन्न कार्यो के अनुसार जिनका यह सम्पादन करती है विभिन्न रूपा म प्रदर्शित किया जा सकता है। श्रीकुमार यह इगित करत हैं कि इस शक्ति का मूल आकार विशुद्ध आनन्द है जो शुद्ध चित् से अभिन्न है। ससार की सृष्टि के लिए ईश्वर की अपनी शक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य साधन की आवश्यकता नही होती जिस प्रकार हम स्वय शरीर के समस्त कार्यो का सम्पादन अपनी स्वय की शक्ति द्वारा कर सकत हैं तथा किसी अन्य बाह्य सहायता की आवश्यकता नही होती। इस शक्ति को माया से विभिन्न समझना आवश्यक है। माया पर विचार करत समय हम इस बिंदु माया नामक अनत शक्ति मान सकते हैं, जो ससार का उपादान कारण है।[3]

---

[1] तत्व प्रकाश कारिका ७।

[2] वही—तत्व प्रकाश पर टीका कारिका ७।

[3] काय भेदेऽपि मायादिव नाम्या परिणाम इति दशयति तस्य जडधमत्वात्। अथाम प्रधान भूताम समवताम अनेन परिग्रह शक्तिस्वरूपम् विदु मायात्मकम् अपि अस्य बाह्य शक्ति-द्वयम अस्ति (अघोर शिवाचाय की टीका अडयार हस्तलेख) किन्तु श्रीकुमार के विचार से माया से सयुक्त होकर शिव ससार के निमित्त तथा उपादान कारण बनत है

निमित्तोपादान भावेन अवस्थानात् इति ब्रूम।

इस विचारानुसार शवमत शकर के अद्वतवाद में समानता आ जाती है। अघोर शिवाचाय ने अपनी टीका इस विचार के विरोध मे लिखी। उनका कथन है कि यह विचार उन शवागमों के विचारो का प्रतिनिधित्व नही करता है जो ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानत हैं।

श्रीकुमार की टीका मे प्राप्त शवसिद्धात अद्व तवादी पुराणो मे, शिवद्व त प्रणाली के रूप मे (विशेषत सूत-सहिता म) पहले ही आ चुका है।[1]

शिव केवल अपनी शक्ति द्वारा जीवो को अनुभवो तथा मोक्ष का प्रावधान करता है। ऊपर वर्णित पाच प्रकार की क्रिया को भी 'एक शक्ति' से पृथक किंतु उसके विभिन्न कार्यों से सम्वादनाथ विभिन्न प्रकारो के रूप मे मानना चाहिए।

तत्व प्रकाश का उद्देश्य शवागमो म उपलब्ध शवदशन की व्याख्या करना है तथा मुख्यत पति, पशु तथा पाश नामक पदार्थों का वणन करना है। पति ईश्वर है एव पशु, अणु कहलाता है तथा पाच पदाथ पाच पाश हैं। अणु ईश्वर पर आश्रित है तथा वे विभिन्न प्रकार के बधन से मुक्त हैं। पाच प्रकार के पदाथ मल के कारण उत्पन्न हैं तथा वे बिन्दु माया की शुद्धियो तथा अशुद्धियो के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ है। श्रीकुमार इंगित करत है कि क्योंकि आत्माएँ मल से अनादिकाल से सयोजित है अत वे माया क शासन म आ जाता है, परन्तु क्योकि आत्माए शिव के स्वरूप की हैं अत जब यह मल जला दिया जाता है तब वे शिव से एक हो जाती है। पाच प्रकार के पदाथ जो बधनकारी है मल, कम माया ससार (जो माया से उत्पन्न है) तथा बाधन वाली शक्ति है।[2]

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि यह शक्ति ईश्वर की है तब किस प्रकार बधन मे आने वाले विषयो का गुण बन जाती है? उत्तर है कि वास्तव म शक्ति प्रभु की है तथा बधन या पाश म यह शक्ति केवल इस अथ म ही उपचरित मानी जा सकती है कि बधन अथवा बधन की शक्ति जीव मे तथा उसके द्वारा अनुभव की जाती है।[3] वह परमेश्वर की ही शक्ति।

पशु वे हैं जो पाश से बधे हैं अर्थात वे जीव जो जन्म व पुनजन्म के चक्र से होकर निकलते हैं। इस सम्बन्ध मे श्रीकुमार आत्म चेतना तथा स्मृति के आधार पर आत्मा के विवेचन करने का प्रयत्न करत हैं तथा यह मानते है कि इन तथ्यो की बोद्धा

---

[1] सूत सहिता, पुस्तक ४ पद्य २८।

[2] मल कम च माया च मायोत्थमखिल जगत तिरोधानकरी शक्तिरथ पचकमुच्यत।
—श्रीकुमार की टीका पृ० ३२।

[3] ननु कथमेकस्या एव शिवशक्त पति पदार्थे च पाशपदार्थे च सग्रह उच्यत। सत्यम्, परमाथत पति-पदाथ एव शक्तेरन्तरभाव पाशत्व तु तस्या पाश धर्मानुवर्तनात उपचारात। तदुक्त श्रीमन्मृगेन्द्रे—तासा माहेश्वरी शक्ति सर्वानुग्राहिका शिवा, धर्मानुवतनादेव पाश इति उपचयत, इति।
—अघोर शिवाचाय की टीका, (अडयार हस्तलेख)।

द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकी जो क्षण भंगुर आत्माओं मे विश्वास करते थे। ये तीन प्रकार की हैं—वे जो मल तथा कर्म से संयोजित हैं, वे जो केवल मल से संयोजित हैं (ये दोनों प्रकार की आत्माएँ सम्मिलित रूप से 'विज्ञानकल' कहलाती हैं), तथा तीसरे प्रकार की सकल कहलाती हैं जो मल, माया तथा कर्म से संयोजित है। प्रथम, अर्थात् विज्ञानकल पुन दो प्रकार की हो सकती है अर्थात् अशुद्धिया से संयोजित तथा अशुद्धिया रहित। वे जो मल से मुक्ति प्राप्त कर लेती हैं ईश्वर द्वारा विभिन्न दैवी कार्यों के लिए नियुक्त की जाती हैं तथा उन्हें विद्येश्वर तथा मन्त्रेश्वर कहते हैं। किन्तु सूक्ष्म शरीर का निर्माण करने वाले आठ तत्त्वों के समष्टि शरीर से संयुक्त होने के कारण अन्य आत्माएँ नवीन जीवन चक्र में चली जाती हैं। ये आठ तत्त्व इस प्रकार हैं—पांच ज्ञानेन्द्रियां, मनस, बुद्धि तथा अहंकार, ये सब पुर्यष्टक अर्थात् आठ तत्त्वों वाला शरीर कहलाते हैं।

वे, जिनके मल परिपक्व हो जाते हैं, उचित दीक्षा द्वारा ईश्वर से वह शक्ति प्राप्त कर सकते हैं जिनके द्वारा मल हटाए जा सकते हैं तथा वे ईश्वर से एक हो जाते हैं। किन्तु अन्य जीव ईश्वर द्वारा बंधनों मे बांध दिए जाते हैं तथा विविध अनुभवों के चक्र को सहन करने के लिए बंधे रहते हैं जिसके अंत में वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

पाश चार प्रकार के हैं—मल, कर्म, मायेय और माया। मल का पाश अनादि है तथा हमारे ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति पर आवरण के रूप में है। अनादि काल से कर्म का भी प्रवाह होता रहता है, वह मल पर निर्भर है। तृतीय मायेय कहलाता है जिसका अर्थ माया (जो चतुर्थ है) द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर हैं। अघोर शिवाचार्य का कथन है कि मायेय का अर्थ उन वासना के पाशों से है जो कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं। प्रलय के समय जिनके मायेय मल नहीं होता, वे स्वयं अकेले रह जाते हैं परन्तु मुक्त नहीं होते।

परन्तु मल क्या है? यह एक अनाध्यात्मिक पदार्थ माना जाता है जिसके कार्य अनेक है। इसी कारण जब एक व्यक्ति का मल हटा दिया जाता है तब वह दूसरा में कार्य कर सकता है। ईश्वर की आवरण शक्ति के समान यह मल दूसरे व्यक्तियों में कार्य करता रहता है यद्यपि यह किसी एक व्यक्ति में से हटाया जा सकता है। जिस प्रकार भूसी बीज का आवरण करती है उसी प्रकार मल व्यक्ति के स्वाभाविक ज्ञान तथा कर्म का आवरण करता है तथा जिस प्रकार भूसी अग्नि तथा ताप से जल जाती है उसी प्रकार जब मानसिक आत्मा प्रकाशमान होती है तब मल हट जाता है। यह मल हमारे शरीरों के लिए उत्तरदायी है। जिस प्रकार ताम्र का कालापन पारे से हटाया जा सकता है उसी प्रकार शिव शक्ति द्वारा आत्मा का कालापन हट जाता है।

कर्म अनादि है तथा धर्म एवं अधर्म स्वरूप है। श्रीकुमार धर्म व अधर्म की परिभाषा दुःख तथा सुख के विशिष्ट कारण के रूप में करते हैं तथा वे धर्म तथा अधर्म

के विषय म अन्य विचारो व सिद्धाता के खडन का प्रयत्न करते हैं। माया वस्तु सत्ता मानी जाती है जो ससार का कारण हैं। हमने पहले ही देखा है कि बधन (मायय) माया के कार्यों से उत्पन्न हैं इस कारण माया पाश का मूल कारण है। यह प्राति भासिक नही है जसा वेदातियो का कथन है वरन यह ससार का उपादान कारण है। इस प्रकार हम देखत हैं कि मल, माया, कम तथा मायेय रूप से ईश्वर की शक्ति, पाश का आधारभूत प्रत्यय है।

शिव से उत्पन्न ये प्रथम पाच शुद्ध तत्त्व हैं। शिव का तत्त्व बिन्दु माना जाता है तथा यह सबका मूल तथा प्रारम्भिक कारण है। यह माया के समान नित्य है। अन्य चार तत्त्व इससे उत्पन्न होत हैं तथा इस कारण इसे महामाया माना जाता है। य तत्त्व विभिन्न ससारो के पौराणिक अधीक्षक 'ईश्वर है जिन्हे विद्येश्वर मन्त्रेश्वर आदि कहा गया है। बिन्दु स क्षमित सदाशिव ईश्वर तथा विद्येश्वर उत्पन्न होत हैं। ये तत्त्व शुद्ध तत्त्व माने जात हैं। व्यक्तियो को अनुभव का तथा कम करन का अवसर प्रदान करने के लिए पाच तत्त्वो की उत्पत्ति होती है, जो काल, नियति, कला विद्या तथा राग है। अव्यक्त, गुण तथा तत्परवान् बुद्धि एव अहकार, मनस पाच कर्मेन्द्रिया व पाच ज्ञानेन्द्रिया तथा भूत तत्त्व जो माया के तेईस तत्त्वो का निर्माण करते ह, माया से उत्पन्न होत है।

इस प्रकार हम देखत है कि प्रथम पाच तत्त्व–शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर तथा विद्या है। य सब शुद्ध चिन् स्वरूप (चिद्रूप) है तथा इस स्वरूप का होने के कारण इनम कोई मल नही हो सकता। इसके उपरात सात तत्व है जो शुद्ध व अशुद्ध दोना हैं, (चिदचिद रूप) तथा ये माया, काल, नियति, कला विद्या राग तथा पुरुष हैं। यद्यपि शुद्ध चिन् स्वरूप है तथापि अपन अशुद्ध सयोजन के कारण यह अशुद्ध प्रतीत हो सकता है। इन तत्त्वो क उपरात चौबीस तत्त्व हैं जो इस प्रकार हैं। अव्यक्तगुण तत्त्व बुद्धि अहकार, मनस पाच ज्ञानेन्द्रिया पाच कर्मेन्द्रिया, पाच तनमात्र तथा पाँच महाभूत। ये समस्त छत्तीस तत्त्व हैं।

यदि तत्त्वो के इस विभाजन की ओर हम ध्यान दे तब हम यह पाते ह तथाकथित अशुद्ध तत्त्व अधिकाशत साख्य दर्शन के तत्त्व हैं। परन्तु जबकि साख्य म प्रकृति तीन गुणो की साम्यावस्था के रूप म अव्यक्ति के समकक्ष समझी जाती है तब यहाँ शैवदर्शन म अव्यक्त अनभिव्यक्ति है जो माया से उत्पन्न होता है तथा गुणो का उत्पन्न करता है।

सार सक्षेप के रूप म हम यह कह सक्ते है कि शैवागमो पर आधारित तत्त्व-प्रकाश म प्रदर्शित विचारधारा भारतीय दशन के कुछ सिद्धातो के साथ, कुछ पौराणिक कथाओ का अनोखा सम्मिश्रण है। एक टीकाकार श्रीकुमार ने इसम शकर का अद्वैत दर्शन पढने का प्रयत्न किया है जबकि अन्य टीकाकार अघोर शिवाचार्य ने इस प्रणाली मे

एक प्रकार का द्वैतवाद पढ़ने का प्रयत्न किया है यद्यपि यह द्वैतवाद संगत नहीं है। शंकर के शैव-संप्रदाय के दर्शन के विवरण से हमें ज्ञात होता है कि महेश्वर नामक कुछ शैवों ने अपनी सिद्धांत नामक रचनाओं में इस विचार की स्थापना करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर संसार का उपादान कारण नहीं वरन केवल निमित्त कारण है। शंकर के विचारानुसार ईश्वर संसार तथा समस्त जीवों का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों हैं। अघोर शिवाचार्य का टीका लिखने का उद्देश्य वे यह बतलाते हैं कि इसकी व्याख्या अद्वैत मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों ने की थी, अतः यह प्रदर्शित करने का उनका वक्तव्य था कि आगमों के अनुसार ईश्वर केवल निमित्त कारण ही हो सकता है जैसाकि हम न्यायविचार में पाते हैं। वे इस आधारभूत धारणा से प्रारंभ करते हैं कि ईश्वर, चेतना तथा शक्ति के बल का पूर्ण समिश्रण है, तथा उनका कथन है कि माया संसार की उपादान कारण है जिससे अन्य विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो सांख्य तत्वों के समान हैं। परंतु वे यह नहीं स्पष्ट करते कि किस प्रकार की निमित्तता शुद्ध एवं अशुद्ध तथा शुद्धाशुद्ध विविध तत्वों को उत्पन्न करने में माया को प्रभावित करती है। उनका कथन है कि माया की शक्ति भी ईश्वर से ही प्रवृत्त होती है तथा माया में इस प्रकार प्रतीत होती है मानो उससे अभिन्न हो। इस प्रकार यह सब एक मौलिक भ्रम है जिसके द्वारा बिंदु तथा नाद के रूप में माया की प्रक्रिया अथवा ईश्वर की सृष्टि के लिए कामना तथा सृष्टि की प्रक्रिया घटित हो जाती है। परंतु वे भ्रम का स्वरूप तथा कारण अथवा भ्रम उत्पन्न होने के रूपों को और अधिक स्पष्ट नहीं करते। इस महत्वपूर्ण विषय में तत्व प्रकाश का मूल ग्रंथ भी कोई प्रकाश नहीं डालता। अपने समर्थन के लिए अघोर शिवाचार्य प्रायः मृगेन्द्रागम का उल्लेख करते हैं। परंतु मृगेन्द्रागम तत्व प्रकाश के समान सांख्य के विकास की प्रक्रिया का अनुसरण नहीं करता। यहाँ हम ईश्वर के स्वरूप द्वारा अणुओं के निर्माण तथा संघटन के विषय में सुनते हैं जो न्याय दृष्टिकोण के अधिक समान है।

जीव के स्वरूप के विषय में व्याख्या करते हुए यह कहा गया है आत्माएँ इस अर्थ में अणु हैं कि उन्हें केवल सीमित ज्ञान प्राप्त है। यथार्थ में जीव शिव अथवा ईश्वर स्वरूप है परंतु इसके उपरांत भी उनमें एक स्वाभाविक अशुद्धि है जो संभवतः उनमें माया के प्रवेश के कारण है। इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा गया है कि अशुद्धि का स्वरूप क्या है तथा जीव में यह किस प्रकार आई। श्रीकुमार वेदांतियों के समान इस अशुद्धि की व्याख्या अविद्या आदि से करते हैं। परंतु अघोर शिवाचार्य इस विषय में कुछ नहीं कहते हैं। यह कहा गया है कि जब कर्म के फलों द्वारा अशुद्धि परिपक्व हो जाएगी तब ईश्वर गुरु के रूप में उपयुक्त दीक्षा देगा जिसमें अशुद्धि जल जाए तथा इस प्रकार स्वच्छ अथवा शुद्ध किए हुए जीव शिव का स्वरूप प्राप्त कर सकें। ऐसी प्राप्ति से पूर्व शिव कुछ ऐसी आत्माओं को जिनकी अशुद्धियाँ

स्वच्छ हो गई हैं, ससारा व अघीक्षक के रूप म के लिए विद्येश्वर अथवा मन्त्रेश्वर के रूप म नियुक्त कर सकता है। पुनजन्म के चक्र क समय, जिन जीवा का अपन कर्मों के परिपक्व होन के लिए इससे निकलना पडता है वे पुर्यष्टक नामक (जिसम तन्मात्र, बुद्धि, अहकार तथा मनस् सम्मिलित हैं) सूक्ष्म शरीरा के माध्यम से कर्मोपभोग करत है।

तथाकथित पाश भी यथाथ म शिव की शक्ति की ही एक उत्पत्ति है तथा इसी कारण पाश एक आवरण शक्ति हो सकती है और मोक्ष के समय उसे हटाया भी जा सकता है। शिव तत्व ही जो बिंदु भी कहलाता है पाँच प्रकार के शुद्ध तत्वा क तथा पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों अर्थात अशुद्ध तत्वा के रूप म स्वय उत्पन्न हो जाता है। ये पाँच प्रकार के शुद्ध तत्व शिव तत्व, शक्ति तत्व, सदाशिव तत्व ईश्वर तत्व तथा विद्या तत्व है। इन शुद्ध तत्वा के कलवरा की उत्पत्ति महामाया नामक शुद्ध माया से होती है। इनके पश्चात काल, नियति, कला, विद्या तथा राग क शुद्धाशुद्ध तत्व हैं जो आत्मा तथा ससार के मध्य एक प्रकार की कडी हैं, जिससे आत्मा ज्ञान प्राप्त कर सक तथा कम कर सके। माया के पश्चात अव्यक्त अर्थात् गुण तत्व है तथा गुण तत्व से बुद्धि तत्व तथा उसस अहकार और उससे मनस, बुद्धि, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच तन्मात्र एव पाँच स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

जसाकि हमने ऊपर इगित किया है अधिकाशत सिद्धान्ती विचारक इस विचार पर दढ हैं कि उपादान कारण निमित्त कारण से भिन्न हैं। यह उपादान कारण माया प्रकृति अथवा अणु एव उनके काय के रूपा मे प्रकट होता है तथा निमित्त कारण ईश्वर अर्थात् शिव है। परतु ये सभी सप्रदाय यह मानते हैं कि सवज्ञता तथा सवशक्तिमत्ता से पूण शिव समस्त शक्ति का उद्गम है। यदि ऐसा हो तो माया की समस्त शक्तियाँ तथा उससे उत्पन्न समस्त तत्व शिव के ही स्वरूप होने चाहिए तथा तब निमित्त कारण से भिन्न उपादान कारण की स्वीकृति एक अनावश्यक विरोध हो जाती है। जसाकि प्रणालिया के हमार अध्ययन से स्पष्ट है विभिन्न प्रणालियो को इस विरोध से बचने के लिए, परतु स्पष्टत बिना किसी सफलता के, विभिन्न प्रकार से अपना तक परिवर्तित करना पडा है। जब नयायिक कहता है कि उपादान कारण, सबध तथा निमित्त कारण भिन्न हैं तथा निमित्त कारण के रूप म ईश्वर ससार का विधान करता है, तथा कम के अनुरूप वह ससार का नतिक शासक है, तब कोई विरोध नही होता। ईश्वर स्वय किसी अन्य आत्मा के समान है केवल यही अतर है कि वह सवज्ञाता तथा सवव्याप्त है एव वह नि शरीर व इन्द्रियरहित है। वह सवका साक्षात् प्रत्यक्षीकरण करता है। पुन, यदि योग दृष्टिकोण को लें, तब यह देखेंगे कि ईश्वर प्रकृति अथवा उपादान कारण से भिन्न है तथा प्रकृति म प्रवेश करने वाली शक्ति ईश्वर की नहीं है। उसकी एक

अनादि इच्छा (संकल्प) है जिसके द्वारा सृष्टि के उद्भव तथा प्राकृतिक नियमों को समझने के लिए यह माना जाता है कि उसके नित्य संकल्प द्वारा कर्मों के अनुसार विभिन्न धाराओं में प्रकृति के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाया जा सकता है। ईश्वर अन्य किसी पुरुष के समान है, केवल उसमें क्लेश नहीं है जिनसे साधारण पुरुष संयोजित है, तथा इसके कोई कर्म एवं कर्म के पूर्व संस्कार नहीं है। ऐसा दृष्टिकोण इस प्रणाली को विरोध से भी बचा लेता है, परंतु सिद्धांत सम्प्रदायों को ईश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद के मध्य अस्थिर स्थिति का समर्थन करने के लिए कोई संगत तर्क नहीं है। शांकर वेदांत में अज्ञान भी यथार्थ है, तथा एक मात्र वही उपादान तथा निमित्त कारण है। जगदाभास केवल एक आभास है तथा इससे पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। यह माया द्वारा उत्पन्न एक प्रकार का भ्रम है जो न सत् है और न असत्, क्योंकि यह भ्रम की परिभाषा के अंतर्गत आ जाता है। धर्म तथा दर्शन के विरोध से बचने के लिए शैव सम्प्रदाय के भिन्न रूपों को पृथक करना होगा।

शिव-तत्व, जिससे उपर्युक्त पांच शुद्ध तत्व (सदाशिव आदि) उत्पन्न होते हैं, बिंदु अर्थात् सभी परिणामों से अतीत शुद्ध ज्ञान तथा क्रिया शक्ति कहलाता है। यह माना जाता है कि यह शुद्ध शिव या बिंदु अथवा महामाया सृष्टि के समय विभिन्न शक्तियों से परिपूर्ण रहते हैं, तथा इन शक्तियों में तथा इनके द्वारा माया और उसके विकार विश्व की उत्पत्ति के लिए क्रियान्वित होते हैं, जो आत्माओं के बंधन का आधार हैं। विश्व को उत्पन्न करने के लिए अनेक शक्तियों की यह गति अनुग्रह कहलाती है। इन शक्तियों द्वारा जीवों तथा निर्जीव पदार्थों का उचित सम्बन्ध करवाया जाता है, तथा सृष्टि का कार्य चलता रहता है। अतः सृष्टि प्रत्यक्ष रूप में शिव के कारण नहीं, वरन उसकी शक्ति के कारण है। आगे अधिक कठिनाई तब अनुभव होती है जब यह कहा जाता है कि यह शक्तियां ईश्वर से भिन्न नहीं है। ईश्वर के संकल्प तथा प्रयास केवल उसकी शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं।[1]

ईश्वर के ज्ञान तथा कर्म के बीच दोलायमान विभिन्न व्यापार सदाशिव, ईश्वर और विद्या के भिन्न तत्वों के रूप में प्रदर्शित किए गए हैं। परंतु ये व्यापार दिक तथा काल में घटित अस्थायी घटनाएं नहीं हैं वरन केवल बौद्धिक वर्णन हैं। वास्तव में शिव तत्व सदैव एक समान रहता है। विभिन्न क्षण केवल काल्पनिक हैं। अनेक

---

[1] इस प्रकार 'मातंग परमेश्वर' पृ० ७६, से उद्धृत करते हुए श्रीकुमार कहते हैं तदुक्तं मातंगे

परापि परा सूक्ष्मा जाग्रतो द्योतनक्षमा,
तया प्रभुः प्रबुद्धात्मा स्वतंत्र स सदाशिव।

शक्तियों से युक्त केवल शिव-तत्व ही है, जिसके बौद्धिक मूल्यांकन के लिए उसके अनेक भेद किए जा सकते हैं।[1]

सांख्य प्रणाली में यह माना गया था कि प्रकृति स्वतः अपने स्वयं के नैसर्गिक स्वभाव के कारण, समस्त जीवों को, उनके अनुभवों की सामग्री प्रदान करने के लिए विकास की प्रक्रिया में अग्रसर होती है तत्पश्चात उनको मुक्त कर देती है। सिद्धांत-प्रणालियों में यही विचार अनुग्रह शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। यहाँ शक्ति का तात्पर्य है अनुभव की उत्पत्ति तथा मोक्ष के लिए अनुग्रह से संयोग करना है। शिव को अटल तथा अचल मानने के कारण इस प्रणाली में सगुण ईश्वर को स्थान नहीं है। निर्गुण सत्ता के साथ अनुग्रह का विचार संगत रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकता।

ईश्वर की शक्तियाँ जिन्हें हम उसका संकल्प अथवा प्रयास कहते हैं कारण हैं तथा माया उपादान है जिससे संसार का विधान होता है, परंतु यह माया इस रूप में इतनी सूक्ष्म है कि इसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। यह सभी के लिए एक सामान्य कारण पदार्थ है। यह माया हममें विभ्रम उत्पन्न करती है तथा हममें उनसे अभेद बुद्धि भी पैदा करवाती है जो हमसे भिन्न हैं। माया का यह भ्रमात्मक कार्य है। इस प्रकार भ्रम को अन्यथा-ख्याति के समान प्रकार का मानना होगा अर्थात् वह भ्रम जिसमें मनुष्य एक वस्तु को अन्य वस्तु समझता है जैसाकि योग में है। समस्त कर्म माया में सूक्ष्म रूप में निहित माने जाते हैं तथा जीवों के लिए जन्म व पुनर्जन्म के चक्रों को चलाते हैं। इस प्रकार माया उन अन्य समस्त वस्तुओं की द्रव्यात्मक सत्ता है, जिनका हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

परिवर्तनशील माया तथा अपरिवर्तनशील ईश्वर अथवा शिव के संबंध के विषय में मुख्य भ्रांति की व्याख्या हमने पहले ही की है। परंतु इसके पश्चात यह प्रणाली आस्तिकवाद की ओर सुगमता से मुड़ जाती है, तथा समस्त जीवों को अनुभव की सामग्री प्रदान करने के लिए ईश्वर की शक्तियों द्वारा ईश्वर के संकल्प से माया किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है यह स्पष्ट करती है। काल भी माया का एक कार्य है। काल में तथा काल द्वारा नियति आदि के अन्य तत्व उत्पन्न होते हैं। नियति का अर्थ सबको नियंत्रित करना है। यह उसी अर्थ में प्रयुक्त है जिस अर्थ में हम प्राकृतिक नियम शब्द का प्रयोग करते हैं जैसे बीज में तेल का अस्तित्व, भूसी में दाने का तथा इस प्रकार की अन्य समस्त नैसर्गिक प्राकृतिक घटनाएं। नियति शब्द की उत्पत्ति 'नियम' से है जो दिक् तथा काल में कार्य करता है। तथाकथित कलातत्व नियति

[1] तत्व वस्तुत एकं शिवसंज्ञा चित्र शक्ति शत-खचितम्,
शक्ति व्यापृति भेदात्तस्येते कल्पिता भेदा। —तत्व प्रकाश २ १३

जाती हैं, जिससे वे बहुत मात्रा में स्वय ज्ञान प्राप्त करने तथा क्रिया करने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं। इस प्रकार कला वह है, जो कर्तृत्व अभिव्यक्त करती है (कर्तृत्व व्यंजिका)। काल के द्वारा ही अनुभव व्यक्तियों से संयोजित किए जा सकते हैं।[1] कला के कार्य से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा ज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थों को समस्त अनुभव सम्भव होते हैं।

सांख्य प्रणाली मे यह माना जाता है कि बुद्धि पदार्थों के सम्पर्क में आती है, तथा तब उनके आकार ग्रहण करती है। वहाँ स्थित अध्यक्ष पुरुष द्वारा ऐसे बुद्धिगत आकार प्रकाशित किए जाते हैं। तत्त्व प्रकाश में प्रतिपादित सिद्धांत प्रणाली इस विचार से असहमत है। यह मानती है कि अक्रिय होने के कारण पुरुष प्रकार उत्पन्न नहीं कर सकता। जिसे बुद्धि जानती है, वह विद्या या ज्ञान के तत्त्व द्वारा ग्रहण होता है, क्योंकि विद्या पुरुष से भिन्न है, तथा वास्तव में वह माया में उत्पन्न है। वह पदार्थों बुद्धि तथा आत्मा के मध्य एक मध्यस्थ कड़ी बन सकती है। माया से उत्पन्न होने के कारण, बुद्धि स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के लिए विद्या एक पृथक पदार्थ के रूप में उत्पन्न होती है। यह एक आश्चर्यपूर्ण सिद्धांत है जो सांख्य से भिन्न है, परन्तु ज्ञान मीमांसीय विचार या व्याख्या के रूप में दार्शनिक दृष्टि से निरर्थक ही है। साधारणतः राग का अर्थ मोह है, जो समस्त व्यक्तिगत प्रयासों का सामान्य कारण है। यह बुद्धि का गुण नहीं है, वरन् एक सर्वथा भिन्न तत्त्व है। जब किसी की प्रवृत्ति किसी भी इन्द्रिय विषय की ओर नहीं हो तब भी 'राग' हो सकता है, जो एक व्यक्ति को मोक्ष की ओर अग्रसर करेगा।[2] पशु से संयोजित यह काल नियति कला, विद्या तथा राग की समष्टि उसे पुरुष बनाती है जिसके लिए भौतिक संसार अव्यक्त, गुण आदि के रूप में विकसित होता है। यहाँ भी सांख्य प्रणाली से इसकी भिन्नता की ओर ध्यान देना चाहिए। सांख्य में अव्यक्त का निर्माण गुणों की साम्यावस्था से होता है, परन्तु यहाँ गुण अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं जो एक पृथक् तत्त्व है।

शैव प्रणाली निम्नलिखित तीन प्रमाण स्वीकार करती है प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द प्रमाण। प्रत्यक्ष में वह सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनों को स्वीकार करती है, जिनकी व्याख्या इस रचना के प्रथम दो भागों में की गई है। अनुमान के विषय में

---

[1] इस प्रकार 'मातंग' से उद्धृत करते हुए श्री कुमार कहते हैं (पृ० १२१) यथाग्नि-तप्त मृत्पात्र जतुनालिप्ते क्षमम् तथाणु कलया विद्ध भोग शक्नोति वासितु भोग-पात्री कला नेया तदाधारश्च पुद्गल।

[2] इस प्रकार–श्री कुमार कहते हैं (पृ० १२४) अस्य विषयावभासेन विना पुरुष प्रवृत्ति-हेतुत्वाद् बुद्धि धर्म वलक्षण्य सिद्धि मुमुक्षोर्विषय-तृष्णस्य तत्साधन विषयावभासेन विना प्रवृत्तिदृष्टा।

कार्य से कारण का अनुमान तथा कारण से कार्य का अनुमान तथा तृतीय प्रकार का सामान्यतः दृष्ट अनुमान स्वीकार करते हैं।

बुद्धि से उत्पन्न अहंकार का तत्व स्वयं को जीवन तथा आत्मचेतना की भावनाओं में अभिव्यक्त करता है किन्तु आधारभूत तत्व 'आत्मा' इन भावनाओं से अप्रभावित रहती है। यह प्रणाली सात्विक राजस तथा तामस अहंकार के सांख्य के समान त्रिधा विभाजन में विश्वास करती है। पूर्णतया सांख्य के समान ही अन्य तत्व हैं जिनकी विस्तृत व्याख्या की पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

शिव तत्व तथा माया का सम्बन्ध परिग्रह शक्ति कहलाता है। इस सम्बन्ध की प्रक्रिया इस अर्थ में समझी जाती है कि शिव की उपस्थिति मात्र से माया में विविध रूपान्तर होते हैं तथा वही इसे संसार के रूप में इसके विकास की ओर अथवा समय आने पर विनाश की ओर तथा पुनः सृष्टि की ओर प्रवृत्त करती है। इसकी तुलना सूर्य तथा कमल से की जा सकती है। केवल सूर्य की उपस्थिति में कमल स्वयं खिल जाता है यद्यपि सूर्य सर्वथा अपरिवर्तित रहता है। इसी प्रकार चुम्बक की उपस्थिति में लौह चूर्ण में गति होती है। इस तथ्य की विविध धार्मिक शब्दों द्वारा विविध व्याख्याएं की गई हैं जैसे ईश्वर का संकल्प ईश्वर का अनुग्रह तथा ईश्वर द्वारा समस्त जीवित प्राणियों का बंधन। पुनः इसी अर्थ में समस्त संसार को ईश्वर की शक्ति तथा संकल्प की अभिव्यक्ति माना जा सकता है तथा ईश्वरवाद की स्थिति का समर्थन किया जा सकता है। दूसरी ओर क्योंकि एकमात्र शिव ही एक परम तत्व है उसके अतिरिक्त कुछ भी होना सम्भव नहीं इस प्रणाली की व्याख्या शंकर की व्याख्या के समान शुद्ध अद्वैतवाद के रूप में की गई है जहाँ विविध सांसारिक पदार्थ अनेकता के आभासमात्र के रूप में प्रकट होते हैं जबकि यथार्थ में केवल शिव का ही अस्तित्व है। इसी आधार पर सूत-संहिता के यज्ञ वैभव अध्याय में शिवाद्वैत प्रणाली की व्याख्या की गई है।

ईश्वर की शक्ति एक है यद्यपि विभिन्न संदर्भों में यह अनन्त तथा अनेक प्रतीत हो सकती है। यही शुद्ध शक्ति, शुद्ध संकल्प तथा बल के समरूप है। माया के परिकलना की व्याख्या सृष्टि के द्वारा जीवों के लाभ के लिए ईश्वर के अनुग्रह के विस्तार के रूप में की गई है। ज्ञान के रूप में ईश्वर शिव कहलाता है तथा कर्म के रूप में शक्ति कहलाता है। जब दोनों का संतुलन हो जाता है तब हमें सदाशिव प्राप्त होता है। जब कर्म की प्रबलता होती है तब यह महेश्वर कहलाता है।

इस प्रणाली में कर्म सिद्धान्त सामान्यतः वैसा ही है जैसा कि बहुत सी अन्य प्रणालियों में है। यह सामान्यतः बहुत अंशों में सांख्य सिद्धान्त से सहमत है, परन्तु सदाशिव आदि पांच तत्व अन्य कहीं नहीं पाए जाते हैं तथा ये केवल पौराणिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं।

'शिव ज्ञान सिद्धियर' केवल सदाचरण, शिष्ट समाषण, सदभाव मैत्री, निर्दोष सयम दया सम्मान, श्रद्धा, सत्यता, ब्रह्मचय आत्म सयम विवेक आदि नियमा का ही प्रतिपादन नही करता वरन् ईश्वर के प्रति प्रेम तथा उसकी भक्ति की आवश्यकता पर भी बल दता है।

वीरशवमत के मूलाधार श्रीकरभाष्य मे श्रीपति पडित के वणित सिद्धान्त।

श्रीपति पडित चौदहवी शताब्दी के उत्तराद्ध म विद्यमान थ तथा ब्रह्मसूत्र पर अन्तिम टीकाकारा म एक थे। श्रीपति पडित का कथन है कि उन्ह ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने की प्रेरणा अगस्त्यवत्ति नामक निबन्ध से मिली जो अब प्राप्य नही है। उनकी रैवण क प्रति भक्ति है जिनको उन्होने पथ का महान सत माना है तथा मरुल के प्रति भी भक्ति है, जो षटस्थल सिद्धात के प्रतिपादक माने जाते है। व राम की भी भक्ति करत हैं जो द्वापर युग मे विद्यमान थे तथा जिन्होन परपरा स आए शवमत की स्थापना के लिए मीमासा तथा उपनिषदा के मुख्य तत्वा का सकलन किया।

श्रीकर भाष्य को भिन्न श्रुतिया तथा स्मृतिया के विचारा के निश्चित वर्गीकरण-कता के रूप म माना जाना चाहिए तथा इसका मुख्य श्रेय राम को दना चाहिए। परतु यद्यपि यह रचना वेदात के द्वैत अथवा अद्वैत विचारा की व्याख्या स स्वय को पृथक रखती है तथापि यह एक एस सिद्धात को मानती है जिसको विशिष्टाद्वैत कहा जा सकता है तथा यहा प्रतिपादित सिद्धात के मता म वीरशव कहलान वाले शवो का भी समथन मिलता है। यह स्मरण रखना है कि श्रीपति रामानुज के पर्याप्त समय बाद हुए तथा उनके लिए यह सम्भव था कि उन्होने कुछ विचार रामानुज के विचारा से लिए हो।

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा सूत्र की अपनी व्याख्या म शकर ब्रह्मन क प्रति जिज्ञासा की आवश्यकता की ओर अग्रसर करने वाली स्थिति को महत्व दत हैं तथा रामानुज भी इसी प्रश्न का विवेचन करते हैं एव उनक विचार से, पूव मीमासा तथा वेदात दोना एक ही अध्ययन के विषय ह परतु श्रीपति यहा इस प्रश्न को छोड दत हैं तथा बतलात हैं कि इस सूत्र का उद्देश्य ब्रह्मन क स्वरूप तथा उसके सत अथवा असत होन के विषय म जिज्ञासा उपस्थित करना रा है। उनके अनुसार इस सूत्र का उद्देश्य ब्रह्मन के जीवा पर प्रभाव क अन्वषण म भी है।

श्रीपति न पूव मीमासा तथा वेदात दोना अनुशासना का एक ही विज्ञान के रूप म स्वीकार किया परतु चार्वाक के इस सिद्धात का कि जीवन भौतिक सयागा द्वारा ही उत्पन्न है, उन्होने अत्यधिक विरोध किया। वह यह स्पष्ट करत हैं कि चार्वाक के ब्रह्मन की सत्ता का नकारने की बात इस मान्यता पर आधारित है कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है यह बतान के लिए, दूसर ससार से कोई नही आया है। श्रीपति यह भी इगित करत हैं कि वदिक शाखाओ म कुछ एस सम्प्रदाय भी ह जो ईश्वर के अथवा

जीवो पर उसकी शक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, तथा जिनके विचारानुसार प्रार्वादक भाषा मे अपूर्व कहलाने वाली कम की शक्ति द्वारा ही मनुष्यों के सुख व दु खो की व्याख्या की जा सकती है। अत यदि शरीर तथा आत्मा को एक ही माना जाय अथवा व्यक्ति के कर्मों के उचित रूप से फलित होने के लिए ईश्वर की आवश्यकता न मानी जाय तो वेदात के अध्ययन के इन दो प्रयोजनो की आवश्यकता नही रह जाती।

अत इस जिज्ञासा की उत्पत्ति करने वाला सशय कही अन्यत्र स्थित होना चाहिए अर्थात् भगवान् शिव के अथवा जीवो के स्वरूप के प्रति होना चाहिए। केवल भगवान् शिव के अस्तित्व को यथार्थ मानने की घोषणा अनेक वैदिक ग्रथो म की गई है। हमारी आत्मचेतना म अभिव्यक्त होने वाली आत्मा भी भिन्न सत्ता के रूप म ज्ञात है। ऐसा होने पर सशय किस प्रकार उदित हो सकता है? इसके अतिरिक्त ब्रह्मन का स्वरूप हम केवल तर्क द्वारा ज्ञात नही कर सकते, क्योकि अनित्य आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने से नित्य ब्रह्मन के स्वरूप का बोध सभव नही है। इसके अतिरिक्त उपनिषद घोषित करते हैं कि ब्रह्मन, चेतन तथा अचेतन दो प्रकार का है। अत ब्रह्म ज्ञान होने के उपरात भी अचेतन ब्रह्मन् का ज्ञान शेष रह जाता है इसलिए मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकेगा।

दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि तर्क का उद्देश्य इसका निश्चित ज्ञान प्राप्त करना है कि क्या ब्रह्मन व आत्मा एक है। उसके समर्थन के लिए अनेक ग्रथ हैं, परन्तु फिर भी हमारी स्वय की आत्म चेतना हम व्यक्तियो के रूप मे अभिव्यक्त करती है इससे विरोध उत्पन्न होता है। इसका सामान्य उत्तर यह है कि हमारी अह चेतना की पृथक सत्ता हमे सदैव इस बात की ओर प्रवृत्त करेगी कि हम आत्मा और ब्रह्मन के तादात्म्य का कथन करने वाले उपनिषदीय शास्त्रो को गलत समझें। परन्तु दूसरी ओर यह भी उत्तर हो सकता है कि अविद्या द्वारा ब्रह्मन् हमारे व्यक्तित्व के आभास की सृष्टि करता है और हमे यह आभास होता है कि 'मैं एक पुरुष हूँ।' क्योकि ऐसे सर्व-व्यापी भ्रम के बिना मोक्ष का प्रश्न ही नही उठ सकता। इसके अलावा शुद्ध ब्रह्म तथा समस्त जागतिक पदार्थ परस्पर उतने ही भिन्न हैं, जितना प्रकाश से अधकार, फिर भी ऐसा भ्रम स्वीकार करना ही पडता है। क्योकि अन्यथा समस्त सासारिक व्यवहार ही समाप्त हो जाएगा। अत ब्रह्मन के निश्चित स्वरूप, जीव तथा ससार के सच्चे स्वरूप के अन्वेषण के लिए कदाचित् ही कोई स्थान रह जाता है। क्योकि उस परात्पर ब्रह्मन की अनत सत्ता को स्वीकार करना पडता है, जिसका शब्दो से वर्णन नहीं किया जा सकता। अत ब्रह्मन समस्त तर्कों से परे है।

ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अनुमान प्रमाण द्वारा तथा उपनिषद एव श्रुति के प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के विषय म श्रीपति प्रथम

प्रश्न प्रतिपादित करते हैं। हमें अनुभव द्वारा ज्ञात है कि प्रतिभा योग्यता तथा धन आदि युक्त होते हुए भी कुछ मनुष्य अपने लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते, जबकि सब कुछ न होते हुए भी अन्य मनुष्य सफल हो जाते हैं। श्रीपति के अनुसार यह निश्चित रूप से एक सर्वज्ञ प्रभु के अस्तित्व तथा मानव जाति से उसके संबंधों को प्रमाणित करता है। साधारण अनुभव में जब हम किसी मंदिर को देखते हैं तब हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इसका कोई निर्माता होगा। इसी प्रकार संसार के दृष्टांत में भी हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इसका कोई निर्माता अवश्य ही होगा। चार्वाक का यह तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता कि पदार्थों के संयोग से वस्तुएँ इसी में से उत्पन्न हो जाती हैं क्योंकि हमने कभी पदार्थों के संयोग से ऐसे जीव का उत्पन्न होना नहीं देखा जैसा हम पक्षियों अथवा पशुओं में पाते हैं। जहां तक गोबर आदि के दृष्टांत का प्रश्न है उनमें किसी प्रकार कुछ जीव पड़ गए होंगे जिससे कि उनसे मक्खियों तथा कीटाणुओं का जन्म हो सके। यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्ति के कर्मानुसार ईश्वर दंड अथवा पुरस्कार प्रदान करता है तथा कर्म स्वतः फलित नहीं होते, वरन ईश्वर की इच्छानुसार फलित होते हैं।

कुछ उपनिषदों में ऐसा कहा गया है कि प्रारम्भ में कुछ भी नहीं था, परंतु इस कुछ नहीं को अस्तित्व की एक सूक्ष्म अवस्था माना जाना चाहिए, क्योंकि अन्यथा समस्त वस्तुएँ कुछ नहीं में से उत्पन्न नहीं होतीं। उपनिषदों में उल्लिखित इस असत का अर्थ आकाश मात्र के समान केवल अभाव मात्र अथवा असंभव कल्पना मात्र नहीं है। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में भी शुद्ध निषेध के इस विचार का खंडन किया है (२१७)। वास्तव में वेद तथा आगम अनंत शक्तियों के साथ भगवान शिव को सूक्ष्म अथवा स्थूल संसार का कारण घोषित करते हैं। किन्तु मनुष्य ब्रह्मन से सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि मनुष्य सदैव अपने पापों तथा दुःखों से पीड़ित रहते हैं। जब उपनिषद् यह कहते हैं कि ब्रह्मन जीव से एक है तब स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इन दोनों में परस्पर सर्वथा भिन्न होते हुए भी किस प्रकार तादात्म्य माना जा सकता है?

श्रीपति का विचार है कि जीव का ब्रह्मन से तादात्म्य बताने वाले औपनिषद वाक्यों का तात्पर्य इस सादृश्य के आधार पर समझा जा सकता है जिस प्रकार सरिताओं का सागर में प्रवेश होकर उसमें एक हो जाने की बात समझी जा सकती है। हमें एक 'भ्रम' की कल्पना की आवश्यकता नहीं है, जैसाकि शंकर मानते हैं। भ्रम के बिना मोक्ष की समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि 'हमें ज्ञात नहीं' तब हमें अज्ञान का प्रत्यक्ष लक्षण अनुभव होता है।

शंकर के इस विचार का श्रीपति दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं कि चित् स्वरूप वाला एक भेद रहित ब्रह्मन है जो विभिन्न प्रकार के स्वरूपों में प्रकट होता है। ब्रह्मन्

जीवों से सर्वथा भिन्न स्वरूप है। यदि ब्रह्म में अविद्या का गुण मान लिया जाए तो वह ब्रह्म नहीं रह जाएगा। इसके अतिरिक्त, ऐसी किसी अविद्या से उस ब्रह्म को विभूषित नहीं किया जा सकता जिसका प्रायः श्रुति ग्रंथों में, शुद्ध तथा विकार रहित अथवा मन से रहित के रूप में वर्णन किया गया है। यदि अविद्या को ब्रह्म में माना जाए तो हमें मोक्ष के लिए इस अविद्या को हटाने के लिए किसी दूसरी सत्ता को मानना होगा। ब्रह्म स्वयं इसको खोज कर धारित नहीं सकता क्योंकि एक क्षण में विद्या से घिरा तथा दूसरे क्षण में उससे मुक्त होने के कारण यह एक समान रूप में अपनी निरपेक्ष तादात्म्य नहीं रख सकेगा। संसार का स्वप्न के समान भ्रमात्मक प्रत्यक्षों से निर्मित होने का विचार भी दोषप्रद है क्योंकि संसार में एक निश्चित क्रम तथा व्यवस्था है जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। बादरायण स्वयं भी बाह्य संसार के अस्तित्व के न होने के विचार का खंडन करते हैं (२ २ २७ २८)। इसके अतिरिक्त, भेदरहित ब्रह्म के अस्तित्व को केवल शब्द प्रमाण व अनुमान के प्रमाण पर ही सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु क्योंकि ये दोनों भी हमारे भेदयुक्त विचारात्मक संसार के अंतर्गत सम्मिलित हैं अतः ये हम उनसे पर अग्रसर नहीं कर सकते और न भेदरहित ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि वेदों के सत्य को स्वीकार किया जाय, तब द्वैत की स्थापना हो जाएगी तथा यदि उसे स्वीकार नहीं किया जाय, तब ब्रह्म की एकमात्र सत्ता को सिद्ध करने के लिए कुछ नहीं रहेगा। इसके अलावा ऐसा कुछ प्रमाण नहीं है जिससे संसार के भ्रम का सिद्ध किया जा सके। अविद्या स्वयं यथेष्ट प्रमाण नहीं मानी जा सकती क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश माना जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे ब्रह्म की स्वीकृति का अर्थ एक ऐसे सगुण ईश्वर की अस्वीकृति होगा जिसका समर्थन गीता सहित अनेक धर्म ग्रंथों ने किया है।

उपनिषदों में के वचन जो संसार को नाम तथा रूप से निर्मित मानते हैं, आवश्यक रूप से इस विचार की सिद्धि नहीं करते कि केवल ब्रह्म ही सत्य है तथा संसार मिथ्या है। क्योंकि यही उद्देश्य शिव को संसार का उपादान कारण मान कर प्राप्त किया जा सकता है जिसका यह अर्थ नहीं कि संसार मिथ्या है। सम्पूर्ण आशय यह है कि जिस रूप में भी संसार प्रकट हो, यह यथार्थ में शिव के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[1]

जब बादरायण कहते हैं कि संसार को ब्रह्म से भिन्न नहीं किया जा सकता तब उसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि ब्रह्म से उत्पन्न अनेक रूप संसार उससे अभिन्न है।

---

[1] वाचारम्भण विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतो अपवाद दर्शनादध्यासो ग्राह्य इति चेन्न। वाचारम्भण-श्रुतीनां शिवोपादानत्वात् प्रपंचस्य तत्तादात्म्य बोधकत्व विधीयते न च मिथ्यात्वम्। —श्रीकर भाष्य, पृ० ६।

संसार को ब्रह्मन् का शरीर नहीं माना जा सकता तथा शास्त्र यह घोषणा करते हैं कि प्रारम्भ में केवल शुद्ध भाव का ही अस्तित्व था। यदि ब्रह्मन् से अन्य किसी को भी स्वीकार किया जाय तब शुद्ध अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। क्योंकि दोनों परस्पर सर्वथा विरोधी हैं, अतः एक को दूसरे का भाग स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा दोनों का किसी प्रकार भी तादात्म्य नहीं किया जा सकता। अतः सामान्य मार्ग यही होगा कि शास्त्रों की व्याख्या ब्रह्मन् के साथ द्वैत तथा अद्वैत दोनों मानते हुए की जाए। इस प्रकार ब्रह्मन् संसार से भिन्न तथा अभिन्न दोनों है।

श्रीपति का विचार है कि श्रुति पाठों के आधार पर एक ब्राह्मण को, वैदिक कर्म-काण्डों में दीक्षित होने के कारण जितना सम्भव हो शैव प्रकार की शिक्षा लेना तथा शैव चिह्न अर्थात लिंग धारण करना आवश्यक है। इसके उपरान्त ही वह व्यक्ति उस ब्रह्मन् के स्वरूप के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है जिसके लिए ब्रह्म सूत्र लिखा गया है।[1] ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा आवश्यक रूप में हमें ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में समस्त प्रकार के तर्कों से परिचित कराती है।

यद्यपि श्रीपति लिंग धारण करने तथा शैव प्रकार की दीक्षा लेने की आवश्यकता को प्रमुखता देते हैं, तथापि केवल उससे ही मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है जब हम ब्रह्मन् के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो। ब्रह्मन् के स्वरूप के लिए तर्क उपस्थित करते हुए श्रीपति आगे कहते हैं कि जहाँ भी शास्त्रों ने ब्रह्मन् की व्याख्या भेदरहित एवं निर्गुण के रूप में की है वहाँ सर्वत्र उनका तात्पर्य सृष्टि के पूर्व काल से रहा है। भेदरहित शिव ही अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा संसार की सृष्टि करता है तथा उसके वर्तमान रूप में उसे प्रकट करता है वैसे उसके सतत आधार के रूप में सर्वदा शिव विद्यमान रहता है। इस प्रकार संसार भ्रम नहीं वरन् सत्य है, तथा स्वयं शिव स्वरूप है। जैसा कि हम देखेंगे यही एक मुख्य विचार है जिसका अधिकतम विस्तार किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मन् दो रूपों में प्रतीत होता है—शुद्ध चेतन रूप में एवं अचेतन भौतिक संसार के रूप में तथा इस विचार का शास्त्रों के

---

[1] श्रीकर भाष्य पृ० ८। धार्मिक शास्त्र ग्रन्थों के प्रमाण पर श्रीपति शिव के चिह्न लिंग के, उस विशेष विधि से धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता विस्तार से प्रतिपादित करते हैं तथा यह बतलाते हैं कि यह लिंग धारण उस लिंग से भिन्न है जिसका निषेध वेदादि में है।

श्रीपति इंगित करते हैं कि लिंग के लिए केवल वही व्यक्ति योग्य है जो साधना-सम्पद नामक उन चार उप साधनों से युक्त है, जिनमें शम, दम, तितिक्षा उपरति, मुमुक्षत्व आदि सम्मिलित हैं।

वचनों से समर्थन किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मन् निराकार तथा साकार है। यह शुद्ध ब्रह्मन् ही है जो दुःख सुख, कारण-कार्य तथा अनेक परिवर्तनशील सत्ताओं के रूप में होता है। ऐसी व्याख्या हमारे अनुभवों के अनुरूप होगी तथा इसका शास्त्रों से भी पूर्णतः सामंजस्य होगा।

विरोधियों का यह तर्क भी कि ईश्वर भ्रमात्मक है, अमान्य है क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक भ्रमात्मक पदार्थ के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए उस पर विश्वास नहीं कर सकता। ऐसे ईश्वर का वही स्तर होगा जो किसी अन्य भ्रमात्मक पदार्थ का होगा। इसके अतिरिक्त भक्त द्वारा पूजित, सम्मानित होकर ईश्वर उसका उपकार कैसे कर सकता है यदि वह भ्रमात्मक है।

इसके उपरांत श्रीपति शुद्ध भेदरहित ब्रह्मन के विचार के खंडन का प्रयास करते हैं तथा प्रस्तुत रचना के तृतीय भाग में रामानुज के उन तर्कों का, जिनका वर्णन हमने किया है संक्षिप्त विवरण देते हैं, इस प्रकार हमारा द्वितीय सूत्र से परिचय कराया जाता है जिसमें ब्रह्मन का उस तत्व के रूप में वर्णन है जिसमें से संसार की उत्पत्ति हुई है।

ब्रह्मसूत्र १ १-२ पर टीका करते हुए श्रीपति कहते हैं कि सत् एवं आनंद के तादात्म्य के रूप में शुद्ध चित् संसार की सृष्टि तथा संहार का कारण है तथा साथ ही उसका मूल आधार है। निराकार ब्रह्मन बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के समस्त वस्तुओं की सृष्टि कर सकता है, जिस प्रकार निराकार वायु जंगल को हिला सकती है अथवा आत्मा स्वप्नों की सृष्टि कर सकती है। जिन समस्त आकारों में हम ईश्वर को पाते हैं, उन्हें ईश्वर भक्त के लाभ के लिए धारण करता है।[1] वह भेदाभेद सिद्धांत के समान प्रकार के कुछ शास्त्रों के वचनों का भी उल्लेख करते हैं जो ईश्वर तथा संसार का संबंध सागर तथा लहरों के समान मानते हैं। ईश्वर का केवल एक भाग भौतिक संसार के रूप में रूपांतरित माना जा सकता है। इस प्रकार शिव, निमित्त तथा उपादान कारण, दोनों है। इन दोनों विचारों में अंतर समझना आवश्यक है एक तो यह कि निमित्त कारण तथा उपादान कारण में कोई अंतर नहीं है और दूसरा यह कि दोनों कारणों के रूप में वही है।[2] मिथ्या अध्यास का कोई प्रश्न नहीं उठता है।

---

[1] भक्तानुग्रहार्थं यत् काठियवद् दिव्य मंगल विग्रहं परस्य महेश्वरस्य मूर्तामूर्त प्रपंच कल्पते अप्यदोषः।

—श्रीकर भाष्य, पृ० ३०।

[2] तस्मादभिन्न निमित्तोपादान-कारणत्वं न [illegible] एक कारणत्वम्।

—श्रीकर भाष्य, पृ० ३०।

उपनिषदों में जीव ईश्वर के समान ही नित्य कहे गए हैं। शास्त्र प्राय संसार का वर्णन ईश्वर के एक भाग के रूप में करते हैं। सृष्टि से पूर्व जब ईश्वर की शक्तियाँ सकुचित रूप में होती हैं केवल तब ही ईश्वर निर्गुण कहला सकता है।[1] ऐसे अनेक उपनिषदीय गद्यांश हैं जो ईश्वर की अवस्था को सृष्टि के कार्य में सलग्नता के रूप में वर्णित करते हैं, तथा इसके फलस्वरूप उसकी शक्तियाँ अभिव्यक्त होती प्रतीत होती हैं। यह सत्य है कि अनेक शास्त्रों में माया संसार के उपादान कारण के रूप में तथा ईश्वर निमित्त कारण के रूप में वर्णित है। इसका यथेष्ट स्पष्टीकरण हो जाता है यदि हम माया को ईश्वर का एक भाग मान लें। जिस प्रकार एक मकड़ी स्वयं में से पूर्ण जाला बुन लेती है उसी प्रकार ईश्वर स्वयं में से सम्पूर्ण संसार की सृष्टि करता है। इस कारण यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भौतिक संसार तथा शुद्ध चैतन्य का एक ही कारण है। इस विषय में, शंकर के इस सिद्धांत का कि संसार भ्रम अथवा अध्यास है, खंडन करने का श्रीपति कठोर प्रयत्न करते हैं। यदि हम भ्रम के सिद्धांत के विरोध में माधव तथा उसके अनुयायियों के उन तर्कों का स्मरण करें जिनकी व्याख्या प्रस्तुत रचना के चतुर्थ अध्याय में की गई है, तो श्रीपति की आलोचनाएँ किसी न किसी रूप में, उनमें अन्तर्भूत हो जाएगी। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि शंकर के विचारों पर रामानुज, निम्बार्क तथा माधव ने आपत्ति की थी।

श्रीपति कहते हैं कि संसार के तथाकथित मिथ्या रूप की व्याख्या न तो अनिर्वाच्य कहकर और न विरोधात्मक कहकर की जा सकती है क्योंकि तब वह वेदों पर भी प्रयुक्त होगा। विरोधात्मक शब्द अनेक रूप संसार के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि यह अस्तित्वगत है हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, तथा हमारे कार्यों के लिए अवसर प्रदान करता है। जहाँ तक हम समझते हैं यह अनादि है। अत यह नहीं कहा जा सकता कि, किसी भविष्य काल में अथवा वर्तमान समय में, संसार को मिथ्या सिद्ध किया जा सकेगा। प्राय यह कहा गया है कि मिथ्या का अर्थ बिना किसी यथार्थता के किसी वस्तु का आभास है, जिस प्रकार मृग जल है जो जल के समान आभासित होता है परन्तु जल के प्रयोजन की पूर्ति नहीं करता। परन्तु संसार केवल आभासित ही नहीं होता वरन यह हमारे समस्त उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है। पुराणों तथा अन्य शास्त्रों के वे समस्त वचन जिनमें संसार को माया कहा गया है केवल विभ्रमात्मक कथन हैं। अत केवल ईश्वर ही संसार का निमित्त तथा आधारभूत कारण है तथा संसार अपने आप में मिथ्या नहीं है जैसाकि शंकर के अनुयाई मानते हैं।

इसी प्रकार यह कल्पना भी अमान्य है कि ईश्वर अथवा जीव एक ऐसी सत्ता का

---

[1] शक्ति-सकोचतया सृष्टे प्राक
परमेश्वरस्य निर्गुणत्वात्। —तत्रैव, पृ० ३१।

प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अविद्या अथवा माया द्वारा प्रतिबिम्बित ब्रह्मन् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। तथाकथित परावर्तनकर्त्ता माध्यम उपाधिरूप अथवा स्वाभाविक हो सकता है। ऐसी उपाधि माया अविद्या अथवा अंतःकरण हो सकता है। यह उपाधि स्थूल नहीं हो सकती है क्योंकि उस स्थिति मे दूसरे लोक म पुनर्जन्म सम्भव नहीं होगा। प्रतिबिम्ब का विचार भी अमान्य है क्योंकि ब्रह्मन वर्णरहित है इस कारण इसका प्रतिबिम्ब ईश्वर बन गया ऐसा नहीं माना जा सकता। जो निराकार है वह प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता। पुनः यदि ईश्वर अथवा जीव को माया अथवा अविद्या मे एकमात्र प्रतिबिम्ब माने, तब माया अथवा अविद्या के विनाश का अर्थ ईश्वर तथा जीव का भी नष्ट होना होगा। इसी प्रकार श्रीपति उस अवच्छेदवाद का खंडन करने का प्रयत्न करते हैं, जिसके अनुसार बुद्धि से विशिष्ट या वस्तुगत रूप से अवच्छिन्न शुद्ध चित् ही जीव है क्योंकि उस स्थिति म किसी भी प्रकार की चेतना द्वारा अवच्छिन्नता जो हम समस्त भौतिक पदार्थों म पाते हैं, उन्हें जीवों की स्थिति म समझे जाने के योग्य कर देती है।

सृष्टि व संहार आदि के गुण ब्रह्मन् के नहीं अपितु संसार के हैं। तब फिर संसार की सृष्टि व संहार को जिनका उदगम ईश्वर है, ब्रह्मन का स्वरूप लक्षण किस प्रकार कहा जा सकता है? उत्तर है कि इसे एक स्वरूप लक्षण नहीं माना जा सकता, परन्तु इसे केवल संसार के उदगम होने का लक्षण मानना चाहिए जिससे यदि कोई संसार न भी हो, तब भी उससे ईश्वर के अस्तित्व की यथार्थता पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। प्रस्तुत परिभाषा (१ १ २) को स्वरूप लक्षण नहीं अपितु तटस्थ-लक्षण कहने का यही अर्थ है। केवल शिव संसार का स्रष्टा है, संसार का उसमे पालन होता है तथा संसार उसमे पुनः लय हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र १ १ ३ पर टीका करते हुए श्रीपति परम्परागत धारा का अनुसरण करते हैं परन्तु यह मानते है कि वेद ईश्वर अर्थात् शिव द्वारा रचित थे, तथा वेदों के समस्त मूल ग्रंथो का निश्चित उद्देश्य शिव का यशकीर्तन है। निःसन्देह यह मीमांसा के इस विचार के विरुद्ध है कि वेद अनंत तथा अपौरुषेय हैं परन्तु यह शंकर की इस व्याख्या से सहमत हैं कि वेदों की रचना ईश्वर न की थी। शंकर की प्रणाली म ईश्वर माया द्वारा ब्रह्मन के प्रतिबिम्ब से निर्मित केवल एक परम भ्रम है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि श्रीपति इस विचार को सर्वथा भ्रान्तिमूलक मानते हैं। उनके लिए ईश्वर अथवा महेश्वर का अर्थ परम ईश्वर है। आगे श्रीपति कहते हैं कि ब्रह्मन के स्वरूप का बोध केवल वाद विवाद अथवा तर्क द्वारा नहीं हो सकता वरन उसका ज्ञान केवल वेदों के प्रामाण तथा साक्ष्य द्वारा ही हो सकता है। वह आगे कहते है कि शिव द्वारा पुराणों की रचना वेदों से पूर्व ही हुई थी तथा समस्त पुराणों म से शिव महापुराण सबसे अधिक प्रमाणिक है। अन्य पुराण जो विष्णु अथवा नारायण का यशोगान करते हैं, निम्न स्तर के हैं।

ब्रह्मसूत्र १ १ ४ पर टीका करते हुए श्रीपति कहते हैं कि मीमांसा का मत है कि ब्रह्मन् के स्वरूप की उपनिषदीय व्याख्या मनुष्यों को किसी प्रकार के चिंतन के लिए प्रेरित करने के ग्रंथ में नहीं करनी चाहिए। वे केवल ब्रह्मन् के स्वरूप का वर्णन करती हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य ब्रह्मज्ञान है। श्रीपति की यह व्याख्या शंकर के विचार के लगभग समान ही है। वे आगे कहते हैं कि ब्रह्मन के स्वरूप का ज्ञान केवल उपनिषदों द्वारा ही हो सकता है। किसी भी प्रकार का अनुमान अथवा सामान्य स्वीकृति इस तथ्य को सिद्ध नहीं कर सकती कि ईश्वर एक है जो संसार का स्रष्टा है। मानव जाति द्वारा निर्मित सभी वस्तुओं के जैसे, मंदिर, महल अथवा पत्थर के गृह, निर्माण में अनेक व्यक्तियों का सहयोग होता है। अत हम इस तथ्य से यह तर्क नहीं कर सकते कि क्योंकि कुछ वस्तुओं का निर्माण हुआ है अत एक स्रष्टा है जो उनकी सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। यह न्याय विचार तथा अनेक शैवागमों के इस विचार का खंडन है कि ईश्वर का अस्तित्व अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

वह आगे कहते हैं कि ब्रह्मन् में वह शक्ति है जिससे वह स्वयं को अभिव्यक्त करता है, तथा जिसमें अनेकता, भेद अथवा ऐक्य हैं। हम बल अथवा शक्ति को शक्तिमान से पृथक् नहीं कर सकते। इस प्रकार ब्रह्मन् को शक्ति तथा समस्त शक्तियों का भंडार, दोनों माना जा सकता है। जब तक तत्व नहीं होगा तब तक कोई शक्ति नहीं हो सकती। अत ब्रह्मन तत्व तथा शक्ति दोनों रूपों में स्थित है।[1] यह नहीं कहा जा सकता कि केवल ज्ञान हमें कर्म के लिए प्रेरित नहीं कर सकता, क्योंकि जब कोई अपने पुत्र अथवा सम्बन्धी के विषय में शुभ अथवा अशुभ समाचार सुनता है तब वह कर्म के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार ब्रह्मन का शुद्ध ज्ञान भी हमें उसके चिंतन के लिए प्रवृत्त कर सकता है अत मीमांसकों का यह तर्क मिथ्या है कि ब्रह्मन के वर्णन में कर्म का विधान आवश्यक है एवं एक अस्तित्वगत सत्ता के केवल वर्णन का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है।

श्रीपति मीमांसा के इस तर्क का खंडन करने के लिए भी विशेष प्रयत्न करते हैं कि वेद केवल अस्तित्वगत सत्ता के विषय में कोई जानकारी मात्र नहीं देते क्योंकि उसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है। श्रीपति कहते हैं कि चैतन्य की शुद्ध शक्ति अविद्या द्वारा छिपी हुई है। यह अविद्या भी ब्रह्मन की स्वाभाविक शक्ति है तथा ब्रह्मन के अनुग्रह से यह अविद्या अपने कारण में विलीन हो जाएगी। अत अविद्या का

---

[1] भेदाभेदात्मिका शक्तिर्ब्रह्म निष्ठा सनातनी इति स्मृतौ शक्तेश्चरहित शक्तेरिव ब्रह्मा धिष्ठानत्वोपदेशात्। निरधिष्ठान शक्त्यभावात् च शक्ति-शक्तिमतोर अभेदाच्च तत्कर्तृत्व तदात्मकत्व तस्यैवोपपन्नत्वात्।

—श्रीकर भाष्य, पृ० ४५।

आभासमान द्वैत मिथ्या है तथा ब्रह्मन् के स्वरूप म वणन का यथाथ व्यावहारिक मूल्य है, क्योकि यह हम ऐसा आदेश देता है कि ईश्वर के उस अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। केवल उसके द्वारा ही बधन हटाए जा सकते है। केवल उपनिषदो के अध्ययन द्वारा नही वरन ईश्वर के अनुग्रह तथा अपने गुरु के अनुग्रह द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है।

श्रीपति का कथन है कि नित्य तथा नैमित्तिक कम आवश्यक है केवल काम्य कर्मों को अर्थात् वे कम जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं कामना की पूर्ति के विचार से रहित होना चाहिए। जब मनुष्य वेदात ग्रथो का श्रवण करता है, तथा स्वय को पूण रूप से शिव को समर्पित करता है, केवल तब ही हृदय शुद्ध होता है तथा शिव के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

श्रीपति पुन ससार के मिथ्यात्व सिद्धात के विरोध म अपने आरोप को दोहराते हैं। वे कहते है कि चूकि उपनिषद यह घोषणा करते है कि ससार की समस्त वस्तुएँ ब्रह्मन हैं अत ससार भी ब्रह्मन है तथा मिथ्या नही हो सकता। हमारे सम्मुख ससार मे प्रत्यक्ष किया जाने वाला बधनकारी यह समस्त क्षेत्र तब लुप्त हो जाएगा जब हमे शिव से अपने ऐक्य का ज्ञान हो जाएगा। क्योकि उस स्थिति म विभिन्न वस्तुओ से पूण तथा अनेक के रूप म विद्यमान ससार का आभास लुप्त हो जाएगा क्योंकि जो कुछ हम देखेंगे वह शिव ही होगा। इस प्रकार ब्रह्मन समस्त ससार का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनो है तथा इसमे कही भी कुछ मिथ्यात्व नही है। ससार केवल शून्य अथवा भ्रममात्र नही हो सकता। ससार का एक आधार होना आवश्यक है तथा यदि भ्रम आधार से भिन्न माना जाएगा तो उसम द्वैत दोष हो जाएगा। यदि ससार के तथाकथित अस्तित्वशून्य होन का केवल यही अथ होता कि यह आकाश कमल के समान काल्पनिक है तब ससार के लिए किसी को भी कारण माना जा सकता था।

यह माना जा सकता है कि शकर के अनुयाई ससार को सवथा मिथ्या नही मानते वरन इसकी व्यावहारिक सत्ता मानते हैं (व्यावहारिक मात्र सत्यत्वम)। किन्तु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उसका स्वरूप क्या है, जो केवल व्यावहारिक है क्योकि इस स्थिति मे ब्रह्मन व्यावहारिक से परे होगा तथा कोई भी इसके विषय मे प्रश्न अथवा उत्तर नही करेगा वरन केवल मूक बना रहेगा। यदि ससार के अनेकरूप आभासो के पीछे कोई तत्व न होता तो ससार बिना आधार के एक चित्र की पक्ति मात्र होता। यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि उपनिषद भेदरहित ब्रह्मन का उल्लेख नही कर सकते। यदि कोई ऐसा अनुभव जिसका विरोध हो सके, व्यावहारिक कहलाता है तब यह साधारण भ्रमो पर भी प्रयुक्त होगा जैसे कि मरुस्थल मे जल का आभास, जो प्रातिभासिक कहलाता है। यदि यह माना जाए कि याव-

विरोध ज्ञान होता है तब प्रथम ज्ञान के द्वितीय ज्ञान द्वारा विरोध के समस्त दृष्टांत विरोध के दृष्टांत ही नहीं माने जाएँगे। शंकर के अनुयायी केवल यही उत्तर दे सकते हैं कि अव्यावहारिक ज्ञान के दृष्टांत में मनुष्य को ब्रह्मन की अपरोक्ष अनुभूति के साथ ही साथ संसार के मिथ्या होने का ज्ञान भी उदित होता है। परन्तु ऐसा उत्तर अग्राह्य होगा क्योंकि ब्रह्मन का भेदरहित, के रूप में ज्ञान आवश्यक रूप से उसका भी ज्ञान सम्मिलित करता है, जिससे वह भिन्न है। भेद का विचार भेदराहित्य के विचार का एक भाग है।

न ही व्यावहारिक सत्ता की धारणा का निर्माण इस मान्यता पर हो सकता है कि जिसका विरोध तीन अथवा चार क्रमिक क्षणों में न हो, वह अव्याहत या व्याघातरहित माना जा सकता है क्योंकि यह मान्यता भ्रमात्मक प्रत्यक्षीकरणों पर भी प्रयुक्त हो सकती है। ब्रह्मन् वह है जिसका कभी विरोध नहीं होता तथा यह अव्याघात काल द्वारा सीमित नहीं है।

पुनः यह कभी-कभी माना जाता है कि संसार मिथ्या है क्योंकि यह दृश्य है, परंतु यदि ऐसा होता तब ब्रह्मन् का या तो दृश्य अथवा अदृश्य होना आवश्यक होगा। प्रथम स्थिति में वह मिथ्या हो जाता है द्वितीय स्थिति में इसके विषय में तर्क अथवा प्रश्न नहीं किए जा सकते। इस प्रकार श्रीपति शंकर के संसार के मिथ्या होने के सिद्धांत के विरुद्ध अपनी समालोचना लगभग उसी प्रकार की करते हैं जैसी व्यासतीर्थ ने अपने न्यायामृत में की थी। अतः उनका यहाँ दोहराना निरर्थक होगा क्योंकि उनका विवरण प्रस्तुत रचना के चतुर्थ भाग में पहले ही किया जा चुका है। श्रीपति इस विचार की, कि ब्रह्मन भेदरहित है उसी प्रकार की आलोचना करते हैं जैसे कि रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य की भूमिका में की है तथा जिनकी यथेष्ठ विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत रचना के तृतीय भाग में की जा चुकी है।

यह घोषणा करना कि ब्रह्मन् भेदरहित है तथा तब उसकी विशेषताओं के वर्णन का प्रयत्न करना उदाहरणार्थ यह कहना कि संसार उससे उत्पन्न होता है तथा अंत में उसमें विलीन हो जाता है, निरर्थक होगा। विरोधियों के अनुसार जो कुछ अस्तित्व गत माना जाता है वह मिथ्या होगा जो इस मान्यता में अन्ततः अग्राह्य है। यदि ऐसा संसार मिथ्या है तब इसको कोई व्यावहारिक मूल्य देना निरर्थक होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि ब्रह्मन ज्ञान है अथवा ज्ञान का अभाव? प्रथम स्थिति में विपक्षी के लिए इस ज्ञान के विषय व स्वरूप का, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, [illegible] होगा। दूसरा प्रश्न है कि विपक्षी इस बात को मानने को तैयार है अथवा नहीं कि मिथ्या पदार्थों (जगदाभास) तथा ब्रह्मन् के मध्य का अंतर यथार्थ है। यदि अन्तर यथार्थ है तब अद्वैत सिद्धांत असफल हो जाता है। यह विधान करने से बचने का मार्ग नहीं

निकलता कि भेद तथा तादात्म्य दोनो के विचार मिथ्या हैं क्योंकि अन्य कोई विकल्प नही है। इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्मन् ज्ञान स्वरूप होता तब हम ऐसे ज्ञान के विषय को ज्ञात कर सकने योग्य होते। तब यह भेदरहित ब्रह्मन् के विचार का विरोधी हो जाएगा। बिना किसी विषय के ज्ञान नही हो सकता, यदि ज्ञान का विषय हो तब वह उतना ही बाह्य होगा जितना स्वय ब्रह्मन है जिसका अर्थ है कि हमारे समक्ष आभासात्मक नानारूप ससार उतना ही बाह्य है जितना ब्रह्म है। निश्चित विषय के अतिरिक्त कोई ज्ञान नही हो सकता। इसके अतिरिक्त यदि जगदाभास का व्यावहारिक मूल्य माना जाए तब उसके मूल मे किसी वास्तविक मूल्य का होना भी आवश्यक है, जो अनेक रूप ससार के आभास का आधार होगा। ऐसी स्थिति मे वह आधारसत्ता ब्रह्मन् के अलावा एक अन्य सत्ता होगी तथा उसके एकमात्र सत्ता को चुनौती देगी। इस प्रकार श्रीपति शकर की इस व्याख्या का खडन करते हैं कि ब्रह्मन भेदरहित है तथा जगदाभास मिथ्या है। वह यह भी कहते हैं कि मानव जाति ईश्वर की सत्ता से निम्न है तथा वह भक्ति द्वारा उसके अनुग्रह से उसकी एक झलक देख सकते हैं।

श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीरशैव दर्शन का मुख्य विचार यह है कि ईश्वर अपनी शक्तियो से अविभाज्य है जिस प्रकार सूर्य का अपनी किरणो से भेद नही किया जा सकता। प्रारभिक अवस्था मे जब कोई ससार नही था तब केवल ईश्वर ही था तथा चित अचित्मय नाना रूप ससार उससे सर्वथा अभिन्न उसमे सूक्ष्म रूप मे था। तत्पश्चात्, जब सृष्टि के सकल्प ने उसको गतिमान किया तब उसने जीवित प्राणियो को पृथक करके उन्हे भिन्न गुणयुक्त बनाया तथा उनको भिन्न प्रकार के कर्मों से सयोजित किया। उसने विविध रूपो में भौतिक ससार की भी अभिव्यक्ति की। अनेक दर्शनो मे भौतिक ससार एक सदेहयुक्त सत्ता है। शकर के अनुसार जगदाभास मिथ्या है तथा उसका केवल व्यावहारिक मूल्य है। वास्तव मे इसका अस्तित्व नही, वरन उसके अस्तित्व का केवल आभास होता है। रामानुज के अनुसार ससार अविभाज्य रूप से ईश्वर से सबधित है तथा पूर्ण रूप से उस पर निर्भर है। श्रीकठ के अनुसार ससार की सृष्टि ईश्वर की शक्ति द्वारा हुई है तथा उस अर्थ मे ससार उसकी एक उपज है, परन्तु श्रीपति कुछ उपनिषदो का उल्लेख करते हैं जिनमे यह कहा गया है कि ब्रह्मन चित् व अचित दोनो हैं। इस प्रकार श्रीपति यह मानते हैं कि जो कुछ ससार मे हम देखते हैं वह सत्य है तथा उसका आधार शिव अथवा ईश्वर है। अपनी शक्ति द्वारा ही वह ससार को इतने अधिक रूपो मे प्रकट करवाता है। वे शक्तिमान तथा शक्ति के मध्य विभेद के विचार की निन्दा करते हैं। अत यदि ससार ईश्वर की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है तब कोई ऐसे प्रतिबधक नही जो इसको स्वय शिव के स्वरूप का माने जाने से प्रतिबधित करता हो। श्रीपति कहते हैं कि मोक्ष तब ही प्राप्त हो सकता है जब ईश्वर की पूजा उसके दो प्रकार के भौतिक तथा आध्यात्मिक रूपो मे की

जाए। इसके कारण उन्हें लिंग नामक ईश्वर के अनिवार्य अधिकार चिह्न को उपस्थित करना पड़ा। माधव तथा उनके अनुयायियों द्वारा माने हुए मोक्ष की विभिन्न कोटियों के विचार का भी श्रीपति समर्थन करते हैं।

किन्तु यह ध्यान देना होगा कि यद्यपि ईश्वर स्वयं को नाना रूप संसार में रूपांतरित करता है तथापि वह सृष्टि में अपने आपको पूरी तरह नहीं खपा देता वरन् उसका अधिक भाग उससे परे रहता है अनुभवातीत है। इस प्रकार एक पक्ष में संसार के तथ्य की रचना करता हुआ ईश्वर अंतर्व्याप्त है तथा दूसरे पक्ष में वह अनुभवातीत है एवं इस संसार की सीमा से बहुत परे है। तथाकथित माया ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है तथा स्वयं ईश्वर शुद्ध चित् तथा संकल्प का तादात्म्य स्वरूप अथवा कर्म व बल की शक्ति है।

यद्यपि प्रारम्भ में समस्त जीव विशेष प्रकार के कर्मों से संयोजित थे तथापि जब उन्हें भौतिक संसार में जन्म मिला एवं उनसे कर्त्तव्य तथा कर्म करने की आशा की गई तब उन्हें सुख व दुःख का अनुभव उनके कर्मों के अनुसार करना पड़ा। ईश्वर न तो पक्षपाती है और न निर्दयी है, वरन् घूमते हुए चक्रों में मनुष्य को, उनके कर्मों के अनुसार सुख व दुःख प्रदान करता है, यद्यपि कर्म से संयोजन का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व ईश्वर पर है। श्रीपति का विचार है कि इसमें वह ईश्वर की 'सर्वशक्तिमत्ता' तथा जीव के कर्मानुसार फलों के वितरण के मध्य की खाई को भर सके हैं, जिससे स्वीकृत कर्म सिद्धांत की भी पुष्टि हो जाती है तथा उसका ईश्वर की सर्वतन्त्र स्वतंत्र सर्व शक्तिमत्ता से भी सामंजस्य हो जाता है। वह यह नहीं देख पाते कि इससे पूरा समाधान नहीं होता क्योंकि प्रारम्भिक संयोजन के समय जीव कि भिन्न प्रकार के विविध कर्मों से संयोजित किए गए थे तथा इस प्रकार वे असमान अवस्था में रखे गए थे।

श्रीपति की स्थिति सर्वेश्वरवादी तथा प्रत्ययवादी रूप से यथार्थवादी है। ऐसी स्थिति में, स्वाप्निक अनुभवों की अवस्था भ्रम मात्र नहीं हो सकती। शंकर ने तर्क किया था कि जीवन के अनुभव स्वप्नों के अनुभवों के समान भ्रमात्मक हैं। इसके उत्तर में श्रीपति इस विचार को महत्व देने का प्रयत्न करते हैं कि स्वप्न अनुभव भी भ्रमात्मक नहीं वरन् यथार्थ है। वास्तव में यह सत्य है कि वे शक्ति के संकल्प के प्रयत्न से उत्पन्न नहीं हो सकते। परन्तु फिर भी श्रीपति का विचार है कि उनकी सृष्टि ईश्वर द्वारा हुई है तथा इसका पुनः समर्थन इस तथ्य द्वारा हुआ है कि स्वप्न जीवन के पदार्थों से पूर्ण रूप से असंबंधित हों सो बात नहीं है क्योंकि हमें ज्ञात है कि वे प्रायः वास्तविक जीवन की शुभ व अशुभ वस्तुओं को इंगित करते हैं। इससे यह प्रदर्शित होता है कि किसी प्रकार स्वप्न हमारे जाग्रत अनुभवों के वास्तविक जीवन से परस्पर संबंधित हैं। पुनः यह तथ्य शंकर के इस तर्क का भी खंडन कर देता है कि जागृत जीवन के अनुभव उतने ही भ्रमात्मक हैं जितने स्वप्नों के अनुभव हैं।

सुषुप्ति के विषय में श्रीपति का कथन है कि उस अवस्था में तमस के गुण से घिरी हमारी बुद्धि हृदय के भीतर नाडियो के जाल मे प्रवेश करती है, विशेषकर 'पुरीतत्' मे रहती है, तथा यह अवस्था भी ईश्वर के संकल्प द्वारा उत्पन्न होती है, जिससे जब ईश्वर के संकल्प द्वारा व्यक्ति जाग्रत अवस्था मे वापस आए तब यह तमोगुण हटा दिया जाता है। यह सुषुप्ति की उस अवस्था को स्पष्ट करता है जो अंतिम मोक्ष की अवस्था से भिन्न है जब मनुष्य ईश्वर से एक लय हो जाता है तथा प्रकृति के तीन प्रकार के समस्त संयोजना से मुक्त हो जाता है। तब वह अंत में शिव की अनुभवातीत सत्ता में प्रवेश करता है तथा किसी जाग्रत चेतना में वापस नही आता। अत यह ध्यान देना आवश्यक है कि श्रीपति के अनुसार स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था दोनो को ईश्वर उत्पन्न करता है। इस प्रकार श्रीपति का सुषुप्ति के विषय मे वर्णन शंकर के वर्णन से सर्वथा भिन्न है जिसके अनुसार सुषुप्ति के समय जीव ब्रह्म-चेतना में रहता है।

श्रीपति अपने इस कथन का समर्थन इस प्रकार करते है कि सुषुप्ति में हम अपनी समस्त मानसिक क्रियाओ के साथ हृदय की नाडियो के जाल मे चले जाते हैं तथा ब्रह्मन् मे विलीन नही होते जैसा शंकर हमसे विश्वास करवाना चाहते हैं। इस कारण जब हम दूसरे दिन जाग्रत होते है तब हम निद्रा से पूर्व जीवन के अनुभवो का अपनी स्मृति मे पुनरावर्तन करते हैं। प्रत्येक रात्रि में सुषुप्ति द्वारा विराम देते हुए भी यह हमारी चेतना की निरंतरता स्पष्ट करता है। अन्यथा यदि हम किसी भी समय ब्रह्मन में विलीन हो गए होते, तब हमारे लिए अपने समस्त कर्त्तव्यो तथा उत्तरदायित्वो का स्मरण रखना सम्भव न होता मानो न कोई सुषुप्ति थी तथा न हमारी चेतना मे कोई व्यवधान था।

मूर्च्छा तथा मृत्यु के अंतर के स्वरूप का विवेचन करते हुए श्रीपति कहते हैं कि मूर्च्छा की अचेतना अवस्था मे, जहाँ तक इसके विभिन्न कार्यों का सम्बन्ध है बुद्धि आंशिक रूप में क्रिया शक्तिहीन हो जाती है। परन्तु मृत्यु में बुद्धि, पूर्ण रूप से बाह्य संसार से पृथक हो जाती है। भागवत पुराण में दी हुई अत्यंत विस्मृति (मृत्युरत्यंत विस्मृति) के रूप मे मृत्यु की परिभाषा स्मरण रखना उचित होगा।

शंकर के अनुसार ब्रह्मन निराकार है। ऐसा विचार श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीर शैवमत की स्थिति के उपयुक्त नही है। अत वह यह प्रश्न करते हैं कि, क्या निराकार शिव, अनेक शिवलिंगो में प्राप्त साकार शिव ही है? तथा इसके उत्तर मे श्रीपति इस तथ्य को प्रमुखता देते है कि शिव का अस्तित्व, निराकार रूप में तथा साकार रूप में, दो अवस्थाओ में है। यह भक्त का कर्त्तव्य है कि वह शिव के समस्त आकारो तथा निराकार पक्षो का एक अभिन्न सत्ता के रूप मे साक्षात्कार करे। भक्त उसी प्रकार स्वयं को शिव मे विलीन कर लेता है जिस प्रकार सरिताएँ सागर में विलीन

हो जाती हैं। जीव किसी भी अर्थ में अभासमब सत्ता नहीं है न ही वह नित्य तथा निराकार एक सत्ता का एक सीमित तथा प्रकट रूप है जैसाकि शंकर के अनुयायी मानने का प्रयत्न करते हैं। जीव यथार्थ है तथा अपने साकार व निराकार दोनों पक्षों में ब्रह्मन् यथार्थ है। जिस प्रकार सागर में सरिताएँ विलीन होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान तथा भक्ति द्वारा जीव उस ईश्वरीय सत्ता में विलीन हो जाता है, जो निराकार भी है, तथा अनेक प्रकार के आकारों से युक्त भी है।

वास्तव में वीर शैवमत ब्रह्म-सूत्र की भेदाभेद व्याख्या का एक प्रकार है। प्रस्तुत ग्रंथ के अन्य भागों में हमने रामानुज तथा भास्कर द्वारा भिन्न दृष्टिकोणों से की गई भेदाभेद की व्याख्या का विवरण किया है। भेदाभेद व्याख्या में रामानुज, संसार तथा आत्माओं को संघटित रूप से उस ईश्वर पर निर्भर मानते हैं, जो हमारे अनुभव के संसार से परे हैं। भास्कर के अनुसार सत्ता सागर के समान है अनुभवों का संसार उसकी उसी तरह सम भाग है, जिस प्रकार लहरें सागर का भाग हैं। न तो वे उससे सर्वथा अभिन्न हैं और न उससे भिन्न हैं। वीर-शैवमत भी भेदाभेद व्याख्या का एक प्रकार है तथा वह अनुभवों के संसार एवं अनुभवातीत सत्ता को सर्वथा सत्य मानता है। कभी कभी श्रीपति कुंडली में बैठे सर्प का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं जिसमें एक अवस्था में वह गठरी के समान रहता है तथा दूसरी अवस्था में एक लम्बी मोटी रस्सी के रूप में प्रतीत होता है। अत एक दृष्टिकोण से संसार ईश्वर से भिन्न है तथा दूसरे दृष्टि-कोण से ईश्वर से एक है। इस उदाहरण का प्रयोग वल्लभ ने भी ईश्वर तथा जगत के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए किया है। ज्ञान तथा भक्ति द्वारा जीव अपने को समस्त अशुद्धियों से मुक्त कर सकते हैं तथा ईश्वर के अनुग्रह द्वारा अंत में अनुभवातीत सत्ता में वापस जाकर उसमें विलीन हो सकते हैं। अत जो वस्तुएँ भिन्न प्रतीत होती थी अंत में वे अपने को ब्रह्मन से एक सिद्ध कर सकती है।

श्रीपति इंगित करते हैं कि वर्ण धर्मों तथा वैदिक क्रियाओं के उचित सम्पादन द्वारा, बुद्धि शुद्ध हो सकती है, जिससे मनुष्य शिव पर योग ध्यान लगाने तथा उसे अपनी अगाध भक्ति समर्पित करने के योग्य हो सकता है तथा इस प्रकार अंत में ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है केवल यही मोक्ष का मार्ग है।

ब्रह्मसूत्र के विभिन्न टीकाकारों में इस विषय पर एक दीर्घ वाद विवाद रहा है कि क्या वैदिक धर्म, वर्ण धर्म तथा नैमित्तिक धर्म मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाले सत्य-ज्ञान का आवश्यक मार्ग है। कुछ ऐसे हैं जो सत्य ज्ञान के अधिग्रह के लिए वैदिक धर्मों को अनिवार्य साधन तत्वों के रूप में मानते हैं तथा उनकी प्राप्ति की आवश्यकता को प्रमुखता देते हैं। शंकर तथा उनके अनुयायियों के समान अन्य टीकाकार सत्यज्ञान की उपलब्धि के लिए वैदिक धर्मों की उपयोगिता को पूर्णतया अस्वीकार करते हैं। श्रीपति ने भक्ति तथा विचार द्वारा प्राप्तव्य उच्चतम ज्ञात के अधिगम के योग्य बनाने के लिए बुद्धि की शुद्धि में महत्वपूर्ण साधन के रूप में सदैव वैदिक धर्मों को प्रमुखता दी

है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि वर्तमान लिंगायतों की विचार धारा पूर्ण रूप से किसी बाहरी सामाजिक समुदाय का विचार है तथा इस वर्ण के विरुद्ध प्रवृत्ति का समर्थन कुछ ग्रंथकारों ने कुछ वीरशैव ग्रंथों का गलत निर्वचन करके उनसे करवाने का प्रयत्न भी किया है।[1] परन्तु ब्रह्म सूत्र ३ ४ प्रथम प्रकरण, पर टीका करते हुए श्रीपति ईश्वर के ज्ञान तथा उसके प्रति भक्ति को दो स्वतन्त्र मोक्ष मार्गों के रूप में समान महत्त्व देते हैं यद्यपि वे इस विचार का अस्वीकार नहीं करते कि जब मनुष्य अपने समस्त फलों को ईश्वर को समर्पित करके वैदिक धर्मों का सम्पादन करता है तब वैदिक धर्मों का बुद्धि को स्वच्छ तथा शुद्ध करने में सहायक प्रभाव हो सकता है। किन्तु श्रीपति किसी ऐसे गृहस्थ के कर्म को दोषपूर्ण मानते हैं जो केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छा के कारण वैदिक धर्मों को छोड़ देता है।

ब्रह्मसूत्र ३ ४ २ पर टीका करते हुए श्रीपति अनेक धर्म ग्रंथों को यह प्रदर्शित करने के लिए उद्धृत करते हैं कि जीवन की अंतिम अवस्था में भी वैदिक धर्म अनिवार्य है, जिससे कि जीवन की किसी भी अवस्था में यह धर्म ऐच्छिक न मान लिए जाएं। इस सम्बन्ध में वे प्रसंगवश लिंगधारण की आवश्यकता भी प्रतिपादित करते हैं। यद्यपि वैदिक धर्म सामान्यतया सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के साधन माने जाते हैं तथापि वे उस गृहस्थ के लिए अनिवार्य नहीं हैं जो नित्य तथा नैमित्तिक धर्मों का सम्पादन करता रहता है और उनके साथ अपने चिंतन तथा भक्ति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार भी करता है।

आवश्यक सद्‌गुण जैसे शम (आंतरिक नियन्त्रण) दम (बाह्य नियन्त्रण) तितिक्षा (सहनशीलता) उपरति (समस्त सांसारिक सुखों का अन्त), मुमुक्षत्व (मोक्ष के लिए तीव्र कामना) आदि सबके लिए अति आवश्यक है तथा इस प्रकार जिन गृहस्थों में ये गुण हैं वे ईश्वर के साक्षात्कार की ओर अग्रसर होने की आशा कर सकते हैं। खतरे के समय जीवन की रक्षा के लिए समस्त आदेश व कर्त्तव्य स्थगित किए जा सकते हैं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए बुद्धि को एकाग्र करने की क्रिया सहित विभिन्न सद्‌गुणों की आवश्यकता पर उपनिषदों ने भी बल दिया है। श्रीपति इंगित करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को इन गुणों के अनुसरण का तथा ब्रह्म विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। इसका सर्वोत्तम उपाय पाशुपत योग के धर्म को स्वीकार कर लेना ही है।

शिव योगी के धर्म के अन्तर्गत निम्नलिखित हैं वासनाओं की निवृत्ति वासनाओं का आंतरिक व बाह्य नियन्त्रण, अहंकार अभिमान समस्त व्यक्तियों से राग तथा बैर का अन्त। उन वेदांती ग्रंथों के श्रवण चिन्तन योग प्रक्रिया तथा इससे सम्बन्धित (जैसे ध्यान, धारणा आदि के विषय में) विचार करने में एवं शिव के प्रति अगाध भक्ति में

---

[1] देखिए प्रोफेसर साखरे की 'लिंगधारण चन्द्रिका' (भूमिका पृ० ६६६) तथा 'वीर शैवानन्द चन्द्रिका (वाक्याय अध्याय २४ पृ० ६४२)।

अपने को सलग्न रखना चाहिए। परन्तु यदि उसकी बुद्धि ने इन गुणों को प्राप्त कर भी लिया हो, तब भी उसे इन परम गुणों म से किसी को भी प्रकट अथवा प्रदर्शित नही करना चाहिए। उसे एक शिशु के समान व्यवहार करना चाहिए जो शिव से पूर्णतया एक हो गए हैं उन्ह वेदान्ती ग्रथा के श्रवण म समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। ये केवल उन्ही क लिए निर्धारित हैं जो पारगत नहीं हो पाए हैं। जब एक मनुष्य इतना ऊपर उठ जाता है कि उसे वर्णाश्रम धम का पालन करने अथवा समाधि मे प्रवेश करने की भी आवश्यकता नही रहती तब वह जीवनमुक्त कहलाता है। वह ऐसे मनुष्य के सकल्प पर निभर है कि वह अपने शरीर के साथ जीवन मुक्तावस्था मे प्रवेश करे अथवा शरीर रहित होकर। जब मनुष्य की बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब वह भक्ति द्वारा शिव की अनुभूति म साक्षात्कार अत प्रज्ञा से प्राप्त कर सकता है। यथार्थ ज्ञानी इस जीवन म भी मुक्त हो सकता है। शाकर वेदान्त के विपरीत, श्रीपति ज्ञान के साथ भक्ति की आवश्यकता भी प्रतिपादित करते हैं। वे मानते हैं कि ज्ञान के उदय होने के साथ कर्मों के समस्त बन्धन नष्ट हो जाएगे तथा मनुष्य फिर किसी कर्मबन्धन म लिप्त नहीं होगा।
